ऋग्वेद-चयनिका

डॉ० सिद्धनाथ शुक्ल



भारत मनीषा

वाराणसी

१९७४

RGVEDA CAYANIKĀ

Dr. SIDDH NATH SHUKLA

प्रथम संस्करण १९७४

BHARATA MANISHA
Publishers of and Dealers in Oriental Books
Amrumal Katra : D 47/203 Godowlia
VARANASI (INDIA)

Published by Jadab Das Bhattacharya for Bharata Manisha, Varanasi and Printed by Sri Rajesh Sharma at Swastik Mudranalaya, Golghar, Varanasi.

समर्पण

प्रो० रामचन्द्र नारायण दाण्डेकर

को

जिनके शब्द

'Work with greater energy'

मेरे लिए प्रेरणास्रोत है·······

—सिद्धनाथ

प्राक्कथन

भारतीय साहित्य और संस्कृति, धर्म और दर्शन के उद्भव का मूल स्रोत ऋग्वेद माना जाता है। केवल उद्भव ही नही, वरन् विकास की कथा का 'अथ' यदि समझना है तो ऋग्वेद की शरण लेनी ही पड़ेगी। किन्तु शरण लेने के लिए उसका अर्थ समझना आवश्यक है। आज ऋग्वेद के प्रत्येक विद्यार्थी को पाश्चात्त्य विद्वानो की कृतियो का द्वार खटखटाना पड़ता है। कभी-कभी द्वार की अर्गला इतनी कठोर होती है कि कोमल कर मुड़ते-मुड़ते रह जाते है। इस अर्गला की कड़ियाँ कठोर न प्रतीत हो और द्वार खोलने के पूर्व पूर्ण तैयारी हो सके, इस बात को ध्यान मे रख कर इस कृति का प्रणयन प्रारम्भ किया गया। हम केवल पाश्चात्त्य अर्गला को ही न खटखटाते रहे, वरन् प्राच्य के उन्मुक्त द्वार के अन्तर्गत भी प्रविष्ट होकर उसके उजाले-अँधेरे का निरीक्षण करे, उसके अन्तर्गत निहित निधियो को भी उन्मीलित दृष्टि से देखे, देखकर पहचाने और पहचान कर उपयोगी निधि का वरण करे, इस बात को ध्यान मे रख कर ऋग्वेद के महान् भाष्यकार सायण की कृति को उद्धृत करते हुये पाणिनि की अष्टाध्यायी का आवश्यक स्थलो मे उपयोग करने का प्रयास किया गया है।

भारतीय मनीषा का उपयोग करना यदि हमारा धर्म है, तो विषय सम्बन्धी पाश्चात्त्य मनीषियो की कृतियो को समझकर उपयोग मे लाना भी हमारा कर्तव्य है। आज के वेद के विद्यार्थी के लिये ये दोनो एक दूसरे के पूरक है। जहाँ एक ओर व्याकरण, अन्त.साक्ष्य आदि को अर्थ के स्पष्टीकरण मे महत्त्व दिया गया, वहीं पाश्चात्त्य ढंग पर आधारित आधुनिक अनुसन्धानो को भी उपयोग मे लाने का प्रयास किया गया है। विभिन्न व्याख्याकारो मे मन्त्रो के अर्थ पर जो मत-वैभिन्य है उसे पूर्णतया दिखलाना यहाँ सम्भव नही, किन्तु सकेत कर देने मे सकोच-राहित्य से काम लिया गया है। मन्त्रो का अर्थ जहाँ समष्टि रूप मे दुरूह नही प्रतीत होता वही कभी-कभी व्यष्टि रूप मे एक-एक शब्द का अर्थ विद्वानो के मत-वैभिन्य के कारण अत्यन्त कठिन लगता है, इसीलिये शब्द-शब्द की व्याख्या और तत्सम्बन्धी अनुसन्धानो का उपयोग प्राय. सभी मन्त्रो की व्याख्या मे किया गया है। इस प्रयास के कारण जहाँ एक ओर भारतीय सामग्री का

उपयोग हो सका वही दूसरी ओर पाश्चात्त्य विद्वानो के मतो का प्रदर्शन भी सम्भव हो सका ।

ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के मन्त्रो पर सायण का भाष्य बहुत विस्तृत है, अत इस पुस्तक मे कुछ स्थानो पर सायण भाष्य का उपयोग अंशत. किया गया है, क्योंकि शब्दो पर विस्तृत टिप्पणियो के कारण शेष अश अनावश्यक प्रतीत हुआ। पुस्तक भार-बहुल न बनकर अर्थ-संचारी और उपयोगी बन सके, इसी दृष्टिकोण से ऐसा किया गया है।

ऋग्वेद के मन्त्रो का अर्थ समझ लेना ही आवश्यक नही, वरन् ऋग्वेद की सामग्री एवं तत्सम्बन्धी अनेक विषयो का ज्ञान प्राप्त करना भी ध्येय होना चाहिये। ऋग्वेद के अध्ययन की प्रारम्भिक अवस्था मे ही अध्येताओ को अनेक अन्य पुस्तको के पन्ने न पलटने पडे, इस बात को ध्यान मे रखकर भूमिका मे ऋग्वेद-सम्बन्धी अनेक बातो का विवरण प्रस्तुत किया गया है। यह सामग्री स्वयं मे भले ही परिपूर्ण न हो, किन्तु जिज्ञासा तो जगेगी ही, और जिज्ञासा जगाना ही अपना लक्ष्य है।

'श्रुति' परम्परा पर आधारित ज्ञान है। उस ज्ञान की रक्षा के लिये भारतीय ऋषियो—मनीषियो ने अनेक प्रयास किये। यद्यपि उस प्रयास मे 'श्रुति' की कड़ी जोड़ना लेखक के लिये कठिन है, किन्तु ऋग्वेद सम्बन्धी पुस्तको की परम्परा मे यह पुस्तक एक नई शृखला स्थापित कर सकेगी, ऐसी आशा है।

पुस्तक के प्रणयन मे अनेक प्राच्य एवं पाश्चात्त्य मनीषियो की कृतियो का सहारा लेना पड़ा है जिनका मै हृदय से ऋणी हूँ। हस्तलिखित प्रति तैयार करने मे डॉ० महेशदत्त शर्मा, श्री विष्णु प्रसाद भट्ट, और श्री जगत नारायण शुक्ल ने मेरी सहायता को, एतदर्थ उन्हे हार्दिक धन्यवाद। गुरुवर डॉ० चन्द्रभानु त्रिपाठी एवं मित्रवर डॉ० कामेश्वर नाथ मिश्र तथा डॉ० वैद्यनाथ सरस्वती के सुझावो के प्रति आभारी हूँ। मुद्रण एव कागज की अनेक कठिनाइयो के होते हुये भी भारत मनीषा ने इसे शीघ्र प्रकाशित करने का जो भारवहन किया, उसके लिये मै आभारी हूँ।

वाराणसी, —सिद्धनाथ शुक्ल

१ जनवरी, १९७४।

संक्षेप निर्देशिका

अथर्व० = अथर्ववेद
अवे० = अवेस्ता
इ० यू० = इण्डो-यूरोपियन
उणा० सू० = उंणादि सूत्र
उ० पु० = उत्तम पुरुष
उप० = उपसर्ग
ऋ० = ऋग्वेद
ऋ० सं० = ऋग्वेद सहिता
ऋ० भा० = ऋग्वेद भाष्य
ऋग० दी० = ऋगर्थ दीपिका
ऋग्० ट्रा० = ऋग्वेद ट्रासलेशन
ए० व० = एक वचन
ऐ० आ० = ऐतरेय आरण्यक
ऐ० ब्रा० = ऐतरेय ब्राह्मण
ओल्डे० = ओल्डेनबर्ग
गेल्ड० = गेल्डनर
चतु० = चतुर्थी
तृ० = तृतीया
तै० आ० = तैत्तिरीय आरण्यक
तै० ब्रा० = तैत्तिरीय ब्राह्मण
तै० सं० = तैत्तिरीय सहिता
द्वि० = द्वितीया
दुर्ग० = दुर्गाचार्य
द्र० = द्रष्टव्य
धा० = धातु
धा० पा० = धातु पाठ
नपु० = नपुंसक लिङ्ग
नि० = निघण्टु
निरु० = निरुक्त
पञ्च० = पञ्चमी
पा० अ० = पाणिनि अष्टाध्यायी
प्र० = प्रथमा
प्र० पु० = प्रथम पुरुष
पु० = पुल्लिङ्ग
पृ० = पृष्ठ
ब० व० = बहुवचन
ब० व्री० = बहुव्रीहि
मै० स० = मैत्रायणीय सहिता
म० पु० = मध्यम पुरुष
मैक्डॉ० = मैक्डॉनेल
मैक्स म्यू० = मैक्स म्यूलर
यजु० = यजुर्वेद
वा० सं० = वाजसनेयि सहिता
वें० मा० = वेंकट माधव
वे० ग्रा० = वेदिक ग्रामर
वे० री० = वेदिक रीडर
शत० ब्रा० = शतपथ ब्राह्मण
स० = संबोधन
स = सप्तमी
स० सा० इ० = संस्कृत साहित्य का इतिहास
सा० = सायण
सा० भा० = सायण भाष्य
सि० कौ० = सिद्धान्त कौमुदी
सै० बु० = सैक्रेड बुक्स आफ् द ईस्ट
सें० पी० को० = सेट पीटर्सबर्ग कोश
स्कन्द = स्कन्द स्वामिन्
स्त्री० = स्त्रीलिङ्ग

ओ॰ सं॰ टे॰ = ओरिजनल संस्कृत टेक्ट्स—मूइर

ABORI = Annals of Bhandarkar Oriental Research Institute.

Altand. Gram = Altindisches Grammatik.

Der RV. = Der Rigveda.

Ety. Sans. Dict. = Etymological Sanskrit Dictionary.

Gr. Ety. Wort = Griesisch Etymologichen Woerterbuch.

Ind. Ger. Ety. Wort = Indo-germanischen Etymologischen Worterbuch.

JAOS = Journal of American Oriental Society.

pp = Pages.

RV M. II = Rgveda Maṇḍala II

SBE = Sacred Books of the East.

Sans Gram = Sanskrit Grammar

Ved. Gram = Vedic Grammar

Ved. R = Vedic Reader

Wort = Woerterbuch zum Rigveda.

WZKM = Wiener Zeitschrift für die Kunde des Morgenlandes.

ZDMG = Zeitschrift fur Deutschen Morgenlandischen Gesellschaft.

भूमिका

१. ऋग्वेद का काल

विश्ववाङ्मय के अन्तर्गत ऋग्वेद की अतिप्राचीनता एव उसके विकसित साहित्यिक स्वरूप, धर्म, दर्शन आदि पर किसी को सन्देह नही है। साथ ही इस बात पर भी कोई आशका नही व्यक्त कर सकता कि आर्यों के उल्लिखित इतिहास का सूत्रपात्र ऋग्वेद से ही होता है। किन्तु उसके निश्चित कालनिरूपण के सम्बन्ध मे आज भी विद्वानो में आशकाएँ एवं मतभेद वर्तमान है। इसके कालनिरूपण का सैद्धान्तिक रूप मे प्रथम प्रयास मैक्स म्यूलर द्वारा किया गया। समस्त वैदिक वाङ्मय के विकासक्रम को दो-दो सौ वर्षो मे विभक्त कर उन्होने ऋग्वेद का कालनिर्धारण किया। इस कालक्रम को उन्होने छान्दसकाल, मन्त्रकाल, ब्राह्मणकाल और सूत्रकाल के नामो से अभिहित किया। छान्दसकाल का प्रारम्भ और विकास १२०० ई० पू० से १००० ई० पू०, मन्त्रकाल १००० ई० पू० से ८०० ई० पू०, ब्राह्मणकाल ८०० ई० पू० से ६०० ई० पू० और सूत्रकाल ६०० ई० पू० से ४०० ई० पूर्व तक माना गया। छान्दस्काल मे ऋग्वैदिक काव्य का प्रारम्भ हुआ। मै० म्यू० ने अपने संस्कृत साहित्य के इतिहास मे लिखा है कि इस काल का काव्य सौन्दर्ययुक्त, मौलिक और स्वनि सृत है। मानव हृदय से अपने आप स्वानुभूति द्वारा निकला हुआ काव्य इस युग को विशेष देन है।[1] ऋ० का अधिकाश मन्त्रकाल में रचा गया।

मै० म्यू० द्वारा निरूपित इस दो-दो सौ वर्षों मे विभाजित कालनिरूपण की कडी आलोचना की गई। आलोचको मे एच. एच. विल्सन और डब्ल्यू. डी ह्विटनी का नाम प्रमुख है। विल्सन के अनुसार याज्ञिक परम्परा के विस्तृत विवेचन के लिये, ब्राह्मणो के द्वारा आध्यात्मिक अधिकारियो की स्थापना के लिये, जातियो एवं विभिन्न वर्गों के वर्गीकरण अथवा निश्चय के लिए, आरण्यकों एवं उपनिषदो के दार्शनिक विचारो के विकास के लिये दो-दो सौ वर्षों का समय बहुत ही सीमित एवं अपर्यास है। इन सबके पृथक्-पृथक् विकास के लिये कम से कम पाँच-पाँच शताब्दियो का समय कुछ सीमा तक पर्यास माना जा सकता है। इस प्रकार ब्राह्मणकाल का प्रारम्भ ग्यारहवी या

---

१ द्रष्टव्य—सं० सा० का इति०, पृ० ७१।

दशवी ई० पू० से माना जा सकता है। इस तर्क को मै० म्यू० ने भी अन्तत स्वीकार किया कि छान्दसकाल के विकास के लिये दो सौ वर्षो का समय पर्याप्त नही है।[२]

विल्सन ने अपने ऋग्वेद-अनुबाद की भूमिका मे इस बात को स्पष्ट किया कि रामायण, महाभारत और पुराणो में वर्णित घटनाओ और वशानुगत परम्पराओ के भी अपने-अपने आधार रहे होगे, और उन घटनाओ तथा वंश-परम्पराओ के कालक्रम मे एक दीर्घकाल व्यतीत हुआ होगा। घटनाचक्र, सम्पूर्ण भारत मे ब्राह्मणधर्म का विस्तार, राज्य परम्पराओ की उत्पत्ति एवं प्रसार, शक्तिशाली राजवशो की स्थापना आदि अनेक ऐसी बातें है जिनका वर्णन ऋ० सं० मे अप्राप्य है और इनसे स्पष्ट है कि इन सब बातो और सहिता के रचना-काल के मध्य अनेक शताब्दियाँ व्यतीत हुयी होगी। सहिता और महाभारतादि के मध्य का कालान्तर कम से कम एक सहस्र वर्ष रहा होगा।[3]

सन् १८६३ ई० मे 'ऐतरेय ब्राह्मण' का सम्पादन करते समय उसके प्राक्कथन में मार्टिन हाउग ने ब्राह्मण ग्रंथो के रचनाकाल को १४०० ई० पू० से १२०० ई० पू० के मध्य निरूपित किया और कहा कि संहिता और ब्राह्मणो के रचना-काल का अन्तर कम से कम ५००–६०० वर्षों का अवश्य रहा होगा। इस प्रकार उनके मत में ऋ० सं० का उद्भव और विकास २४०० ई० पू० से २००० ई० पू० के मध्य हुआ होगा। तत्पश्चात् ऋ० का सहितीकरण और अन्य संहिताओ का विकास २००० ई० पू० से १४०० ई० पू० के मध्य हुआ होगा।[४]

मै० म्यू० के सिद्धान्त की आलोचना हरमान याकोबी ने भी की। उनका कथन है कि प्राचीन भारत में इस प्रकार के बृहत् साहित्य का पूर्ण विकास, विस्तार और अन्त इतने सीमित समय मे होना असम्भव है। इतने बडे देश मे एक ब्राह्मणग्रथ का भी पूर्ण रूप से प्रचार और कण्ठस्थ किया जाना इतने कम समय में नही हो सकता। इस प्रकार की प्रक्रिया के लिये कम से कम एक सहस्र वर्ष का होना आवश्यक है; क्योकि लौकिक सस्कृत साहित्य भी एक सहस्र वर्षों तक एक रूप मे ही चलता रहा है।[५]

---

२. ऋ० स०, चतुर्थ भा०, प्राक्कथन, पृ० ८–९।

३ ऋ० अनुवाद, भा० १, भूमिका (१८६६), पृ० ४५–४६।

४ M. HAUG, Aitareya Brāhmaṇa of the Rgveda, vol. I, (1863) PP. 47–48

५. Indian Antiquary, "On the Date of the Rigveda" by H.G.

लोकमान्य बालगंगाधर तिलक ने मै० म्यू०, विल्सन और हाउग द्वारा निरूपित क्रमश २०० वर्ष, ५०० वर्ष और १००० वर्ष के सिद्धान्तो की आलोचना करते हुये कहा कि इस प्रकार के काल-विभाजन का कोई आधार नही है जिसके द्वारा हम ऋ० के काल का निश्चय कर सकें, अत हमे कोई अन्य साधन अन्वेषित करने होगे।[६]

भारत मे तिलक और जरमनी मे याकोबी ने ज्योतिष के आधार पर ऋ० के काल-निर्धारण का प्रयत्न लगभग एक ही समय मे किया। सन् १८९३ ई० मे तिलक ने और सन् १८९४ ई० मे याकोबी ने इस सम्बन्ध मे अपने विचार प्रकाशित किये।

तिलक का मत

तिलक ने ज्योतिष के आधार पर ५००० ई० पू० से ३००० ई० पू० के समय को 'मृगशिरस्' काल (Orion Period) कहा है।[७] उनका कथन है कि तै० स० और ब्राह्मणो मे नक्षत्रो का प्रारम्भ कृत्तिका से होता है जिससे स्पष्ट है कि उस समय वसन्त समाहर्निश कृत्तिका मे होता था। यह काल लगभग २५०० ई० पू० के पडता है। किन्तु वैदिक साहित्य मे ऐसे भी उल्लेख है जब वर्ष का प्रारम्भ मृगशिरस् से होता था। ऋ० के अनेक मत्रो मे, जो निश्चय ही तै० स० से प्राचीन है, इस बात का उल्लेख प्राप्त है और यह काल लगभग ४५०० ई० पू० के होना चाहिये। साथ ही ऐसे भी उल्लेख है जब अदिति द्वारा अग्रणी पुनर्वसू नक्षत्र से वर्ष का प्रारम्भ होता था, जो बात ६००० ई० पू० के लगभग सम्भव थी। इससे स्पष्ट है कि ६००० ई० पू० मे आर्य लोग मध्य एशिया में स्थापित हो चुके थे। उस समय इन्हे वैदिक देवताओ का पूर्ण ज्ञान था। इस प्रकार ऋ० का रचना काल ६००० ई० पू० से ५००० ई० पू० के लगभग माना जा सकता है।

याकोबी का मत

तिलक के समान याकोबी ने भी ज्योतिष के आधार पर ऋ० के काल-निरूपण का प्रयास किया। सन् १८९४ ई० मे Indian Antiquary में उनका

Jacobi (J Morison द्वारा अनूदित), June 1894, vol. 23, PP. 154-159.

६. Orion, Poona 1893, PP. 2-4.

७. The Arctic Home in the Vedas, Second Ed. P.390, Poona 1956

मत विस्तृत रूप मे प्रकाशित हुआ। उनके अनुसार परवर्ती वैदिक साहित्य मे नक्षत्रो मे प्रथम स्थान कृत्तिका का था, जैसा कि कौषीतकि ब्राह्मण ६.१ में उत्तराफल्गुनी को वर्ष का मुख और पूर्वाफल्गुनी को पुच्छ माना गया है। तै० ब्रा० १,१,२,८ मे पूर्वेफल्गू को वर्ष की अन्तिम निशा और 'उत्तरेफल्गू' को वर्ष की प्रथम रात्रि कहा गया है। इससे स्पष्ट है कि कोई ऐसा भी काल रहा होगा जिसमे वर्ष का अन्त उत्तराफल्गुनी मे होता था।

इसी प्रकार तै० स० में फाल्गुन मास को संवत्सर का मुख कहा गया है—'मुख वा सवत्सरस्य यत्फल्गुनी पूर्णमास' (तै० स० ४,८,१,२); और पचविंश ब्रा० मे फाल्गुन को सवत्सर का मुख कहा गया है—'मुख वा एतत् सवत्सरस्य यत्फाल्गुन' (प० ब्रा० ५,९,९)। यह काल वर्षाकाल से प्रारम्भ होने वाले सवत्सर, जिसे 'हिमा' कहा जाता था, से छ मास पूर्व प्रारम्भ होता था, जिसका प्रारम्भ फाल्गुन मास से होता था। सवत्सर का तीसरा रूप 'शरद् सवत्सर' था जिसे ऋ० मे केवल शरद्' कहा गया है, जिसमे वर्ष का प्रारम्भ मार्गशीर्ष से होता था। इससे स्पष्ट है कि ऋ० काल मे वर्ष का प्रारम्भ 'मृगशिरस्' से होता था जो धीरे-धीरे ब्राह्मणकाल तक 'कृत्तिका' से होने लगा। नक्षत्रो की सारिणी[८] से यह ज्ञात होता है कि कृत्तिका नक्षत्र मे वसन्तकाल और मघा नक्षत्र में ग्रीष्म का मध्यकाल लगभग २५०० ई० पू० के पड़ता था। इसमे पाँच शताब्दियो की त्रुटि को संभाव्य मानने पर इस काल को ३००० ई० पू० से २००० ई० पू० के मध्य रखा जा सकता है। साथ ही कृत्तिका के पूर्व 'मृगशिरस्' काल ४५०० ई० पू० से २५०० ई० पू० तक माना जा सकता है और इसी के मध्य ऋग्वैदिक सस्कृति का विकास हुआ जिसके द्वितीय अश अर्थात् ३५०० ई० पू० से २५०० ई० पू० के मध्य ऋ० स० का विकास वर्तमान रूप मे हुआ होगा।

तिलक और याकोबी के मतों की समालोचना

तिलक के कालनिरूपण सिद्धान्त की आलोचना अनेक विद्वानो ने की और उनमे अनेक लोगो ने उनके तर्कों को स्वीकार किया, जिनमे प्रो० ब्लूमफील्ड, ब्यूलर आदि थे। ह्विटनी, ठिबाउट और कुछ अन्य लोगो ने उनके निष्कर्षों को अपर्याप्त माना।

प्रो० ब्लूमफील्ड ने जान हापकिन्स विश्वविद्यालय के १८वें जन्म समारोह के अवसर पर व्याख्यान देते हुए कहा कि 'वेदो की भाषा और साहित्य किसी

८ याकोबी ने अपने लेख के साथ 'सूर्य सिद्धान्त' के आधार पर नक्षत्रसारिणी दी है।

प्रकार भी इतना पिछडा हुआ नही है जिससे कि इसके साथ आर्यो के जीवनकाल का प्रारम्भ माना जा सके   इसे कई सहस्र वर्षो तक पीछे से प्रारम्भ किया जा सकता है। अत हम आर्यों के जीवनकाल का प्रारम्भ ४५०० ई० पू० से कई सहस्र वर्ष पीछे से मान सकते है'। उनका यह कथन तिलक की पुस्तक 'ओरायन' (Orion) के प्रकाशन की स्वीकृति के साथ संयुक्त था।[९]

ब्यूलर का मत

ब्यूलर ने तिलक और याकोबी के मतो का गहन अध्ययन करने के पश्चात् यह निष्कर्ष दिया कि इन दोनो विद्वानो का यह कथन औचित्यपूर्ण है कि कृत्तिका ही नक्षत्रो मे प्रथम नही थी वरन् वैदिक आर्यो को वह काल भी ज्ञात था जब नक्षत्रो मे प्रथम स्थान 'मृगशिरस्' का था, जिस काल मे वसन्त समाहर्निश मृगशिरस् मे होता था। यद्यपि यह सम्भव है कि गणितीय सिद्धान्त से ये मत पूर्ण न उतरें, किन्तु इनके द्वारा वैदिक कालक्रम को निश्चित करने का एक आधार तो मिल ही जाता है।[१०]

ब्यूलर के मतानुसार उस काल मे सक्रान्तियो और समाहर्निशो का काल इन महीनो मे पडता था—

शीत सक्रान्ति माघ मे (२२ दिसम्बर)
वसन्त समाहर्निश वैशाख मे (२१ मार्च)
ग्रीष्म सक्रान्ति श्रावण मे (२१ जून)
शरद् समाहर्निश कार्तिक मे (२२ सितम्बर)

ब्यूलर ने इस आधार पर याकोबी के मत की पुष्टि की और कहा कि वह काल जब नक्षत्रो में प्रथम स्थान मृगशिरस का था लगभग, ४४२० ई० पू० के होना चाहिये। यदि गणना की सामान्य त्रुटियो को ध्यान मे रखते हुए इसे निरूपित किया जाय तो यह काल ३८०० ई० पू० रहा होगा।[११]

इस प्रकार ब्यूलर के मतानुसार ऋ० का रचनाकाल ४००० ई० पू० के लगभग माना जा सकता है।

ह्विटनी का मत

ह्विटनी ने तिलक और याकोबी द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों की कडी आलोचना करते हुए कहा कि वैदिककाल को मिस्र सभ्यता के काल तक अथवा

---

९. Orctic Home in the Vedas, Preface, P. II.
१० Ind. Anti 1894, P. 239.
११. Ind. Anti. 1894, PP. 244-45.

मेसोपोटामिया के आविर्भावकाल के समीप रखना अपने आप मे कल्पना की उडान है ।[१२] याकोबी की आलोचना करते हुये उन्होने कहा कि याकोबी द्वारा ऋ० ७,१०३,९ (मण्डूक सूक्त) के आधार पर वर्षा के समय से वर्ष (सवत्सर) का प्रारम्भ मानना अथवा गृह्यसूत्रो मे निर्धारित उपाकरण (शाखायन गृह्यसूत्र ४,५—ओषधीनां प्रादुर्भावे) के आधार पर वर्षा के प्रारम्भकाल में वेदाध्ययन का प्रारम्भ या वर्ष का प्रारभ मानना युक्तिसंगत नही है, क्योंकि न तो मण्डूकसूक्त से ही ऐसा स्पष्ट होता है और न सूत्रकारो का ही यह अभिप्राय था कि जब से वेदाध्ययन का प्रारम्भ हो उसे ही वर्ष का प्रारम्भकाल माना जाय ।

इसी प्रकार याकोबी द्वारा पूर्वफल्गुनी और उत्तरफल्गुनी नक्षत्रो का ब्राह्मण ग्रथो मे जो कथन है उसके आधार पर वैदिककाल में वर्ष का प्रारम्भ मानना भी ह्विटनी की दृष्टि मे उचित नही है, क्योकि उस काल मे आर्यो को ज्योतिष का इतना ज्ञान नही था कि वे पूर्वफल्गुनी और उत्तरफल्गुनी के मध्य का निश्चित अन्तर समझ सकते । ह्विटनी के मत मे आर्यो को ज्योतिष् का ज्ञान ग्रीक लोगो के द्वारा मिला, जो पर्याप्त परवर्तीकाल में हुआ । किन्तु ह्विटनी ने इस बात को स्वीकार किया है कि उस काल मे कभी वर्ष का प्रारम्भ फाल्गुन मास से होता था और यह काल लगभग ४००० ई० पू० के रहा होगा ।[१३]

याकोबी के मत की समालोचना के पश्चात् ह्विटनी ने तिलक के 'ओरायन' की समालोचना की । उन्होने तिलक की इस बात के लिये आलोचना की कि गीता को अनपेक्षित महत्त्व देना औचित्यपूर्ण नही था । तिलक के गहन ज्ञान, प्रतिभा और अनुसधित्सा की उन्होने प्रशसा करते हुये भी यह कहा कि तिलक के तर्क सामान्यतया खीचा-तानी वाले और सन्देहात्मक हैं तथा उनके निष्कर्ष ठोस नही हैं ।

ह्विटनी ने तिलक के इस तर्क को तो स्वीकार किया कि कभी कृत्तिका का स्थान नक्षत्रो में प्रथम था, किन्तु यह तर्क कि वैदिक ऋषियो को मृगशिरस् का पूर्ण ज्ञान था, उनके लिये अस्वीकार्य है ।[१४]

---

१२. Ind. Anti 1895, PP. 361–369.

१३ वही, पृ० ३६७ ।

१४. वही, पृ० ३६५-६६।

ठिबाउट का मत

सन् १८९५ ई० मे ठिबाउट ने इण्डियन ऐन्टिक्वेरी में तिलक और याकोबी के वेदकाल निरूपण की समालोचना करते हुये लिखा कि इन दोनो विद्वानो के विचारों मे कोई विशेष अन्तर नही है। अन्तर केवल इतना है कि तिलक वेद के कालनिरूपण पर अधिक बल देते हैं जब कि याकोबी का मुख्य ध्येय वैदिक संस्कृति की प्राचीनता का अनुसन्धान करना है। किन्तु दोनो ने जिन तथ्यो का अवलम्ब ग्रहण किया है वे पूर्णरूपेण सहायक नही प्रतीत होते।[१५]

ठिबाउट ने इन दोनो विद्वानो के निष्कर्षों को पूर्णरूपेण अस्वीकृत नही किया, किन्तु उन समस्त सन्दर्भों का जिनके आधार पर इन दोनो लोगो ने अपने-अपने निष्कर्ष निकाले थे, उन्होने पुन. परीक्षण किया और कहा कि इन सन्दर्भों के आधार पर ऐसा नही ज्ञात होता कि वैदिक लोगो को ज्योतिष के गणितीय सिद्धान्तो का पूर्ण ज्ञान था जिसके आधार पर वे वर्ष के प्रारम्भ का अथवा समाहनिशो या संक्रान्तियो का सही विवेचन कर सकते। अतः वेदकाल को ६००० ई० पू० या ४००० ई० पू० तक ले जाने के सही कारण नही दृष्टि-गोचर होते।[१६]

ठिबाउट ने अनेक तर्कों को उपस्थित करने के पश्चात् यह कहा कि तिलक और याकोबी द्वारा कृत्तिका नक्षत्र का परीक्षण सभवत. उचित हो सकता है जिसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि उस समय वसन्त समाहनिश कृत्तिका में होता था और यह काल २३०० ई० पू० होना चाहिये। किन्तु वैदिक साहित्य मे कोई ऐसे प्रमाण नही है जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि किस ग्रंथ की रचना इस काल में हुयी अथवा वैदिक लोगो को नक्षत्र गणना का पूर्ण ज्ञान था।[१७]

विन्टरनित्स का मत

अपने सस्कृत साहित्य के इतिहास में विन्टरनित्स ने भी ऋग्वेद के काल-निरूपण पर विचार प्रस्तुत किये है।[१८] ज्योतिष के आधार पर किये गये काल-निर्णय को उन्होंने उतना ही व्यर्थ कहा जितना कि साहित्य के आधार पर वेद

---

१५ वही, पृ० ८५। १६ वही, पृ० ८६।

१७ Ind. Anti 1895, PP 96-97

१८ M Winternitz, A History of Indian Literature, vol. I (1927), PP. 390-210.

की प्राचीनता का अनुमान करना है। तिलक और याकोबी द्वारा श० ब्रा० २,१, २,३ के आधार पर दिये गये निष्कर्षो की चर्चा करते हुये विन्टरनित्स ने कहा कि इन लोगो ने इस अंश की व्याख्या त्रुटिपूर्ण की है। 'कृत्तिकायें' 'पूर्व से अपना मार्ग परिवर्तित नही करती', जैसा याकोबी और तिलक ने सोचा है, अपितु 'वे पूर्व में उदित हुयी', जो बात ३००० ई० पू० के लगभग सभव थी और जिससे वसन्त समाहर्निश का ज्ञान होता है।[१९] विन्टरनित्स के अनुसार श० ब्रा० के इस सन्दर्भ का सही अर्थ यह होगा कि 'कृत्तिकायें पूर्व दिशा मे प्रत्येक रात्रि मे कई घटो तक बहुत काल तक दृष्टिगोचर होती रही' और यह बात ११०० ई० पू० के लगभग सभव थी। साथ ही उनके मत मे २१०० ई० पू० या ३१०० ई० पू० के लगभग कृत्तिकाओ ने पहले भी पूर्व दिशा का स्पर्श किया था, किन्तु शीघ्र ही वे दक्षिण की ओर मुड गयी जिससे वे पूर्वाभिमुख नही हो सकी।[२०]

विन्टरनित्स ने काल सम्बन्धी सिद्धान्तो की चर्चा करते हुये अन्तत यह सुझाव दिया कि हमे कालनिर्णय के चक्कर में नही पडना चाहिये और जो भी साहित्य हमारे सामने है उसका अध्ययन करना चाहिये।

शंकर बालकृष्ण दीक्षित का मत

शंकर बालकृष्ण दीक्षित ने ज्योतिष के आधार पर श० ब्रा० के काल का निरूपण किया। श० ब्रा० के निम्नलिखित अश को उन्होने इसका आधार बनाया—

"एकं द्वे त्रीणि चत्वारीति वा अन्यानि नक्षत्राण्यथैता एव भूयिष्ठा यत्कृत्तिकास्तद्भूमानमेवैतदुपैति तस्मात् कृत्तिकास्वाधीत ॥ २ ॥

"एतो ह वै प्राच्यै दिशो न च्यवन्ते सर्वाणि ह वा अन्यानि नक्षत्राणि प्राच्यै दिशश्च्यवन्ते तत् प्राच्यामेवास्यैताद्दिश्याहितो भवतस्तस्मात् कृत्तिकास्वादधीत ॥ ३ ॥—श० ब्रा० २ १ २.२–३

इस उद्धरण मे क्रियारूप वर्तमान काल में होने के कारण दीक्षित के मतानुसार उस काल मे कृत्तिकाओ का स्थान विषुवत् रेखा के समीप रहा होगा और गणित के आधार पर यह काल २९९० ई० पू० होना चाहिये। अतः श० ब्रा० की रचना ३००० ई० पू० के लगभग हुयी होगी।[२१]

इस आधार पर ऋ० का रचना काल इससे बहुत पूर्व होना चाहिये।

---

१९ वही, पृ० २९६–९७। २० वही, पृ० २९८।
२१. Ind. Anti. 1895, PP 245–46,

जोगेशचन्द्र राय का मत

शकर बालकृष्ण दीक्षित द्वारा दिये गये उद्धरण को राय ने उपयुक्त माना, किन्तु उनके और तिलक तथा याकोबी के निष्कर्षा को उन्होने स्वीकार नही किया। उनके मत मे कृत्तिकायें उस स्थिति मे सात-आठ सौ वर्षो तक स्थित रही, अत. शत० ब्रा० के काल को ३००० ई० पू० नही वरन् ३३०० ई० पू० से २५०० ई० पू० के मध्य मानना युक्तिसंगत होगा।[२२]

उत्खनन और ऋग्वेद का काल

पुरातत्त्व सम्बन्धी उत्खननो के आधार पर ऋग्वैदिक सस्कृति की प्राचीनता का अनुमान अनेक विद्वानो ने लगाया है। सन् १९०७ मे एशिया माइनर में 'बोगजकोई' में उत्खनन से प्राप्त कुछ मृत्तिका-मुद्राओ पर १४०० ई० पू० हिट्टाइट के राजा सुब्बीलुलिउमा और मितानी के राजा मत्तिउर्ज के मध्य हुयी सन्धि का उल्लेख किया गया है जिसके अन्तर्गत दोनो देशो के विभिन्न देवताओ का नाम साक्षीरूप मे उल्लिखित है, जिनमे मित्र, वरुण, इन्द्र और नासत्यौ (अश्विनद्वय) का नाम भी मिलता है—

Ilānı mı-ıt-ra-aś-śı-ıl ılānı
uru-w-na-aś-śı el
(Varıant) a-ru-na-aś-śı-el
ılu ın-dar ılānı nā-śa-a (t-tı-ıa-a)-n-na
(Varıant) ın dara nā-ś a at-tı-ıa an-na[२३]

इस उल्लेख के आधार पर याकोबी ने वैदिक संस्कृति की अति प्राचीनता और उसका मितानी सस्कृति से सम्बन्ध स्थापित किया, जिसके कारण ऋ० के काल को १४०० ई० पू० के परवर्तीकाल मे नही रखा जा सकता।

इस विचार को ह्लिलेबाड्ट, स्टेनकोनोव और विन्टरनित्स ने स्वीकार किया। इसी आधार पर विन्टरनित्स का यह कथन है कि जिस प्रकार आर्य लोग पश्चिम से पूर्व की ओर बढे उसी प्रकार भारत से वे लोग पश्चिम की ओर भी गये।[२४]

सिन्धु घाटी के उत्खनन के आधार पर भी ऋग्वैदिक संस्कृति की प्राचीनता का अनुमान लगाया गया। कार्बन–१४ के आधार पर तिथि के अनुमान के कुछ

२२ बेदेर देवताओ कृष्टिकाल (१३६१ बा० स०), पृ० ४३–५३।

२३ Journal of Royal Asıatıc Socıety, 1909, "On the Antiquity of Vedıc Culture", by **H. Jacobi**, P 723.

२४ **Winternitz**, Hıstory, vol I, PP. 304306.

लोगो ने मोहेंजोदडो की सभ्यता और ऋग्वैदिक सभ्यता मे साम्य स्थापित करते हुये कहा कि यह सभ्यता २००० ई० पू० के लगभग पल्लवित हुयी। किन्तु के. एन. शास्त्री के अनुसार सिन्धु सभ्यता का साम्य मध्यकालीन वैदिक सस्कृति, जो अथर्ववेद और शत० ब्रा० में प्राप्य है, के साथ स्थापित किया जा सकता है।[२५]

इन समस्त मतमतान्तरो के पश्चात् भी यही कहा जा सकता है कि ऋ० का कालनिरूपण करना अब भी संदेहात्मक है।

२. ऋग्वेद सहिता का उद्भव और विकास

प्रो० आर्नल्ड ने अपनी पुस्तक 'वेदिक मीटर' के प्राक्कथन का प्रारम्भ इस कथन से किया है कि 'ऋग्वेद एक पुस्तक नही, वरन् एक पुस्तकालय और साहित्य है (The Rigveda is not a book, but a library and a literature)। पुस्तक का उद्भव और विकास तो एक सीमितकाल मे हो सकता है, किन्तु पुस्तकालय और साहित्य के विकास के लिये एक दीर्घकाल की आवश्यकता होती है। अत. इस दृष्टि से ऋग्वेद के विकास मे हमे दीर्घकाल को मानना चाहिये जिसके अन्तर्गत उसमे अनेक ऋषियो एव ऋषि-परम्पराओ ने अपना योगदान किया। ऋग्वेद के विकासकाल को हम तीन रूपो मे वर्गीकृत कर सकते है—

१. ऋग्वेद का प्राचीनतम अश या मुख्य भाग,

२. ऋग्वेद का सामान्य अंश और

३. अवान्तरकालीन ऋग्वेद।

यह वर्गीकरण ऋग्वेद के विषय, भाषा, छन्दादि की दृष्टि से सम्भव है। भाषा आदि पर ध्यान देने से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि कौन से अंश प्राचीन और कौन अवान्तरकालीन है। प्रथमत: ऋषियो ने जिन देवताओं की स्तुतियाँ की और उन मन्त्रो में जिस प्रकार के छन्द, शब्दस्वरूप आदि का विधान किया उससे भी विकासात्मक प्रक्रिया का पता लगाया जा सकता है।

वर्ण्य-विषय की दृष्टि से अग्नि सम्बन्धी सूक्तो की रचना सर्वप्रथम हुयी होगी, जिसमें कालक्रम में जातवेदस् और अग्निवैश्वानर सम्बन्धी सूक्तो को संयुक्त किया गया होगा। इस दृष्टि से समस्त ऋ० स० को तीन भागो में विभक्त किया सकता है, जिसमे प्रथम भाग अग्नि सम्बन्धी सूक्तो, द्वितीय भाग इन्द्र सम्बन्धी सूक्तो और शेष भाग अन्य विभिन्न देवताओ की स्तुतियो से सम्बद्ध है।

---

२५ **K.N. Sastri,** New Light on the Indus Civilization, vol. II, (Delhi 1965), P. 142

इसमे भी प्राचीन और नवीन या परवर्तीकाल की रचनाएँ जुडती चली गयी। स्वय ऋषियो ने ही कहा है कि 'जो प्राचीन और नवीन स्तुतियाँ है, हे देवतागण, उन्हें स्वीकार करो—

१. इद ब्रह्म क्रियमाणं नवीय: ···· ··· ·····ऋ० ७.३५ १४

२. ये च पूर्वे ऋषय: ये च नूत्ना
इन्द्र ब्रह्माणि जनयन्त विप्रा ················ऋ० ७ २९.९

३. ते चिद्धि पूर्वे कवयो गृणन्त.···············ऋ० ७.५३.१

उपर्युक्त उदाहरणो से स्पष्ट है कि ऋ० सं० का विकास एक दिन या वर्ष मे नही हुआ, अपितु एक दीर्घकाल मे वंश परम्पराओ के माध्यम से दृष्ट मन्त्रो के द्वारा हुआ जिसका संहितीकरण सहस्रो वर्षो के पश्चात् किया गया। वर्ण्य विषय की दृष्टि से ही यह कहा जा सकता है कि सम्वाद सूक्तो, दार्शनिक सूक्तो एवं अन्य लौकिक विषयो सम्बन्धी सूक्तो की रचना पर्याप्त उत्तरकालीन है।

भाषा की दृष्टि से देखने से पता चलता है कि प्रथम मण्डल और दशम मण्डल की रचनाएँ अवान्तरकालीन है। वंशानुगत मण्डलो की भाषा इन मण्डलो की भाषा से प्राचीन प्रतीत होती है। इसी प्रकार छन्द-विधान की दृष्टि से भी मन्त्रो की प्राचीनता एवं नवीनता का बोध होता है। जैसे गायत्री, जगती, उष्णिक्, त्रिष्टुभ् आदि छन्द प्राचीन है, किन्तु इन्ही छन्दो मे कुछ अक्षरो या पक्तियो को जोड-घटाकर जो अन्य छन्द निर्मित हुये उनके द्वारा स्पष्ट ही भाषा और सहिता के विकास की गति का संकेत मिलता है।

इस प्रकार अनेक रूपो से विकसित एव सर्वधित होकर ही ऋग्वेद का आज का स्वरूप हमें प्राप्त हुआ।

३. ऋग्वेद का सहितीकरण एवं वर्गीकरण

ऋ० के मन्त्रो की रचना के पश्चात् उनके सग्रह का प्रश्न आया होगा। इधर-उधर विकीर्ण मन्त्रो को कालान्तर मे एकत्रित किया गया होगा जिसे हम 'सहितीकरण' की संज्ञा देते हैं। अनेक ऋषियो एव उनके वशजो ने मन्त्रो का दर्शन किया, जिनकी परम्परया रक्षा की गई और संग्रहीत किया गया। एक ऋषि एवं उसकी वंशपरम्परा द्वारा दृष्ट मत्रो को एक स्थान पर संगृहीत किया गया और इसी आधार पर मण्डलो के अन्तर्गत संहिता का वर्गीकरण हुआ। गृत्समद ऋषि एवं उनकी वंशपरम्परा द्वारा रचित मंत्रो को द्वितीय मण्डल मे, और इसी प्रकार विश्वामित्र द्वारा रचित मत्रो को तृतीय मण्डल मे, वामदेव

द्वारा रचित मंत्रों को चतुर्थ मण्डल में, अत्रिवश के मत्रो को पंचम मण्डल मे, भरद्वाज द्वारा रचित मत्रो को षष्ठ मे तथा वसिष्ठो द्वारा रचित मत्रो को सप्तम मण्डल में सग्रहीत किया गया। अष्टम मण्डल मे काण्व, अङ्गिरस्, अत्रि आदि अनेक ऋषियो की रचनाएँ सग्रहीत है। सोमदेवता सम्बन्धी समस्त मंत्रो को नवम मण्डल में एक स्थान पर सग्रहीत किया गया। प्रथम तथा दशम मण्डल की रचनाएँ अवान्तरकालीन मानी जाती है। इन दोनो मण्डलो मे दीर्घतमस्, गोतम, अङ्गिरस्, वामदेव, दिवोदास आदि अनेक ऋषियो एव उनकी वशपरम्पराओ की रचनाओ का संग्रह है। इस प्रकार श्रुति परम्परा द्वारा सरक्षित मत्र-समूहो को दस भागो मे सकलित किया गया, जिन्हे मण्डलो की संज्ञा दी गई।

समस्त ऋग्वेद को मुख्य रूप से दो प्रकार से वर्गीकृत किया गया है। प्रथम वर्गीकरण अष्टक, अध्याय और वर्गो मे है। इस प्रकार ऋग्वेद को आठ अष्टको मे विभाजित किया गया। प्रत्येक अष्टक मे आठ अध्याय और प्रत्येक अध्याय मे अनेक वर्ग है। इस प्रकार समस्त ऋग्वेद मे ६४ अध्याय है। यह वर्गीकरण प्रत्येक दिन के अध्ययन-अध्यापन की सुविधाओ की दृष्टि से किया गया प्रतीत होता है। यह बहुत वैज्ञानिक अथवा सुव्यवस्थित नही प्रतीत होता। दूसरे प्रकार के वर्गीकरण के अन्तर्गत मण्डल, अनुवाक और सूक्त आते है। समस्त ऋग्वेद दस मण्डलो मे विभक्त है। प्रथम मण्डल मे चौबीस अनुवाक, द्वितीय मे चार; तृतीय और चतुर्थ मे पॉच-पाँच, पञ्चम, षष्ठ और सप्तम मे छ-छ, अष्टम मे दस, नवम मे सात और दशम मण्डल मे बारह अनुवाक है। प्रत्येक अनुवाक में अनेक सूक्त और प्रत्येक सूक्त मे अनेक मन्त्र हैं। प्रत्येक मन्त्र का कोई न कोई ऋषि, देवता और छन्द है, जिसका ज्ञान पाठक को आवश्यक होता है।

इन मण्डलो में द्वितीय से सप्तम मण्डल पर्यन्त अश को प्राचीनतम माना जाता है और इन्हें 'वशग्रन्थो' (Family Books) के नाम से अभिहित किया जाता है, क्योकि इन मण्डलो मे प्रत्येक मण्डल किसी न किसी विशेष ऋषि एवं उसकी वश-परम्परा से सम्बन्धित है, जैसा कि उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है। इनके ऋषि क्रमश गृत्समद, विश्वामित्र, वामदेव, अत्रि, भरद्वाज और वसिष्ठ है। इन मण्डलो मे प्रारम्भ मे अग्नि देवता सम्बन्धी मन्त्र, उसके पश्चात् इन्द्र देवता और तत्पश्चात् अन्य अनेक देवताओ सम्बन्धी मन्त्र हैं। दूसरी विशेषता यह है कि प्रथम सूक्त मे जितने मन्त्र होगे दूसरे मे उससे कम और इसी प्रकार क्रमश एक देवता सम्बन्धी समस्त सूक्तो मे मन्त्रो की सख्या कुछ अपवादो सहित कम होती जायगी, उदाहरणार्थ द्वितीय मण्डल के कुछ सूक्तो को यहाँ देख सकते हैं—

देवता	सूक्त	मन्त्र संख्या
अग्नि	प्रथम सूक्त	१६
	द्वितीय सूक्त	१३
	तृतीय सूक्त	११
	चतुर्थ सूक्त	९
	पचम सूक्त	९
इन्द्र	एकादश सूक्त	२१
	द्वादश सूक्त	१५
	त्रयोदश सूक्त	१३
	……… ………	…
	एकविंशति सूक्त	६
	द्वावि० सूक्त	४

यही बात सभी वंशानुगत मण्डलो के साथ घटित होती है, जिनमे यत्र-तत्र कुछ अपवाद मिलेंगे। अष्टम मण्डल मे ऐसा कोई नियम नही है।

नवम मण्डल मे समस्त मन्त्र पवमान सोम सम्बन्धी है और सभी मन्त्रो के ऋषि वही है जो वंशानुगत मण्डलो के है।

प्रथम मण्डल को चौदह भागो में वर्गीकृत किया गया है। प्रत्येक भाग के पृथक् पृथक् ऋषि है। सभी मन्त्रो को देवताओ के आधार पर संगृहीत किया गया है, जिनमे पहले अग्नि, फिर इन्द्र, तत्पश्चात् वायु, अश्विनद्वय आदि देवता हैं।

दशम मण्डल अनेक ऋषियो की अनेक देवताओ सम्बन्धी रचनाओ का सग्रह है। इसमे एक से चौरासी सूक्त पर्यन्त अनेक सभाग या सूक्त समूह हैं और प्रथम सूक्त समूह से उसके आगे आने वाले सूक्त समूह मे प्रत्येक सूक्त मे अधिक मन्त्र हैं। उदाहरणार्थ— प्रथम से सातवें सूक्त तक प्रत्येक में सात-सात मन्त्र है, अष्टम और नवम मे ९–९ मन्त्र; दशम में १४ मन्त्र, किन्तु एकादश और द्वादश मे पुनः ९–९ मन्त्र है। इसी प्रकार पन्द्रहवें से उन्नीसवें सूक्त तक प्रत्येक में १४–१४ मन्त्र है। पचासी से एक सौ इक्यानवे सूक्त पर्यन्त प्रत्येक सूक्त मे मन्त्रो की सख्या या तो कम होती चली गई है अथवा अपने पूर्व सूक्त के बराबर है। उदाहरणार्थ सूक्त ८५ मे ४७ मन्त्र, सूक्त ८६ मे २३ मन्त्र, सूक्त ८७ में २५, सूक्त ८८ मे १९, सूक्त ८९ मे १८ और सूक्त ९० मे १६ मन्त्र है। बीच-बीच मे कुछ अपवाद भी है, किन्तु मन्त्र सख्या का अन्तर बहुत कम है।

इन मण्डलो के मध्य 'बालखिल्य' नाम से प्रसिद्ध ११ सूक्त है जो प्रायः अष्टम मण्डल के अन्त मे रखे जाते है, किन्तु अधिक सस्करणो मे इन्हे अष्टम मण्डल के ४९ से ५९ सूक्तो के रूप में सकलित किया गया है।

ऋ० के सभी मण्डलो मे सूक्तो की संख्या इस प्रकार है—

प्रथम मण्डल मे	१९१ सूक्त
द्वितीय मण्डल मे	४३ सूक्त
तृतीय मण्डल मे	६२ सूक्त
चतुर्थ मण्डल में	५८ सूक्त
पचम मण्डल में	८७ सूक्त
षष्ठ मण्डल मे	७५ सूक्त
सप्तम मण्डल मे	१०४ सूक्त
अष्टम मण्डल मे	९२ सूक्त
नवम मण्डल मे	११४ सूक्त
दशम मण्डल मे	१९१ सूक्त
बालखिल्य	११ सूक्त
सूक्तो की कुल स० =	१०२८ सूक्त

४. ऋग्वेद की भाषा

ऋग्वेद की भाषा प्राचीनतम संस्कृत का रूप हमारे समक्ष प्रस्तुत करती हैं। लौकिक संस्कृत के विकसित रूप तक आते-आते और पाणिनीय व्याकरण के नियमो मे आबद्ध सस्कृत भाषा के रूप को प्राप्त करते-करते वह अपने प्राचीनतम रूप से बहुत कुछ भिन्न हो चुकी थी जिसमे शब्द-रचना, वाक्य-विन्यास, स्वर-प्रक्रिया आदि के सम्बन्ध में वह विशिष्ट थी। ऋग्वेद की भाषा मे घोष वर्णों का अधिक प्रयोग है और उच्च वर्ग की भाषा होने के कारण वह अधिक कृत्रिम एव व्यक्तिनिष्ठ हैं। एक ऋषि की रचना मे कुछ ऐसी विशेषताये या विशिष्ट प्रयोग मिल जायेंगे जो सम्भव है दूसरे ऋषि या वशपरम्परा के द्वारा प्रयुक्त भाषा में अप्राप्य हो। ऋषियो द्वारा पुनरावृत्ति की प्रक्रिया का अपनाया जाना ऋग्वेद की भाषा और शैली की विशेषता है। अनेक मन्त्रो या मन्त्राशो अथवा शब्द समूहो की अनेक बार पुनरावृत्ति हुई है।

अक्षरो के प्रयोग की दृष्टि से 'ळ' और 'ळ्ह' का प्रयोग परवर्ती काल के 'ड' और 'ढ़' का रूप प्रस्तुत करता है। जो लौकिक सस्कृत मे अप्राप्य है। 'र' के

स्थान पर 'ल' का प्रयोग धीरे-धीरे वर्धित होता गया है। कुल मिलाकर 'र' के स्थान पर 'ल' का प्रयोग ८ गुना अधिक हुआ है। यह प्रवृत्ति अवेस्ता के विपरीत है, जिसमे 'ल' के स्थान पर 'र' का ही प्रयोग मिलता है। अतः यह कहा जा सकता है कि प्राचीनतम अंशो में 'र' के प्रयोग की प्रवृत्ति है किन्तु धीरे-धीरे उसका स्थान 'ल' लेता गया। जैसे-जैसे आर्य लोग पूर्वीय प्रदेश की ओर बढते गये 'ल' के प्रयोग की प्रवृत्ति भी बढती गयी। इसी प्रवृत्ति का उदाहरण 'हे अर्य' के स्थान पर असुरो द्वारा 'हेलय' का उच्चारण करने की कथा का सकेत है। आज भी पूर्वीय प्रदेशो मे 'ल' का प्रयोग अधिक होता है।

ऋग्वेद में एक मण्डल की भाषा दूसरे मण्डल की भाषा से भी कभी-कभी कुछ प्रयोगो की दृष्टि से विशिष्ट प्रतीत होती है। अत्रि मण्डल (पञ्चम मण्डल) मे तुमुनन्त रूप वाले 'तु' का प्रयोग नही मिलता। इसी प्रकार प्रथम और अष्टम मण्डल के प्रसिद्ध ऋषि काण्वो ने 'तुम्' और तवैम्' प्रत्ययो का प्रयोग ऐसा लगता है कि जान-बूझ कर नही किया है। इसी प्रकार सप्तम मण्डल के ऋषि वशिष्ठ ने 'त्वा' और 'त्वाय' प्रत्यय के प्रयोग का बहिष्कार किया है। इस प्रकार अनुशीलन के पश्चात् यह ज्ञात होता है कि प्राचीन मण्डलो की भाषा नवीन मण्डलो (प्रथम और दशम) की भाषा से कुछ भिन्न है। कुछ परवर्ती ऋषियों ने अपने पूर्व ऋषियो की भाषागत एव शैलीगत विशेषताओ का अनुसरण किया है। जो पुनरावृत्तियो के माध्यम से अधिक स्पष्ट है। प्रथम मण्डल से लेकर नवम मण्डल तक की भाषा मे बहुत कुछ एकरूपता है, किन्तु दशम मण्डल की भाषा अधिक विकसित प्रतीत होती है। बहुत से शब्द रूपो एव क्रिया रूपो का प्रयोग दशम मण्डल तक आते-आते छूट गया है।

ऋग्वेद की भाषा मे कुछ ऐसे भी प्रयोग है जिनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि प्राकृत-प्रयोग की प्रवृत्ति धीरे-धीरे अपना स्थान बना रही थी। उदाहरणार्थ द्युत् धातु से ज्योतिष् (द्योतित), उष्टानाम् (उष्ट्रानाम), शिथिर (श्रिथिर), सूरे दुहिता (१, ३४, ५) सूरो दुहिता (७, ६९, ४) के लिए; तुर्फरी, जर्भुरी इत्यादि ऐसे प्रयोग है जो प्राकृत प्रयोग की ओर सकेत करते है।

संधि रूपों में स्वर-सन्धि सम्बन्धी लौकिक सस्कृत के नियमो पर विशेष ध्यान नही दिया गया है। दो स्वरो के बीच के अवरोध (Hiatus) को स्वीकार किया गया है अभिनिहित सन्धि भाषा का एक विशिष्ट रूप प्रस्तुत करती है।

स्वर और छन्द की दृष्टि से भी ऋग्वेद की भाषा परवर्ती काल की संस्कृत भाषा से सर्वथा भिन्न है जिसके कारण वाक्यविन्यास की इसकी अपनी विशिष्टता है।

५. ऋग्वेद और अवेस्ता की भाषा की तुलना

प्राचीन भारत और ईरानी संस्कृतियो का निकट का सम्बन्ध रहा है जिसका स्पष्टीकरण ऋग्वेद और अवेस्ता की भाषा के माध्यम से होता है। दोनो की भाषा मे शब्द, शब्दरूपो, क्रियारूपो आदि मे बहुत ही सन्निकटता है।

अवेस्ता में कुल मिलाकर ४७ अक्षर हैं जिसमे ३४ व्यजन और १३ स्वर हैं। स्वरो मे वैदिक 'ऋ' के स्थान पर अवेस्ता मे 'अर्' है और 'ए' के स्थान पर वहाँ तीन 'ए'—ह्रस्व (ए), मध्य (एँ) और दीर्घ (ऍ) है। 'ऐ' की मात्रा नही है। 'ओ' भी ह्रस्व (ओ) और दीर्घ (ओ) दो हैं, 'औ' नही है। एक दीर्घ आनुनासिक 'आँ' भी है जिसका प्रयोग सदैव 'न' और 'म' के पश्चात् या पूर्व किया जाता है। व्यंजनो मे ङ्, ञ् और 'ण्' पचम वर्णों के स्थान पर 'न' और 'ङ्ग' का प्रयोग होता है। 'न' के दूसरे रूप अवेस्ता मे दो और हैं जो सन्ध्यक्षर और स्वतत्र दो अलग-अलग है। जैसे 'निपाइति' (निपाति) के 'न' और थ्वाव्॑त (थ्वावन्त-शक्तिशाली) के 'न्' मे अलग-अलग वर्णों का प्रयोग होता है। अवेस्ता मे 'चवर्ग' मे केवल 'च' और 'ज' है। टवर्ग का प्रयोग अवेस्ता मे नही होता। पवर्ग मे 'भ' के स्थान पर 'ब' का प्रयोग होता है, जैसे—बूइमि (भूमि), बर् (भर्) आदि। अन्तस्थो मे 'ल' के स्थान पर 'र' का ही प्रयोग होता है। अवेस्ता मे दो 'व' है। एक का प्रयोग केवल शब्द के प्रारम्भ में होता है और दूसरे का प्रयोग बीच या अन्त मे। अवेस्ता मे वेद के समान ही श, ष और स तीनो है, किन्तु इनमे 'श' दो प्रकार के है—एक सामान्य और दूसरा 'य' के पूर्व प्रयुक्त होने वाला; जैसे—'श्योश्यन्त' में प्रयुक्त 'श्' 'यश्त्' मे प्रयुक्त 'श्' से भिन्न है। इसी प्रकार 'य' मे भी दो रूप है। शब्द के प्रारम्भ में प्रयुक्त होने वाला 'य' मध्य या अन्त में प्रयुक्त 'य' से भिन्न है। 'ह' वर्ण दोनो भाषाओ में समान है, किन्तु वेद में 'स' को अवेस्ता मे प्राय. 'ह्' हो जाता, जैसे—सरस्वती का अवेस्तन रूप 'हरख्वइती,' या 'अस्मि का 'अह्मि' होगा। अवेस्ता के 'ज' और 'झ' वर्ण वेद मे नही है; जिसकी तुलना परशियन से की जा सकती है।

ऋग्वेद और अवेस्ता में सन्धि नियमो की दृष्टि से भी बहुत कुछ समानता है। स्वर सन्धि मे दीर्घ सन्धि के नियम प्रायः दोनो भाषाओ में समान हैं;

जैसे—उप + अज़्न = उपाज़्न, निदथा + आम = निदथाम (निदधाम); बर + आम = बराम (भराम), दरॅस + आम = दरॅसाम, चर + आनि = चरानि, पइति + इषत = पइतीषत, जी + इत् = जीत्, हु + उख्त = हूख्त (सूक्त) आदि। ये सभी नियम ऋग्वेद के सन्धि नियमो के समान ही हैं।

दोनो भाषाओ मे शब्दरूपो मे भी बहुत समानता है। विभक्ति प्रत्ययो में बहुत अधिक साम्य है। प्रातिपदिको के साथ लगने वाले मूल प्रत्ययो की तुलनात्मक सूची यहाँ दी जा रही है। कोष्टक के अन्तर्गत वैदिक प्रत्यय है।

	ए० व०	द्वि व०	ब० व०
प्र०	स्, श् (संस्कृत स्)	अ (औ, आ)	अस् (आसस्, अस्)
द्वि०	म्, ॲम् (अम्)	अ (औ, आ)	अस् (अस्)
तृ०	अ (आ)	ब्य (भ्याम्)	बिश् (एभिस्, भिस्)
च०	अअे (ए)	ब्य (भ्याम्)	ब्यो (भ्यस्)
पं०	अत् (अस्, आत्)	,,	,,
ष०	अस् (अस्, स्य)	आओ (ओस्)	आँम् (आम्)
स०	इ (इ)	अओश् (ओस्)	हु, षु, ष्व, ह्व (सु)
सं०	प्रातिपदिक रूप दोनो मे	अ (औ)	अस् (अस्)।

इस प्रकार दोनों भाषाओ के विभक्ति प्रत्ययो मे बहुत अधिक समानता है। उदाहरण के लिये अवेस्ता के 'पुथ्र' (वैदिक पुत्र) शब्द के रूपो की तुलना यहाँ कर सकते है—

	ए० व०	द्वि व०	ब० व०
प्र०	पुथ्रो (पुत्रः)	पुथ्र (पुत्रौ)	पुथ्राङ्हो (पुत्राः, पुत्रासः)
द्वि०	पुथॅम् (पुत्रम्)	पुथ्र (पुत्रौ)	पुथ्रांन् (पुत्रान्)
तृ०	पुथ्र (पुत्रेण)	पुथ्रएइब्य (पुत्राभ्याम्)	पुथ्राइश् (पुत्रैः)
च०	पुथ्राइ (पुत्राय)	,, ,,	पुथ्रएइब्य (पुत्रेभ्य.)
पं०	पुथ्रात् (पुत्रात्)	,, ,,	,, ,,
ष०	पुथ्रहे (पुत्रस्य)	पुथ्रयाओ (पुत्रयो·)	पुथ्रनांम् (पुत्राणाम्)
स०	पुथ्रे (पुत्रे)	पुथ्रयो (पुत्रयोः)	पुथ्रएषु (पुत्रेषु)
सं०	पुथ्र (पुत्र)	पुथ्र (पुत्रौ)	पुथ्राओङ्हो (पुत्रा.)

इसी प्रकार क्रियारूपो मे भी दोनो भाषाओ में बहुत अधिक समानता है। अवेस्ता मे भी वेद के समान धातुरूपो के तीन पुरुष और तीन वचन होते हैं।

लकारो मे भी पर्याप्त समानता है। वाच्य दोनो भाषाओ मे तीन—कर्तृवाच्य, कर्मवाच्य और भाववाच्य है। दोनो भाषाओ में आत्मनेपदी और परस्मैपदी रूप हैं। दोनों भाषाओ मे धातुयें दस गणो के अन्तर्गत विभक्त हैं। क्रियारूपो मे लगने वाले तिङ् प्रत्ययो मे बहुत समानता है। उदाहरण के लिये वर्तमान काल मे लगने वाले प्रत्ययो की तुलना यहाँ की जा सकती है—

वर्तमानकाल (लट्) परस्मैपद के प्रत्यय

	ए० व०	द्वि० व०	ब० व०
उ० पु०	मि (मि)	वही (वस्)	महि (मस, मसि)
म० पु०	हि (सि)	थो (थस्)	थ, त (थ)
प्र० पु०	र्त (ति)	तो (तस्)	अँति न्ति (अन्ति)

वर्तमान आत्मने० प्रत्यय

	ए० व०	ब० व०
उ० पु०	ए (ए)	मदअे, मइदे (महे)
म० पु०	हे (से)	दुये (ध्वे)
प्र० पु०	ते (ते)	अँते, न्ते (अन्ते)

इन प्रत्ययो से निर्मित रूपो मे बहुत समानता है; जैसे—गच्छति का अवेस्ता रूप 'जसइति' है। 'ज' ग के लिये है और 'इ' का अवेस्ता में प्राग आगम होता है।

दोनो भाषाओं के सर्वनाम और विशेषण रूपो मे भी बहुत समानता है। जैसे वैदिक 'अहम्' का अवेस्ता मे 'अजॅम्'; वयम् का 'वअेम्', माम् का माँम्; अस्माकम् का अह्याकॅम्, त्वम् का तूम्, तू, तु, यूयम् का यूजॅम्, त्वाम् का थ्वाम्; स. का हो, हें; ते का तोइ, ते; तस्य का तहे, सा का हा रूप प्राप्त है। इसी प्रकार विशेषण रूपो मे भी समानता है। जैसे—संख्यावाची एक का अअेव, द्वि का द्वि, त्रि का थ्रि, चतुर् का चथ्रु, सप्त का हप्त; दशन् का दशन रूप है।

इस प्रकार संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि भाषागत सभी विशेषताएँ दोनो में समान है।

६. ऋग्वेद का काव्यात्मक स्वरूप

विश्व साहित्य में प्राचीनतम प्रतिभा का सुन्दरतम प्रस्फुटन यदि कही दृष्टिगत होता है तो वह ऋग्वेद है, जिसमे ऋषियो की अन्तर्दृष्टि में समाकर

चिरतन प्रकृति एवं समस्त सृष्टि काव्यात्मक हो उठी है। प्रकृति के एक-एक उपादान कवि कल्पना के माध्यम से सुन्दर रूप सजा कर हमारे सामने उपस्थित हो गये है। धरती से गगन तक कवि की क्रान्तिदर्शी दृष्टि पहुँची है और एक-एक उपादान का उसने स्पर्श किया है, केवल स्पर्श ही नही किया, वरन् उसे सुन्दर से सुन्दरतर बनाया है। कवि की क्रान्तदर्शी दृष्टि ने जिसका स्पर्श किया वह देवता बनकर उसकी हृत्तंत्री को झकृत करता हुआ अतुलनीय ताल और लय मे आबद्ध होकर दूसरो के मन को आह्लादित करने लगा। अपना तादात्म्य प्रकृति के साथ स्थापित कर सहजता से कवियो ने अपनी भावनाओ को नित्य नवीन अभिव्यक्ति दी। प्रात कालीन प्राची दिशा ने यदि उसके मन मे सौन्दर्य की सुन्दर एवं कोमल भावना को आन्दोलित कर उषा के नित्य नवीन रूप को सज्जित किया तो नोल गगन मे प्रभा से परिपूर्ण सूर्यमण्डल ने उसके अन्तर्मन को प्रकाशित कर सवितृ एवं सूर्य सम्बन्धी गान का रूप धारण किया। जिस प्रकार दक्ष कारीगर रथ का निर्माण करता है और उसके एक-एक अश मे अपने मन के सौन्दर्य को आरोपित करता है, अथवा जिस प्रकार बुनकर अपनी कुशलता से एक-एक तार द्वारा वस्त्र बुनता है वैसे ही ऋषियो ने स्तुतियो मे अपनी कल्पना में समाये रूप को आकार प्रदान किया।

इन्द्र ब्रह्म क्रियमाणा जुषस्व या ते सविष्ठ नव्या अकर्म।
वस्त्रेव भद्रा सुकृता वसूयू रथ न धीर स्वपा अतक्षम् ॥—ऋ० ५.२९.१५

ऋग्वेद का अधिकाश देवताओ के प्रति की गई सहज उद्‌भूत स्तुतियाँ हैं जिनमे अमरो के प्रति अपनी भावनाओ को व्यक्त करते हुये ऋषियो ने उन स्तुतियो को सरल, सौष्ठवपूर्ण भाषा, सुन्दर अलङ्कारो, विविध छन्दो एवं निश्चित लयो से आबद्ध कर उन्हे सुन्दर काव्य का रूप प्रदान किया है। ब्रून होफर ने इस सहज अभिव्यक्ति की प्रशंसा करते हुये कहा है कि—'In the Rgveda Samh ta we have a prince of poets towering up out of the mists of primitive times. The Veda is the lark's morning trill of humanity awakening to the consciousness of its greatness' (Ueber den Geist den Indischen Lyrik. PP 15-41)

ओल्डे० ने ऋग्वेद को 'सहज गतिशील प्रकृति काव्य' (einfache ruhrende Naturpoesie) कहा है[२७] और साथ ही वैदिक काव्य में अलङ्कार

२७. Vedaforschung, Stuttgart 1903, P. 208.

विधान की बहुत प्रशंसा की है।[२८] गेल्डनर का कथन है कि ऋग्वेदीय काव्य की मुख्य विशेषता यह है कि उससे राजभवन सम्बन्धी काव्य की ध्वनि निःसृत होती है। सम्पूर्ण कल्पनाएँ भारतीय राजाओ के जीवन का सकेत करती है। सभा, मघवा, मघवन् आदि शब्द योजनाएँ राजाओ के जीवन का सकेत करती है। समस्त ऋग्वेदीय काव्य अत्यन्त कुशलता, कलात्मकता एवं कल्पनाशीलता के कारण इस बात का सकेत करता है कि कवियो ने गुरुओ से, विशेष रूप मे पिता से, इस ज्ञान को प्राप्त किया होगा।[२९]

यान् खोदा ने ऋग्वेद की शैली पर विचार करते हुये कहा है कि शैलीगत जो विशिष्ट प्रक्रियाएँ है वे अलङ्कारो से युक्त है जिनमे पुनरावृत्ति, सन्तुलन, उपमा आदि का प्रयोग स्थितियो के अनुसार काव्य-सौष्ठव को परिवर्धित करने के लिये हुआ है। ब्लूमफील्ड ने जिस पुनरावृत्ति का अध्ययन केवल एक विशिष्ट स्वभाव के रूप मे किया है, खोदा ने उसी पुनरावृत्ति को ऋग्वेदीय काव्यशैली के साथ सयुक्त कर अधिक महत्त्व प्रदान किया है।[३०]

ऋग्वेद का समस्त काव्य जहाँ एक ओर प्राकृतिक दृश्य विधानो से परिपूर्ण है वही मानवीय भावनाओ से भी वह ओतप्रोत है। प्यार, कृतज्ञता एव भक्ति सम्बन्धी भावनाएँ समस्त काव्य के साथ प्रवहमान है। प्रेम और भक्ति के माध्यम से जहाँ एक ओर उन्होने काव्य का सृजन किया है वही दूसरी ओर देवताओ द्वारा की गई कृपा के प्रति अपनी कृतज्ञता को भी सहजता से अभिव्यक्ति दी है। इस अभिव्यक्ति का स्रोत ऋषियो ने जहाँ एक ओर काव्यमाता सरस्वती या सूर्या रूपी वाक् को माना, वही दूसरी ओर प्रेरणा, कल्पना, परम्परा और काव्य कर्तृत्व प्रक्रिया को भी कम महत्त्व नही दिया है। इस काव्य सरचना मे मन, हृदय और दक्षता ने समान रूप से अपनी-अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी है। ऋषियो के लिये काव्य में भाषा का रूप 'विश्वपेशस्' और 'सुपेशस्' रहा, और वह मन.पूत होकर प्रयुक्त हुयी (सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत'—ऋ० १०,७१,२)। शब्द जो निकलें वे श्रोता के हृदय का स्पर्श करें, इसलिये उन्हे 'हृदिस्पृश्' कहा गया है जो गीतो के साथ 'पेशस्' (सुन्दर) होने के लिये अच्छी प्रकार सँवारे गये है (तक्षाः)। इस प्रकार सौन्दर्याभिव्यक्ति में मन, हृदय और दक्षता ने समान रूप से भाग लिया है।

---

२८. Die Litratur des alten Indiens, Stuttgart 1903, P. 208

२९. Vedische Studien III, P 109

३०. Stylistic Repetitions in the Veda, Amsterdam 1959

७. ऋग्वेद मे लौकिक मन्त्र

विभिन्न देवताओ की स्तुतियो के अतिरिक्त ऋग्वेद मे ऐसे भी बहुत से सूक्त बिखरे पडे है जिनमे लौकिक जीवन की झाँकी दृष्टिगोचर होती है। यद्यपि ऐसे सूक्तो की संख्या लगभग बीस ही है, किन्तु वे अपने वर्ण्य-विषय की दृष्टि से बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इन सूक्तो मे कुछ ऐसे भी सूक्त है जो दो व्यक्तियो के सवादो से सम्बन्धित है जिन्हे 'सवादसूक्तो' की सज्ञा दी जाती है। कुछ सूक्त अन्य विषयो से सम्बन्धित है। सबसे प्रसिद्ध सूक्त ऋ० १०,८५ है जिसमे उस काल के विवाह, वैवाहिक जीवन, समाज और पारिवारिक व्यवस्था मे स्त्री के स्थान आदि का चित्रण मिलता है। इस सूक्त मे सूर्या के विवाह के माध्यम से उस काल की वैवाहिक विधि-विधानो का सकेत प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त इसी मण्डल के प्रारभिक अश मे अन्त्येष्टि संस्कार सम्बन्धी परम्परा का वर्णन पाँच सूक्तो (ऋ० १०,१४-१८) मे मिलता है। इनमे से चार सूक्त उन देवताओ से सम्बद्ध है जो पुनर्जन्म या पारलौकिक जीवन के नियामक है। अन्तिम सूक्त वैदिक-कालीन भारतीय समाज की अन्त्येष्टि संस्कार सम्बन्धी प्रक्रिया का विवेचन प्रस्तुत करता है।

इन सूक्तो के अतिरिक्त छ सवाद सूक्त है (ऋ० ४,६२,१०,५१,५२, ६; १०३) और दो सूक्तो मे एक (ऋ० १०,९५) मे एक दैवी शक्ति उर्वशी का संवाद मानवीय शक्ति पुरूरवस् से है, जो प्रेमकाव्य की परम्परा का सूत्रपात माना जा सकता है। कालिदास का प्रसिद्ध नाटक 'विक्रमोर्वशीयम्' इसी पर आधारित है। इसके अतिरिक्त अन्य सूक्त 'यमयमीसवाद' (ऋ० १०,१०) है जिसमे यमी अपने सहोदर भाई को अपने साथ कामकलाप के लिये प्रेरित करती है और यम यह कहता है कि उसे देवता चारो ओर से प्रति क्षण देख रहे है। यह सूक्त उस काल की नैतिक भावना का सुन्दर उदाहरण है।

इन संवाद सूक्तो के अतिरिक्त चार सूक्त 'स्वयंसवाद' के रूप में माने जा सकते है। इनमे एक में (ऋ० १०,३४) जुआरी की भावनाओ, वेदनाओ एव सलाहो का प्रस्फुटन उसी के शब्दो में हुआ है जिसमे वह द्यूतक्रीडा की प्रवृत्ति की निन्दा करता है और लोगो को कृषि करने की प्रेरणा देता है। दूसरे सूक्त (ऋ० १०,१२५) में 'वाक्' अपनी महत्ता का वर्णन करती है। तीसरे (ऋ० ९,११२) सूक्त में विभिन्न प्रकार के धनोपार्जन के भावो का कथन है और चतुर्थ (ऋ० १०,११७) मे सुकर्मों के मूल्य का वर्णन है। इनके अतिरिक्त कुछ दानस्तुतियाँ भी है जिन्हे लौकिक मन्त्रो की श्रेणी मे रखा जा सकता है।

८. ऋग्वैदिक धर्म और दर्शन

मानव को जिस समय से विचार की शक्ति मिली उसी समय से उसका कोई न कोई धर्म था। वैदिक आर्यो की सभ्यता विकसित विचारो से परिपूर्ण थी, इसलिये उसकी धार्मिक मान्यताएँ भी विकासशील मान्यताओ वाली थी। ऋग्वैदिक धर्म के सम्बन्ध मे दो विचार धारायें है। कुछ लोगो का मत है कि उस काल के धर्म का उद्भव और विकास यज्ञ के विधि-विधानो के माध्यम से हुआ और कुछ लोगो के मतानुसार प्राकृतिक उपादानो के भय से उत्पन्न विचारो के माध्यम से हुआ। किन्तु ये दोनो विचार असगत है। ऋग्वैदिक काल के आर्यो का धर्म प्राकृतिक शक्तियो के नियमित संचालन से उद्भूत सत्य पर आधारित और उन्ही नियमो को जीवन के विविध रूपो मे सलग्न करने के साथ उद्भूत हुआ तथा इन्ही विभिन्न शक्तियो को विभिन्न रूपो मे देखकर भी एक परम नियामक शक्ति को ही मुख्य मानकर उसी के आदर्शो को विभिन्न रूपो मे पालन करने के साथ विकसित हुआ। इस विकास मे यज्ञ की भूमिका भी महत्त्वपूर्ण रही, किन्तु यज्ञ भी उसी शक्ति, जिसे आर्यो ने 'ऋत' कहा, का प्रतिरूप मात्र रहा।

ऋग्वैदिक आर्यों का जीवन प्रकृति के अत्यन्त सन्निकट था। वे प्रकृति की अनेक शक्तियो का आकाश, अन्तरिक्ष और धरती पर अवलोकन करते थे। इनमें सूर्य, अग्नि, मेघ, जल आदि अनेक शक्तियो का वे निरन्तर चमत्कार देखते थे जिससे वे प्रभावित हुये बिना न रह सके। वे इन्ही को अनेक रूपो में देखते थे, किन्तु इसका भी अनुमान उन्हे था कि इन सबकी नियामक भी कोई न कोई शक्ति होगी, और इसी कारण उन्होने पहले अलग-अलग शक्तियो को अन्य अन्य देवताओ का सर्जक कहा, जो विचारधारा अनेक रूपो मे पल्लवित हुयी। इन शक्तियो के साथ मानव के निकट सम्बन्ध के कारण ही अनेक देवशास्त्रीय कथाओ का भी विकास हुआ। ऋग्वेद मे जिन अनेक शक्तियो की वैदिक ऋषियो ने प्रार्थना की उनका वर्गीकरण तीन मुख्य रूपो मे किया जा सकता है—प्रथमत: पारम्परिक वर्गीकरण है जिसके आधार पर पृथिवीस्थानीय, अन्तरिक्षस्थानीय और द्युस्थानीय तीन प्रकार के देवता है। अग्नि, सोम, बृहस्पति, पृथिवीस्थानीय देवता हैं। इन्द्र, रुद्र, मरुत, वायु, मातरिश्वन्, अपानपात्, पर्जन्य, आप , वात इत्यादि अन्तरिक्षस्थानीय है। द्यौ, वरुण, सूर्य, विष्णु, मित्र, सवितृ, पूषन्, आदित्य, उषस्, अश्विन आदि द्युस्थानीय देवता है। इसका सकेत ऋ० १.१३९. ११ और ऋ० १०,१५८,१ मे किया गया हैं जिसका अनुसरण यास्क ने निरुक्त के दैवतकाण्ड मे किया है।

ऋग्वैदिक काल का समस्त धर्म इन्ही तीनो प्रकार के देवी-देवताओं की प्रार्थना एवं यज्ञ के माध्यम से उनकी पूजा पर आधारित था। अनेक देवताओ की प्रार्थनाओ के आधार पर यह कहा जाता है कि उस काल मे बहु-देवतावाद का प्रचार था जो धीरे-धीरे एक देवतावाद के रूप में विकसित हुआ। बहु-देवतावाद का एक-देवतावाद के साथ जो विचित्र सम्मिश्रण ऋग्वेद में मिलता हैं वह किसी भी अन्य साहित्य मे दुर्लभ है। प्रत्येक देवता किसी न किसी प्राकृतिक शक्ति का दैवीकरण है, किन्तु वह उस प्राकृतिक शक्ति का रूप होते हुये भी स्वतन्त्र सत्तावाला प्रतीत होता है। सूर्य, अग्नि, उषस्, वायु आदि जहाँ एक ओर प्राकृतिक रूप मे वर्णित है वही उनका स्वर्गीय शरीर, गृह, कर्म आदि उन्हे मानवीकरण भी प्रदान करता है। ऋग्वैदिक ऋषि इन प्राकृतिक शक्तियो को यज्ञ के माध्यम से हवि प्रदान करते है, किन्तु सभी को जीवधारी के रूप मे साकार भी देखते है। सभी देवता अपनी-अपनी शक्तियो सहित यज्ञ में रथ पर आगमन करते है और वहाँ पर अपनी-अपनी स्तुतियाँ सुनते तथा हवि ग्रहण करते है। इसके बदले मे यज्ञकर्ता को वे धन, सम्पत्ति, प्रजा, पशु, विजय आदि प्रदान करते हैं। उनकी कृपा के बिना मनुष्य को कुछ भी नही प्राप्त हो सकता और उनके रुष्ट होने से मनुष्य का सर्वनाश हो सकता है—यह विश्वास ऋग्वैदिक धर्म का प्राण है।

यद्यपि ऋग्वेद में अनेक प्रकार के अविकसित विचारों एव पारम्परिक मान्यताओ की कमी नही है, किन्तु मानवबलि, निर्दय हत्या, वासनात्मक विधियाँ तथा अन्य प्रकार की अमानवीय विधि-विधानो का अभाव है, जिससे स्पष्ट होता है कि उस काल का धर्म स्वस्थ एवं आनन्दपूर्ण विचारधाराओ पर आधारित था। न तो सन्यास और न तपस्, न नैराश्य और न दर्शन ही उस काल के मानव को चिन्तित करते थे। आनन्दपूर्ण जीवन की उपलब्धि ही उस काल के धर्म का परम लक्ष्य था।

पूजा के विधान दो प्रकार के थे। प्रत्येक गृहस्थ अपने गृह मे स्वयं यज्ञ करता था जिसमे देवता रूप मे अग्नि प्रधान होता था। दूसरा रूप यज्ञशालाओ में 'यज्ञ' का था जो समाज के मुखिया या राजा द्वारा कराया जाता था जिसमे होता, अध्वर्यु, ब्रह्मा, उद्गाता—चार ऋत्विक् प्रधान होते थे। इनके सहायको को मिलाकर इनकी संख्या सोलह होती थी। ये यज्ञ में हवि और स्तुतियो द्वारा देवताओ को प्रसन्न करते थे तथा यज्ञकर्ता की कामनाओ की पूर्ति के लिये प्रार्थना करते थे। इन कामनाओ मे व्यक्तिगत सम्पत्ति के साथ सामाजिक विभव एवं विजय भी सम्मिलित होती थी।

ऋग्वैदिक दर्शन

उपर्युक्त विवेचन मे कहा जा चुका है कि ऋग्वैदिक धर्म सामान्यतया बहु-देववादी प्रतीत होता है। इसके अवान्तरकालीन अशो में ही कुछ एकदेवतावादी प्रवृत्तियाँ स्पष्टतया परिलक्षित होती हैं। किन्तु गहराई मे जाने पर पता लगता है कि धीरे-धीरे ऋषियो के मानसपटल पर विश्व के अनेक रहस्यो के प्रति प्रश्न उभरने लगे थे जिसका उन्होने गम्भीरता से मनन किया। देवताओं के बाहुल्य ने उनकी मानसिक भूख को सन्तुष्ट नही किया। इसीलिये पहले एक देवता का साम्य दूसरे देवता के साथ स्थापित किया अथवा दो देवताओ को एक साथ सम्बोधित किया गया या अनेक देवताओ के समूह का भी साथ-साथ आवाहन किया गया। इस प्रकार देवताओ के विभिन्न समूह बन गये या सभी देवता 'विश्वेदेवा' के रूप में एक साथ आ गये। इस प्रकार धीरे-धीरे यह विचारधारा विकसित हुयी होगी कि 'एक अन्तिम सत्य' अथवा 'प्रमुख शक्ति' होगी जो इन सभी देवताओ की नियामक होगी। इसीलिये ऋग्वेद १,१६४,४ में यह प्रश्न उठाया गया कि "उस प्रथम उत्पन्न को किसने देखा है जिसने अस्थि रहित होते हुये भी अस्थिपूर्ण जीव को जन्म दिया ? इस भूमि का जीवन, रक्त, आत्मा कहाँ है ? क्या किसी ने उससे पूछा है जो सर्ववेत्ता है ?" संभवत इन्ही प्रश्नो के उत्तर में उसी सूक्त की ४६वी ऋक् में कहा गया है कि आन्तरिक सिद्धान्त एक 'सत्' था, जो एक होने पर भी इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, यम, मातरिश्वन् आदि अनेक नामो से पुकारा गया है—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्य स सुपर्णो गरुत्मान् ।
एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यम मातरिश्वानमाहु ॥

इस प्रकार की 'एक अन्तिम सत्य' की विचारधारा 'ऋत' सम्बन्धी विचार धारा का विकास है। ऋग्वेद मे 'ऋत' और अवेस्ता मे 'अश्' दोनों समस्त विश्व की नियामक शक्तियाँ है जिनसे समस्त सृष्टि होती है। यही भारत-ईरानी धर्मो का परम सत्य हैं। यही 'ऋत्' या 'सत्' अन्तत. परमात्मा या परब्रह्म पुरुष के रूप में दृष्टिगोचर होता है। ऋग्वेद १०,९०, में 'पुरुष' और १०,१२१ में 'हिरण्यगर्भ' उसी 'सत्' के विकास है जो ऋ० १०,१२९ में सृष्टि के प्रारम्भ में था।

सृष्टि के उद्भव का प्रश्न भी ऋषियों के लिये महत्त्वपूर्ण था। ऋ० १०, १९० में यह कहा गया कि तपस् से 'ऋत' और 'सत्य' उत्पन्न हुये। इससे ही रात्रि, समुद्र, जल उत्पन्न हुये। समुद्र से संवत्सर और रात्रि-दिन से समस्त सृष्टि

उद्भूत हुयी। धाता ने सूर्य और चन्द्रमा की सृष्टि पहले की। इसके पश्चात् द्यौ, पृथिवी और अन्तरिक्ष का निर्माण किया।

ऋ० १०,७२,२ के अनुसार 'सत्' की उत्पत्ति 'असत्' से हुयी (देवाना पूर्व्ये युगेऽसतः सदजायत)। किन्तु देवशास्त्रीय दृष्टि से देखने पर प्रतीत होता है कि प्रत्येक देवता ने क्रम से इस सृष्टि का सृजन किया। कभी अग्नि, कभी इन्द्र और कभी विष्णु इस सृष्टि के कर्ता कहे गये है। इसी प्रकार अन्य देवता भी माने गये है। किन्तु ऋ० १०,३१,७ मे यह प्रश्न किया गया है कि किस लकडी या वृक्ष से इस पृथिवी और स्वर्ग की रचना की गई ? ऋ० १०,१२१ मे 'हिरण्यगर्भ' को कहा गया है कि वह प्रथम उत्पन्न है और समस्त लोको को उसने व्याप्त किया। किन्तु ऋ० १०,१२९ (नासदीय सूक्त) मे कहा गया है कि पहले सत्-असत् कुछ भी नही था, केवल अन्धकार और जल था जिससे 'काम' उत्पन्न हुआ और इसी से सृष्टि हुयी। दार्शनिक परम्परा में इस सूक्त की विचारधाराओ का अत्यन्त महत्त्व है, क्योकि इस सृष्टि के सम्बन्ध मे कोई कुछ नही जानता। अज्ञानरूपी अन्धकार हमारी कामनाओ के साथ सम्पृक्त है और वही सब में व्याप्त है। सूक्त के अन्त मे व्यक्त संशय कि इस सृष्टि के सम्बन्ध मे कौन जानता है, अज्ञान की सुन्दर अभिव्यक्ति है।

९. ऋग्वैदिक सामाजिक जीवन

(क) जाति व्यवस्था

सम्पूर्ण ऋग्वेद मे केवल पुरुष सूक्त (१०,९०) का बारहवाँ मन्त्र ही एक ऐसा सन्दर्भ है जिसमे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चार वर्णों का स्पष्ट उल्लेख प्राप्त होता है। यद्यपि यह सूक्त पर्याप्त बाद की रचना मानी जाती है, किन्तु इतना तो स्पष्ट है कि इस सूक्त की रचना के पूर्व सामाजिक व्यवस्था में जाति या वर्ण की व्यवस्था हो चुकी थी। इसके अतिरिक्त अनेक सन्दर्भों में 'आर्यवर्ण' और 'दस्युवर्ण' का स्पष्ट उल्लेख मिलता है, जिससे स्पष्ट है कि प्राचीन काल मे कोई न कोई वर्ण भेद अवश्य था। साथ ही ब्रह्म, क्षत्र, विश् आदि शब्दो का उल्लेख भी वर्ण व्यवस्था का प्रतीक है। फ्रेंच विद्वान् दुमेजील के सिद्धान्तो के आधार पर यह कहा जा सकता है कि समस्त प्राचीन इण्डो-ईरानी समाज में पुरोहित वर्ग, योद्धा वर्ग, 'कृष्टिकर्म' रत वर्गों में सारा समाज वर्गीकृत था। यद्यपि पाउल थीमे आदि विद्वानो ने दुमेजील के सिद्धान्तो की आलोचना की है, किन्तु इतना स्पष्ट है कि ऋग्वैदिक समाज में पौरोहित्य—

कर्मनिरतवर्ग, क्षत्रियवर्ग और विश्वर्ग अवश्य ही स्थित थे, जिनका प्रतिनिधित्व क्रमशः अग्नि, इन्द्र और पूषन् आदि देवताओ के द्वारा होता है।

ऋग्वेद में 'पंचकृष्टीः' और 'पंचजना.' जैसे सामासिक शब्दो के द्वारा भी स्पष्ट होता है कि कोई न कोई वर्ण व्यवस्था उस समय अवश्य रही होगी।

ऋग्वेद के समान ही अवेस्ता में भी आथ्रवन, रथेष्ठार और विश् का कथन है जिससे इण्डो-ईरानी समाज में वर्ण व्यवस्था का स्पष्ट सकेत परिलक्षित होता है। यद्यपि उस काल मे आज के युग के समान अनेक जातियो या वर्णों की सुव्यवस्थित व्यवस्था नही थी, किन्तु इतना कहा जा सकता है कि इस प्रक्रिया का प्रारम्भ ऋग्वैदिक काल से ही हो चुका था।

(ख) विवाह और समाज में स्त्री का स्थान

एडोल्फ केगी का यह कथन कि वैदिक लोग पति-पत्नी से अधिक रागात्मक कोई दूसरा सम्बन्ध नही जानते थे, सही है (Rigveda, page 15)। उनके लिये वैवाहिक जीवन मे पत्नी उनका 'सुन्दर गृह', 'आनन्द' और 'कल्याण' की विधात्री थी जिसे वे 'गृह', 'आनन्द' और 'कल्याणी' कहते थे (द्रष्टव्य ऋ० ३,५३,४, ६ जायेदस्तम्, कल्याणिर्जाया सुरण गृहेते)।

उस काल मे पति गृहस्वामी था और पत्नी गृहस्वामिनी थी। पति अच्छी पत्नी की कामना करता था और पत्नी अच्छे पति की। पत्नी की सुन्दर वाणी के द्वारा आकृष्ट होकर पति उसके समीप आता था, अर्थात् विवाह सम्बन्ध एक दूसरे के आकर्षण पर आधारित था। ऋ० १०,३२,३ मे कहा गया है कि 'जायापतिं वहति वग्नुना...' (पत्नी पति को सुन्दर वाणी के द्वारा आकृष्ट करती है, और इस प्रकार भद्र पुरुष परिष्कृत होता है अर्थात् उसका विवाह होता है)। पत्नी पति को उसी प्रकार आनन्द देती है जैसे—सोमरस आनन्दित करता है। (जायेव पत्यावधि शेव महते—ऋ० ९,८२,४)। पति एक पत्नी के रहते दूसरी पत्नी की कामना नही करता था। सुन्दर वस्त्रादि से युक्त होकर पत्नी पति को सदैव अपने समीप स्थान देती थी (ऋ० १,१२४,७, ४,३,२)। किन्तु कही-कही दो पत्नियो के साथ रहने की भी प्रथा थी, जैसा कि ऋ० १०,१४५ मे 'सपत्नी' को दूर करने और पति को सम्यक् प्रकार से अपना बनाने की प्रार्थना किसी स्त्री के द्वारा की गई है। सपत्नी का नाम लेना भी स्त्री के लिये दुःखमय था (नह्यस्या नाम गृम्णामि नो अस्मिन्रमते जने। परामेव पराभवतं सपत्नी गमयामसि—ऋ० १०,१४५,४)। सपत्नी बाधाहेतु ओषधियो द्वारा अभिचार भी किया जाता था

(ऋ० १०,१४५,५) । जो सुन्दरी कन्यायें होती थी वे स्वयं ही पति का वरण करती थी और ऐसी वह वधू कल्याणकारी होती थी (भद्रा वधूर्भवति यत्सुपेशाः स्वयं सा मित्रं बनुते जने चित्—ऋ० १०,२७,१२) । स्वयंवर की प्रथा सम्भवत. इसलिये थी कि कही बिना देखी हुई कन्या दोष युक्त न हो । इसका संकेत ऋग्वेद के इस कथन से मिलता है कि 'जिसकी कन्या अन्धी पैदा हुई है उसे जानते हुये कौन वरण करेगा, और यदि विवाह हो गया तो उस पर क्रोध कौन करेगा—जो उसके साथ विबाह करता है वह अथवा जो उसको प्रदान करता है वह (ऋ० १०,२७,११) ।

वैवाहिक जीवन का मुख्य उद्देश्य अच्छी सन्तान उत्पन्न करना था । ऋषियो ने स्थान-स्थान पर देवताओ से अच्छे पुत्र-पौत्र की कामना की है । औरस पुत्र की कामना अनेक बार की गई है (ऋ० ७,४,७;८) ।

विधवा विवाह की प्रथा सीमित थी । पति की मृत्यु के उपरान्त विधवा अपने देवर (पति के छोटे भाई) को उसी प्रकार आकर्षित करती थी जैसे—कोई कन्या विवाह के लिए किसी पुरुष को— को वा शयुत्रा विधवेव देवरं मर्यं न योषा कृणुते सधस्थ आ ॥ ऋ० १०,४०,२ ।

विधवा नारियो के लिए सती प्रथा बहुत प्रचलित नही थी । यद्यपि अथर्ववेद में इसे 'पुराणधर्म' कहा गया है (अथर्व० १८,३,१) किन्तु ऋग्वेद १०,१८,७ के द्वारा ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है कि उसे सती होने से बचाया जाता था ।

(ग) पारिवारिक जीवन

ऋग्वैदिक समाज मे पारिवारिक जीवन का अधिक महत्त्व था । पिता परिवार का स्वामी होता था जिसके अनुशासन के अन्तर्गत सारा परिवार परिचालित होता था । ऋ० १,२४,१३ और ५,२,७ मे शुन शेप की कथा के आधार पर यह ज्ञात होता है कि अपने बालको पर माता-पिता को पूर्ण अधिकार होता था । ऋग्वेद १०,८५ के आधार पर वधू का परिवार के अन्य सदस्यो के साथ सुन्दर सम्बन्ध की कामना करते हुये यह कहा गया है कि वह अपने नन्दो, सास और श्वसुर के प्रति सुन्दर व्यवहार वाली होकर घर मे उसी प्रकार से प्रतिष्ठित हो जिस प्रकार से नक्षत्रो के मध्य ध्रुव तारा प्रतिष्ठित है । इसी प्रतिष्ठा के लिये उस काल से लेकर आज तक विवाह वेदी पर स्थित वधू को ध्रुव का दर्शन कराया जाता है । अपने पति के साथ वह उसी प्रकार से सुभग बनती है, जिस प्रकार प्रात कालीन सूर्य के साथ उषा देवी शोभित होती है । इसीलिये ऋग्वेद मे उषा के साथ 'मर्येवयोषा' (जिस प्रकार पुरुष के साथ नारी) की

तुलना बार-बार की गयी है। वही नारी माता के रूप मे पृथिवी रूपा कही गयी है जो पिता रूपी पुरुष के साथ उसी प्रकार प्रतिष्ठा प्राप्त करती है, जिस प्रकार द्यौ के साथ पृथिवी का अमर सम्बन्ध है। अन्य सम्बन्धियो मे सास, श्वसुर और भाइयो के साथ व्यक्ति के सम्बन्धो को स्थापित किया गया है। पारिवारिक नियमो का पालन न करने वाला व्यक्ति परिवार के द्वारा त्याज्य समझा जाता था। ऋग्वेद १०,३४ मे जुआरी इस बात का पश्चात्ताप करता है कि उसे उसके सास, श्वसुर, माता-पिता एवं भाई ने तो त्याग ही दिया, उसकी पत्नी ने भी परित्याग किया है।

किसी भी परिवार मे अतिथि का स्थान देवताओं के समान समझा जाता था। ऋग्वेद में अग्नि को जहाँ एक ओर गृहपति कहा गया है वही दूसरी ओर अतिथि होने का भी महत्त्व उसे प्राप्त है। इसी बात को ध्यान में रखकर अवान्तरकालीन साहित्य मे पच महायज्ञो मे अतिथियज्ञ की गणना के साथ 'अतिथिदेवो भव' का आदेश प्रत्येक ब्रह्मचारी को गृहस्थ बनने के पूर्व दिया गया।

ऋग्वेद मे भाई और बहन के सम्बन्ध को बहुत ही पवित्र माना गया है। यह बात ऋग्वेद १०,१० मे यम यमी सम्वाद द्वारा स्पष्ट होती है जहाँ एक ओर यमी अपने सगे भाई यम को अपनी कामपूर्ति के लिये प्रेरित करती है वही यम उसे नैतिक शिक्षा द्वारा बहन के पवित्र सम्बन्ध की याद दिलाता है। इस प्रकार यहाँ उस काल की नैतिकता का भी संकेत मिलता है।

(घ) भोजन-पान

ऋग्वैदिक काल मे भोजन मे अन्न और दूध का मुख्य स्थान था। अन्न मे 'यव' का स्थान मुख्य था। दूध से बनी हुई वस्तुओ मे घृत का महत्त्व प्राण के समान था। इसीलिये वैदिक साहित्य मे घृत का तादात्म्य प्राण, रस, अन्न, बल आदि से बार-बार स्थापित किया गया है। फलो और साग-सब्जियो का भी प्रयोग होता था। किन्तु किसी विशिष्ट वस्तु का नाम नही लिया गया है। केवल वनस्पति, ओषधि आदि नामो से ही इन्हे अभिहित किया गया है।

भोजन में मासाहार भी सम्मिलित था। कोई भी यज्ञ मास से रहित होने पर अपूर्ण माना जाता था। इसलिये बैल, बकरे आदि का मास भोजन के मुख्य तत्त्वो मे था, यह बात स्पष्ट रूप से कही जा सकती है।

पेय पदार्थों में सोमरस और सुरा का प्रयोग किया जाता था। किन्तु जहाँ एक ओर सोमरस को आनन्द, बल, ओज, स्फूर्ति का प्रदाता माना जाता था वही दूसरी ओर सुरा की गणना प्रमाद, अचित्ति, जुआ, क्रोध आदि के साथ

की गई है। प्रमाण हेतु ऋग्वेद ७,८६ (वरुण सूक्त) द्रष्टव्य है। सोम का महत्त्व तो इतना बढ गया कि उसे देवताओं की कोटि मे निहित किया गया और ऋग्वेद का एक मण्डल (नवम मण्डल) उसकी स्तुति मे रचा गया है। यद्यपि सोम को भी मधु कहा गया है किन्तु यह भी सम्भव है कि पेय पदार्थो में मधु का स्थान आज की शहद के समान रहा हो।

(ङ) वेश-भूषा

वस्त्रो मे धोती और उत्तरीय का स्थान मुख्य था। नीचे के वस्त्र को वासस् और उत्तरीय को अधिवासस् के नाम से पुकारा जाता था। ऋषि-मुनि मृगचर्म का भी प्रयोग वस्त्र के रूप मे करते थे। जैसा कि ऋ० १०,१३६,२ से ज्ञात होता है। लोग वस्त्र स्वय बुनते थे, यह बात ऋग्वेद के अनेक सन्दर्भो द्वारा ज्ञात होती है। ऋग्वेद मे अत्क शब्द के प्रयोग से ज्ञात होता है कि बहुत ही सुन्दर वस्त्रो का प्रयोग किया जाता था। नारियो के साथ सुवासस, पेशस् और वाधूय शब्दो के प्रयोग से ऐसा प्रतीत होता है कि नारियाँ सुन्दर वस्त्रो से सुसज्जित की जाती थी (ऋ० १,१९२,४; ५, २,३,६)।

आभूषणो मे स्वर्णनिर्मित कर्णफूल, कुरीर, रवादि आदि का प्रयोग किया जाता था। मणि एव रत्नो का प्रयोग भी आभूषणो के रूप मे किया जाता था। पुष्प-मालायें भी शरीर को सुसज्जित करने मे प्रयुक्त होती थी (ऋ० १,१२२,१४; १६६,९; २,३४,२, ४,३८,६, ५,५३,४, ८,७८,३; १०,८५,८; १८४,३)।

(च) मनोरंजन

ऋग्वैदिक लोगो का जीवन आमोद-प्रमोद से परिपूर्ण था। प्रकृति की गोद में पलते हुए उन लोगों ने प्रकृति के साथ नर्तन और गायन भी सीखा। उनके जीवन मे सगीत का रस इतना घुल-मिल गया कि उनके मुख से निकले हुए एक-एक शब्द संगीत के आरोह-अवरोह में प्रतिबद्ध थे। ऋग्वेद का प्रत्येक मन्त्र इसका प्रमाण है। प्रकृति मे वर्षा के आगमन के साथ मण्डूको ने जब अपना गान किया तो उसका अनुकरण यज्ञ की वेदी के पास बैठे हुए व्रत का चरण करने वाले ब्राह्मणो ने किया। मरुत् जिस ओर भी प्रवाहित हुये उसी ओर उन्होने संगीत की लय से मानव-कर्ण को लयमय बना दिया। यदि एक ओर 'गायन करने वाले' कारुओ ने अपने अभीष्ट देवताओ को और यजमानो को आनन्दित किया तो दूसरी ओर उत्सवो मे संगमन करने वाली (समनेव योषा) नृत्यागनाओ ने जनमानस को आह्लादित किया। पुरुषों ने भी इस नृत्य में उनका

साथ दिया (ऋ० १०,७६,६)। ऋग्वेद के सम्वाद सूक्तो से ऐसा प्रतीत होता है कि आज के नाटक का उद्भव उसी काल मे हो चुका था। अनेक क्रीडाओ मे जुआ खेलने की प्रथा उस काल में बहुत ही लोकप्रिय क्रीड़ा थी, भले ही उसका सामाजिक सम्मान नगण्य रहा हो। ऋग्वेद का अक्ष सूक्त (ऋ० १०,३४) इस बात का प्रमाण है।

(छ) आर्थिक जीवन

कृषि और पशुपालन

ऋग्वेदकालीन सारा समाज मुख्य रूप से ४ वर्गो मे विभाजित था। इनमे कुछ लोग अध्ययन-अध्यापन का कार्य करते थे। जिन्हे ब्राह्मण की संज्ञा दी गई। अन्य कुछ लोग सारे समाज की रक्षा मे तत्पर थे जिन्हे क्षत्रिय कहा गया। समाज का भरण-पोषण करने वाले वर्ग को 'कृष्टी ' या 'विश्' नाम दिया गया। यह वर्ग समाज मे अत्यधिक प्रभावशाली रहा। चतुर्थ वर्ग के अन्तर्गत दास थे जो सेवा कर्म मे निरत रहते थे। कृष्टी. या विश् कहे जाने वाले वर्ग का मुख्य काम कृषिकर्म और पशुपालन था। सभी व्यवसायो मे सम्भवतः कृषि ही प्रधान थी, क्योकि ऋग्वेद १०,३४ मे सभी कर्मो को छोडकर खेती करने की ही सलाह दी गई है (कृषिमिति कृषष्व)। कृषि मे यव का उत्पादन मुख्य रहा होगा। पशु पालन मे गाय, बकरी और अश्व का स्थान महत्त्वपूर्ण था। गाय के लिये दक्षिणा और अघ्न्या शब्दो का प्रयोग हुआ है जिससे स्पष्ट है कि जहां वह एक ओर मूल्य निर्धारण का माध्यम थी वही दूसरी ओर अहिसित होकर अतिपवित्र भी। वह केवल मनुष्यो की दुग्धदात्री माँ नही थी अपितु मरुत् जैसे देवताओ की भी माँ कही जाती थी (गो मातरो यच्छुभयन्ते अञ्जिभि.)। पशु इत्यादि की रक्षा के लिये सम्भवत कुत्ते भी पाले जाते थे। यम के द्वार पर रक्षा हेतु नियुक्त दो कुत्ते (सारमेय) इसके प्रमाण है। पूषन् देवता की सवारी छाग (बकरी) है और प्रजापति को अज (बकरे) के नाम से अभिहित किया गया है जो उस काल मे बकरी के महत्त्व का संकेत करते हैं।

१०, ऋग्वेद मे लोक कल्याण की भावना

ऋग्वैदिक ऋषि समस्त सृष्टि को परमात्मा की देन मानते थे इसीलिये उनकी दृष्टि मे समस्त प्राणी समान थे। जहाँ वे एक ओर अपने-अपने परिवार

और समाज के कल्याण की कामना करते थे वही दूसरी ओर समस्त सृष्टि को मधुमय बनाने की देवताओ से प्रार्थना भी करते थे। उन्ही के शब्दो मे—मधुमत् पार्थिवम् रजः मधु द्यौरस्तु न पिता (पृथिवी सम्बन्धी लोक और हम सबका पिता आकाश मधुमय हो), मधु वाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः (मधुमय वायु प्रवाहित हो और नदियाँ मधुमय स्रोतो से युक्त हो), माध्वीर्गावो भवन्तु नः (हमारे लिये समस्त पशु मधुमय बनें)। इस प्रकार सृष्टि और प्रकृति के अग-उपाङ्गो को सभी के कल्याण के लिये उन्होने प्रेरित किया। सभी दिशाओ से कल्याणकारी शक्तियो का आवाहन उन्होने व्यक्तिगत सुख के लिये नही, अपितु सर्वजनहिताय किया। उन्ही के शब्दों मे—आ नो भद्रा. क्रतवो यन्तु विश्वतो··· (चारो ओर से हमारे लिये कल्याणकारी शक्तियाँ आगमन करें) सभी देवताओ से उन्होने यहप्रार्थन ा की कि वे सबका कल्याण करे। उन्ही के शब्दो मे—'स्वस्ति न. इन्द्रो वृद्धश्रवा स्वस्ति न पूषा विश्ववेदा' (इन्द्र और पूषन् देवता हमारे लिये कल्याणकारी बने) जब धरती और आकाश ऋषियो के माता और पिता बन गये तब इस पर रहने वाले समस्त प्राणी उनके सगे सम्बन्धी हो गये। इसीलिये उन्होने इन दोनो से सबके भेषज की कामना की, जैसे—

तन्नो वातो मयोभु वातु भेषज तन्माता पृथिवी तत्पिता द्यौः

(वायु, माता पृथिवी और पिता द्यौ हम सबके लिये कल्याणकारी ओषधियो का वहन करें)

समाज के कल्याण के लिये उन्होने सबके भरण-पोषण को भी अपना दायित्त्व समझा। इसलिये उन्होंने ऐसे व्यक्ति को निन्दित माना जो अकेले भोजन करता है। उन्ही के शब्दो में—मोघमन्नं विन्दतेऽप्रचेता. केवलाघो भवति केवलादी—(अज्ञानी पुरुष अकेले भोजन करके केवल पापरूपी अन्न का ही भक्षण करता है)।

इस प्रकार सारे समाज के कल्याण के लिये उन्होने यह व्यवस्था बना दी कि सब लोग पहले दूसरे को खिलाकर ही अन्न ग्रहण करें।

समाज मे सौमनस्य की भावना को प्रवर्द्धित करने के लिये उन्होने सभी को एक मन होकर कार्यरत होने की प्रेरणा दी। ऋग्वेद का ऋषि यह उद्घोष करता है—

समानी व आकूतिः समानोहृदयानिवः समानमस्तु वो मनः यथा वः सुसहासति॥

(हम लोगो के सकल्प एक हो तथा हमारा हृदय भी एक हो जिस प्रकार से भी आनन्द की प्राप्ति हो सके वैसे ही हम एक मन होकर कार्यरत हो)।

इस प्रकार जाति, वर्ग, धर्म आदि के दायरो को तोड़कर समस्त ऋषियो ने

समष्टि-कल्याण की भावना का ऋग्वेद के मन्त्रो के माध्यम से उद्घोष किया। सहस्रो वर्ष प्राचीन होते हुये भी ये विचार आधुनिक भारतीय समाज, जो अनेक विषमताओं एवं विडम्बनाओ से परिपूर्ण है, को नैतिक एव आध्यात्मिक मार्ग प्रदर्शित करने में सक्षम है। आज का भारतीय समाज यदि ऋग्वेद के विचारों का अनुकरण करे तो सामाजिक सौमनस्य की उसे अवश्य ही उपलब्धि होगी।

११. ऋग्वेद की व्याख्या का विकास (५६(८)

ऋग्वेद की व्याख्या के विकास का प्रारम्भ संहिताओ के विकास से ही होता है, किन्तु उसका स्पष्ट सकेत ब्राह्मणग्रथो मे मिलता है। ब्राह्मण ग्रन्थो में यत्र-तत्र मंत्रांशों की व्याख्या संक्षिप्त रूप मे की गई है। ऐतरेय ब्राह्मण का यह अंश—"सर्वे नन्दन्ति यशसाऽऽगतेन (ऋ० १०,७२,१०)—यशो वै सोमो राजा सर्वं ह वा एतेन क्रयमाणेन नन्दति, यश्च यज्ञे लप्स्यमानो भवति यश्च न इति" (ऐ० ब्रा० ३,२)—व्याख्या के प्रारम्भिक स्वरूप का संकेत देता है, जहाँ पर एक या दो शब्दो की व्याख्या की गई है। इसी प्रकार शब्दो की निरुक्तियो के माध्यम से भी मत्राशो की व्याख्या ब्राह्मणो मे मिलती है। उदाहरणार्थ—

(१) "वृत्रो ह वा इद सर्वं वृत्वा शिश्ये। यदिमन्तरेण द्यावापृथिवी स इदं वृत्वा शिश्ये तस्माद् वृत्रो नाम" (शतपथ ब्राह्मण १,१,१,४)।

(२) "धृष्टिरसि" (यजु० १,१७)—'स यदनेनाग्नि धृष्णिववोपचरति तेन धृष्टिः' (शत० ब्रा० १,५,२,३)।

उपर्युक्त उदाहरणो में 'वृत्र' और 'धृष्टि' की निरुक्ति व्याख्या की दिशा मे प्रारम्भिक प्रयास है। इसी का विकसित रूप यास्क के निरुक्त मे प्राप्त होता है। यास्क ने वैदिक शब्दों का संकलन किया, जो निघण्टु के नाम से विख्यात है। इन्ही संकलित शब्दो की निरुक्ति उन्होने अपने निरुक्त में की और साथ ही उन शब्दो से सम्बन्धित ऋग्वेद के लगभग ६०० मंत्रों की सक्षिप्त व्याख्या भी प्रस्तुत की, जिसका स्पष्ट प्रभाव परवर्ती व्याख्याकारो पर परिलक्षित होता है। यास्क का काल लगभग सात सौ वर्ष ईसा पूर्व माना जाता है। यास्क ने अपने निरुक्त में अनेक पूर्ववर्ती निरुक्तकारो एवं उनकी व्याख्या पद्धतियो का उल्लेख किया है, जिससे व्याख्या की सुदृढ परम्परा का संकेत मिलता है। निरुक्त मे जिन व्याख्या पद्धतियो का उल्लेख किया गया है उनका संक्षिप्त विवेचन यहाँ किया जा रहा है—

(१) अधिदैवत पद्धति

निरुक्त मे केवल एक स्थान पर (निरु० १३,९) इस व्याख्या पद्धति का उल्लेख किया गया है। वहाँ पर ऋ० १,१६४,४५ के 'चत्वारि वाक् परिमिता पदानि' की व्याख्या 'पशुषु तृणवेणुमृगेष्वात्मनि' के रूप मे की है। दुर्गाचार्य ने निरुक्त की इस अश की व्याख्या मे इन्हे 'आत्मप्रवादा' के नाम से पुकारा है। 'आत्मा' से प्रत्येक वस्तु का सम्बन्ध स्थापित करने के कारण ये 'आत्मप्रवादा' कहे गये।

(२) अध्यात्म पद्धति

इस पद्धति के मानने वाले लोगो ने मत्रो की व्याख्या आध्यात्मिक रूप से प्रस्तुत की। इनका उल्लेख निरु० १३,९ में किया गया है।

(३) आख्यानसमय पद्धति

वैदिक मत्रो मे ऐतिहासिक तत्त्वो का अन्वेषण करने वाली व्याख्या पद्धति को 'आख्यानसमय' के नाम से सम्बोधित किया गया है। निरुक्त मे 'तत्र को वृत्र'? मेघ इति नैरुक्ताः, त्वाष्ट्रोऽसुर इत्यैतिहासिका' के रूप मे इसका उल्लेख मिलता है (द्रष्टव्य—निरुक्त २,१६;७,७)।

(४) नैदान

इस सम्प्रदाय का उल्लेख यास्क ने दो बार किया है (निरु,० ६,९;७.१२)। इनके मतानुसार शब्द का मूलार्थ, जो परिस्थितिवश परिवर्तनीय है, बलवान् होता है। यह सम्प्रदाय भारतीय अर्थविज्ञान के क्षेत्र मे प्रतिष्ठित था।

(५) पूर्वे याज्ञिक

इस सम्प्रदाय का भी उल्लेख निरुक्त मे दो बार मिलता है (निरु० ७,२३; ८,५)। इस सम्प्रदाय का यह मत है कि ऋग्वेद के सभी मंत्र यज्ञ की क्रियाओं से सम्बन्धित हैं। अत. उन सभी मंत्रो का अर्थ भी यज्ञ सम्बन्धी वार्ता के द्वारा ही अन्वेषणीय है, किसी बाह्य प्रमाण की आवश्यकता नही है।

(६) याज्ञिक

इस सम्प्रदाय के अनुसार जिन मंत्रों का प्रयोग यज्ञविधान के जिस सन्दर्भ मे होता है उसी सन्दर्भ के आधार पर उनका अर्थनिर्धारण भी होना चाहिये। उत्तरमीमासा का प्रवर्तन इस पद्धति के आधार पर ही दृष्टिगोचर होता है। यह सम्प्रदाय निरुक्त की पद्धति को हेय समझता रहा।

(७) परिव्राजक

यास्क ने इस सम्प्रदाय का उल्लेख केवल एक बार किया है (निरु० ५,२)। 'निर्ऋति' शब्द के निर्वचन के सन्दर्भ मे, जहाँ इनके मत का प्रदर्शन 'बहुप्रजा कृच्छ्रमापद्यते' (बहुत सतानो से दु ख उत्पन्न होता है) के रूप मे किया गया है, इनका उल्लेख प्राप्त होता है। नैरुक्तो के मतानुसार 'निर्ऋति' का अर्थ 'वर्षा' है।

(८) वैयाकरण

शब्दार्थ-ज्ञान मे व्याकरण का महत्त्व सस्कृत भाषा-साहित्य के प्रारम्भकाल से ही रहा है, इसीलिये इसे वेद का मुख कहा गया है। यास्क के पूर्व वैयाकरणो का एक ऐसा समूह रहा जो वेद की व्याख्या से संलग्न था। यास्क ने निरुक्त में इसकी तीन बार चर्चा की है (निरु० १,१२०, ९,५; १३,९)। यद्यपि निरुक्त-कारो और वैयाकरणो मे मूलत· कोई विरोध नही परिलक्षित होता, किन्तु दोनों का उद्देश्य अलग-अलग था। जहाँ वैयाकरण शब्द की प्रकृति और प्रत्यय के साथ सम्बन्ध स्थापित कर उसकी रूप-रचना तक ही अपने को सीमित रखता है, निरुक्तकार वही शब्द की निष्पत्ति के साथ उसके अर्थ पर अधिक बल देता है। किन्तु व्याकरण को वह महत्त्व देता है, इसीलिये यास्क ने कहा है कि 'नावैयाकरणाय निर्ब्रूयात्' (निरु० २,३)—'व्याकरण न जानने वाले को निर्वचन का ज्ञान न दे'।

(९) नैरुक्त सम्प्रदाय

वेद के छ· अंगो में निरुक्त भी एक है। नैरुक्तो की एक बहुत बडी परम्परा रही है जिसका उल्लेख निरुक्त मे अनेक बार किया गया है। गार्ग्य, आग्रायण, कौत्स, गालव, ओदुम्बरायण आदि अनेक नैरुक्तो के नाम मिलते है। किन्तु यास्क के निरुक्त को छोडकर किसी का भी ग्रन्थ उपलब्ध नही है।

इन समस्त व्याख्या पद्धतियो मे अध्यात्म, ऐतिहासिक और नैरुक्त सम्प्रदाय ही विशेष महत्त्वपूर्ण रहे होगे, जिनकी परम्परा आज भी किसी न किसी रूप में विद्यमान है।

यास्क ने निरुक्त में लगभग ६०० मन्त्रों की पूर्ण रूपेण अथवा आशिक रूप से व्याख्या की है। व्याख्या करते समय उन्होने मन्त्रो के शब्द क्रम को उसी प्रकार नियोजित किया है जिस प्रकार वे ऋचाओ मे है। वैदिक शब्दो के उद्धरण को न देकर वे शब्दो के पर्याय को देकर अन्य पदो को जैसा का तैसा छोड़ देते है। जैसे—वृक्षस्य नु ते पुरुहूत वयाः (ऋ० ६,२६,३) की व्याख्या

'वृक्षस्य इव ते पुरुहूत शाखा.' की है, जिसमे 'नु' और 'वया.' वैदिक शब्दो के 'इव' और 'शाखा.' पर्याय लौकिक संस्कृत से दिये गये है।

इस प्रकार के अनेक उदाहरण निरुक्त मे मिलते हैं जिनसे व्याख्या के विकास का स्वरूप निर्धारित किया जा सकता है। यद्यपि यास्क द्वारा की गई निष्पत्तियाँ एव व्याख्यायें बहुत विस्तृत नही है। किन्तु वैदिक व्याख्या के क्षेत्र में उनका महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। परवर्ती व्याख्याकारो पर यास्क का बहुत ही प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

(क) निरुक्त के परवर्ती और सायण से पूर्व ऋग्वेद के व्याख्याकार

निरुक्त के पश्चात् एक लम्बी अवधि तक ऋग्वेद पर कोई भी व्याख्या-ग्रन्थ उपलब्ध नही होता, किन्तु यास्क के पश्चात् और सायण से पूर्व ऋग्वेद की व्याख्या परम्परया निर्बाध गति से प्रवाहित होती रही होगी, इसमे कोई सन्देह नही है। सातवी शताब्दी मे स्कन्द स्वामी (६२५ ई०) का ऋग्वेद भाष्य (प्रथम अष्टक प्रकाशित है) अवतरित होता है, जो ऋग्वेद की व्याख्या मे एक नवीन प्रयास है। स्कन्द स्वामी का भाष्य अत्यन्त विशद है। इसमे प्रत्येक सूक्त के प्रारम्भ मे उस सूक्त के ऋषि और देवता का उल्लेख किया गया है। ऋचाओ के शब्दानुक्रम के साथ ही भाष्य मे भी क्रम रखा गया है। स्थान-स्थान पर निरुक्त, व्याकरण, अन्त साक्ष्य आदि के द्वारा मन्त्रार्थ को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है।

स्कन्द के पश्चात् ऋग्वेद की व्याख्या के विकास मे नारायण और उद्गीथ का नाम लिया जाता है। जो निम्नलिखित उद्धरण से स्पष्ट है—

स्कन्दस्वामी नारायण उद्गीथ इति ते क्रमात्।
चक्रुः सहैकमृग्भाष्यं पदवाक्यार्थगोचरम्॥

इससे स्पष्ट है कि नारायण ने ऋग्वेद पर अपने भाष्य की रचना स्कन्द स्वामीके साथ ही की थी। उद्गीथ ने ऋग्वेद के अन्तिम भाग पर अपना भाष्य लिखा है, जो दशम मण्डल के पाँचवें सूक्त की चतुर्थ ऋचा से लेकर ३४वें सूक्त की दूसरी ऋचा तक प्राप्त है। बीच-बीच मे कुछ मन्त्रो का भाष्य अप्राप्य है।

स्कन्द और उद्गीथ के भाष्य की पद्धति लगभग समान है। जिस अंश तक ये भाष्य प्राप्त है वह बहुत सरल और स्पष्ट शैली में है।

उद्गीथ के पश्चात् ऋग्वेद के भाष्यकारो मे माधव भट्ट का नाम प्रसिद्ध है, जिनका ग्रन्थ 'ऋग्वेद व्याख्या' ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के १ से १२१ सूक्त

तक भाष्य है ।) इसमे मन्त्रो के शब्दानुक्रम के साथ ही व्याख्या की गई है। व्याख्या मे स्वर संकेत पर विशेष ध्यान दिया गया है । प्रकरण के निमित्त अन्त - साक्ष्य का अवलम्ब लिया गया है। यास्क, शौनक आदि आचार्यों के मत का अनुसरण किया गया है ।

माधव भट्ट के पश्चात् वेंकटमाधव का नाम ऋग्वेद के व्याख्याकारो मे महत्त्वपूर्ण है। इनकी ऋगर्थ दीपिका ऋग्वेद पर महत्त्वपूर्ण व्याख्या है। प्रथमत इसका सम्पादन डा० लक्ष्मणसरुप ने ४ भागो मे लाहौर से किया था, जो ७ भागो में कुछ वर्षों पूर्व होशियारपुर से आचार्य विश्वबन्धु द्वारा पुन. सम्पादित किया गया है। वेंकटमाधव का यह भाष्य अति सक्षिप्त है। उन्होने 'वर्जयन् शब्द विस्तारम् शब्दै कतिपयै. इति' कहकर स्वय इस बात का उल्लेख किया है । इसमे केवल मन्त्रो के पदो की ही व्याख्या है । कभी-कभी पर्यायवाची पदो को देकर ही मन्त्रार्थ को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। व्याकरण सम्बन्धी तथ्यो का निर्देश नही किया गया है। ब्राह्मण ग्रन्थो तथा निरुक्त का यत्र-तत्र प्रमाण दिया गया है। यह भाष्य याज्ञिक पद्धति का प्रतिनिधित्व करता है ।

व्याख्याकारो की इसी सरणि मे धानुष्कयज्वा और आनन्दतीर्थ का नाम लेना भी समीचीन होगा, जिनमे प्रथम का भाष्य अप्राप्य है और दूसरे का भाष्य ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के केवल ४० सूक्तो पर 'छलारी टीका' के नाम से प्राप्त है। इसमे आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक पद्धतियो का समावेश किया गया है ।

इन भाष्यो के अतिरिक्त आत्मानन्द का ऋग्वेद के 'अस्यवामीय सूक्त' (ऋ० १,१६४) पर किया गया भाष्य भी प्राप्त होता है ।

सायणाचार्य

अब हम उपर्युक्त व्याख्याकारो मे सबसे अधिक प्रसिद्ध वेद के भाष्यकार सायणाचार्य पर आते है। (ऋग्वेद के परवर्तीकालीन व्याख्याकार सायण (१४वी ई० शताब्दी) एक प्रकार से भारतीय परम्परागत वैदिक व्याख्या पद्धति के अन्तिम प्रतिनिधि माने जा सकते हैं।) इनमे प्रत्यक्ष वा अप्रत्यक्ष रूप से परम्परागत वैदिक व्याख्या पद्धति की धारा विकसित हुई है। यद्यपि यह कहना कठिन है कि उक्त संकेतित यास्क द्वारा निर्दिष्ट कतिपय व्याख्या पद्धति के सम्प्रदाय समान रूप मे सायण के समय तक चलते रहे होगे।(सायण ने अपने भाष्य मे अपने पूर्ववर्ती व्याख्याकारो यास्क, माधवभट्ट, वेंकटमाधव

आदि का प्राय. अनुसरण किया है। वे अपने भाष्य मे स्थान स्थान पर यास्क के निरुक्त, ब्राह्मण, आरण्यक, प्रातिशाख्य, पाणिनीय सूत्र, कल्पसूत्र, पुराण, महाभारत, स्मृति आदि ग्रन्थो से उद्धरण उपस्थित करते हैं। उनके भाष्य की प्रमुख विशेषता याज्ञिक पद्धति को महत्ता प्रदान करना है, जो उनके पहले दीर्घ काल से चली आ रही थी।

सायण ने ऋग्वेद के प्रारम्भ में प्रथम मण्डल में ही प्राय· अपनी व्याख्या विशेष विस्तार के साथ की है—यही पर उन्होने प्राय. पदश. व्याख्या की है, जिसमें शब्द-स्वरूप, व्युत्पत्ति, स्वराघात आदि के साथ अर्थादि का सम्यक् विवेचन हुआ है। किन्तु परवर्ती मण्डलो मे मन्त्रो की सक्षिप्त व्याख्या ही प्राय: प्रस्तुत की गई है। सायण ने स्थान-स्थान पर यद्यपि अन्य सहिताओ, ब्राह्मणो आदि का आधार अपने मन्त्रार्थ को स्पष्ट करने के लिए किया है किन्तु इन्होने अपने भाष्य में यास्क के निरुक्त का विशेष रूप से उपयोग किया है।

सायण की व्याख्या पद्धति गुणवती होने पर भी वह दोषो से सर्वथा मुक्त नही रह सकी। कभी कभी तो सायण वैदिक ऋचा की विशद व्याख्या करते है किन्तु कभी-कभी वह ऋचा के मौलिक अर्थ से दूर हटते हुए दिखाई देते हैं। पाश्चात्य विद्वानो ने सायण भाष्य की प्रशसा तथा कडी आलोचना की है। विल्सन का कथन है—

'Sāyaṇa undoubtedly had a knowledge of his text for beyond the pretentions of any European scholar, and must have been in possession, either through his own learning or that of his assistants, of all the interpretations which have been perpetuated by traditional teaching from the earliest times.'[1]

मैक्सम्यूलर ने भी इसी प्रकार प्रशसा की है—

'We ought to bear in mind that five and twenty years ago, we could not have made even our first steps, we could never atleast have gained a firm footing without his (Sāyaṇa's) leading strings '[2]

मैक्डॉनेल ने सायण की आलोचना करते हुये कहा है—

१. ṚV. Translation, Vol. I, Introduction, P. XLVIII (48)
२. Introduction to ṚV. edition.

'Sayaṇa is sometimes found to depart from Yāska. Thus we arive at the dilemma either the old interpreter is wrong or the latter one does not follow the tradition. One of the defects of Sayaṇa is, in fact, that he limits his view in most cases to the single verse he has before him.'[1]

किन्तु इस आलोचना के साथ ही मैक्डॉनेल ने सायण के ऋण को भी इन शब्दो मे स्वीकार किया है—

'It must indeed be admitted that from a large proportion of Sāyaṇa's Interpretations most material help can be derived, and that he has been of the greatest service in facilitating and accelerating the comprehension of the Veda.'[2]

इन कतिपय दोषो के होते हुए भी सायण के भाष्य का महत्त्व आज भी अक्षुण्ण बना हुआ है। अत यदि सायण भाष्य को वेदार्थ समझने की कुजी कहा जाय तो कोई अत्युक्ति न होगी।

(ख) आधुनिक वैदिक व्याख्या पद्धति—"ऐतिहासिक पद्धति"

पाश्चात्त्य विद्वानो द्वारा प्रवर्तित 'आधुनिक व्याख्या पद्धति, जो कि 'ऐतिहासिक पद्धति' के नाम से ख्यात है, वैदिक अर्थानुशीलन के इतिहास में एक नूतन युग को जन्म देती है। इस नूतन वैदिक व्याख्या-पद्धति के प्रमुख प्रवर्तक श्री रुडाल्फ रोठ महोदय है। इस पद्धति के प्रमुख नियामक तत्त्व है—तुलनात्मक भाषाशास्त्र, इतिहास तथा तुलनात्मक देवशास्त्र वा धर्म आदि।[3]

इसी कारण पाश्चात्त्य व्याख्याकारो मे सबसे महत्त्वपूर्ण नाम रुडाल्फ रोठ (१८२१-१८९५) का है, जिन्होने सें० पी० को० की रचना बोह्टलिंक (१८१५-१९०४) के साथ की। इनके पश्चात् एफ० मैक्सम्यूलर (१८२३-१९०४) का नाम आता है, जिनके प्रयास संस्कृत साहित्य के अध्ययन के क्षेत्र में अद्वितीय कहे जा सकते है। सै० बु० आव् द ईस्ट के सम्पादन का कार्य, ऋग्वेद का सम्पादन, अनेक मन्त्रो का समीक्षात्मक अनुवाद, संस्कृत साहित्य का

१. A History of Sanskrit Literature, P. 62.
२. Loc Cit
३ Op Cit P. 63.

इतिहास, धर्म, भाषा, विज्ञान आदि पर अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य उनकी कृतियों मे है। रोठ ने २५ वर्ष की उम्र मे एक लेख 'An Essay in Ancient Indian Literature' नाम से ऋग्वेद के कुछ सूक्तो के आधार पर ही लिखा था जो आज भी पठनीय है। व्याख्या के क्षेत्र मे रोठ ने पहली बार सायण की कटु आलोचना की और तुलनात्मक भाषाशास्त्र के आधार पर ऋग्वेद की व्याख्या का प्रयास किया। अनेक लेखो और अपने 'सस्कृत शब्द कोष' के माध्यम से उन्होने व्याख्या के विकास को एक नयी दिशा प्रदान की।

जिन पाश्चात्य विद्वानो ने ऋग्वेद का आंग्ल अनुवाद किया उनमे एच० एच० विल्सन का नाम अग्रगण्य है। उन्होंने सायण के आधार पर ऋग्वेद का सात भागो मे अनुवाद किया जो आज भी बहुत ही उपयोगी है। इनके पश्चात् टी० एच० ग्रिफिथ ने दो भागो में सम्पूर्ण ऋग्वेद का पद्यात्मक अनुवाद प्रस्तुत किया। मैक्सम्यूलर ने ऋग्वेद के सभी मरुत् सूक्तो का अनुवाद सटिप्पण किया, जो सै० बुक्स आव् द ईस्ट के ३२ वें भाग मे प्रकाशित है। इसी सरणि में ओल्डेनबर्ग ने अग्नि सूक्तो का अनुवाद ४६ वें भाग मे प्रकाशित कराया। उन्होने ऋग्वेद के धर्म पर Religion des Veda नामक पुस्तक लिखी। जिसमे ऋग्वेद के अनेक मन्त्रो का अनुवाद भी प्राप्त है। व्याख्या सम्बन्धी इनके अनेक लेख दो भागो में कुछ वर्षों पूर्व जर्मनी से प्रकाशित हुए है।

ऋग्वेद के शब्दकोषो मे ग्रासमान का 'व्योर्टर बुख त्सूम ऋग्वेद' अब तक अद्वितीय है। ऋग्वेद की व्याख्या का अध्ययन करने वाला कोई भी छात्र इसके बिना अपना कार्य नही कर सकता। ऋग्वेद के सभी शब्दो की ससन्दर्भ सूची और उनका अर्थ इस ग्रन्थ में प्राप्त है। जर्मन भाषा में ऋग्वेद का पद्यानुवाद भी इन्होने दो भागो में प्रकाशित कराया, जो उत्तम न होते हुए भी महत्त्वपूर्ण है।

ऋग्वेद की व्याख्या के समीक्षात्मक अध्ययन के क्षेत्र मे ओल्डेनबर्ग का ऋग्वेद 'टेक्स्ट क्रिटिशे उण्ट एक्सगेटिशे नोटेन' और पिशेल तथा गेल्डनर का 'वेदिशे स्टुडीन' विकास की नई कडी है। इसी के साथ ए० लुडविग् का जर्मन मे ऋग्वेद का अनुवाद भी गण्य है, जो ५ भागो मे प्रकाशित है। Z. D. M. G. और K Z मे प्रकाशित ऋग्वेद की व्याख्या सम्बन्धी अनेक लेख और वेबर महोदय का वेदिशे स्टुडीन' भी इसी सरणि में उल्लेखनीय है।

अनेक भाषाओ में ऋग्वेद के जितने भी अनुवाद हुए हैं उनमे के० एफ० गेल्डनर का 'डेर ऋग्वेद' सर्वोत्तम है। सन् १९०९ ई० में उन्होने अपना कार्य पूर्ण कर लिया था, किन्तु उसका प्रथम भाग १९२३ मे प्रकाशित हुआ और पूर्ण प्रकाशन हार्वर्ड ओरियन्टल सीरीज मे केवल १९५१ मे ही सम्भव हो सका।

(फ्रान्स और इटली में भी ऋग्वेद की व्याख्या पर अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य हुए। इनमें बेर्गेन्य का 'रिलिजियो द वेदीक्' ऋग्वेद के धर्म पर महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है जो तीन भागो मे प्रकाशित हुआ था। इन्होने ऋग्वेद के ७० सूक्तो का अनुवाद भी फ्रेंच मे किया था, जो व्याख्या के विकास की एक कडी माना जा सकता है। फ्रेंच भाषा मे ही ऋग्वेद की व्याख्या मे नवीनतम विकास प्रो० लुईरनू की कृतियो के माध्यम से हुआ।) उन्होने पाणिनि व्याकरण का सहारा लेकर वेद की व्याख्या का एक नया अध्याय प्रारम्भ किया। उन्होने 'एत्यूद् वेदीक एत पाणिनीनेन' नाम से अपने ग्रन्थ को १६ भागो मे प्रकाशित कराया जिसमें केवल ऋग्वेद का अनुवाद ही नही अपितु वेद सम्बन्धी अनेक अनुसन्धान भी सम्मिलित हैं। वेद की व्याख्या के इतिहास मे प्रो० रनू का नाम अन्य मूर्धन्य लोगो के साथ अमर रहेगा। वैदिक देवशास्त्र सम्बन्धी अनुसन्धानो में फ्रान्स के ही प्रो० दुमेजील का नाम महत्त्वपूर्ण है, जिन्होने भा-योरोपीय देवशास्त्र सम्बन्धी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया, जिसके आधार पर यह कहा गया कि प्राचीनकाल मे भा-योरोपीय देशो मे केवल पुरोहित, क्षत्रिय और कृषक वर्ग ही सारे समाज का वर्गीकृत रूप था। प्रो० पाउल थीमे ने अपने अनुसन्धानो के द्वारा इनके सिद्धान्त का खण्डन किया। किन्तु यह सारा वाद-विवाद व्याख्या के विकास मे बहुत ही सहायक रहा। (अमेरिका मे भी ऋग्वेद की व्याख्या सम्बन्धी अनेक कार्य हुये, जिनमें 'जर्नल आफ अमेरिकन ओरियन्टल सोशाइटी' ने बहुत ही महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई।) इसके माध्यम से हॉपकिन्स, अटकिन्स, कुमारस्वामी, नार्मनब्राउन आदि अनेक विद्वानो ने व्याख्या सम्बन्धी अनुसन्धानपूर्ण लेखो को प्रकाशित कराया जिनमे अटकिन्स का Pusan in the Veda और कुमारस्वामी का Darker Side of the Dawn यहाँ उल्लेखनीय है। इसी अनुसन्धानपत्र में सी० आर० लैनमैन—का 'Noun Inflection in the Veda' प्रकाशित हुआ जो ऋग्वेद की व्याख्या मे बहुत ही सहायक है।

सम्प्रति कार्यरत विद्वानो में हालैण्ड के प्रो० यान खोदा और जर्मनी के प्रो० हान्स पीटर श्मिट का नाम उल्लेखनीय है। प्रो० खोदा अपने अनेक ग्रन्थो, जैसें—'Relation between Gods,' snd Power Brahman, Vision of the Vedic Seers, Epithets in the Rgveda, Stylistic Repititions in the Veda, Four Studies in the Language of the Veda, Change And Countinuity in Indian Religion' आदि के कारण आधुनिक वैदिक विद्वानो ने अग्रगणी है।

प्रो० श्मिट का 'वेदिश व्रत उन्ट अवेस्तिश उर्वात' और 'बृहस्पति उन्ट इन्द्र' वैदिक व्याख्या की अति नवीन कड़ियाँ है। उन्होने अपने गुरु प्रो० पाउल थीमे का नाम अपनी कृतियो के माध्यम से और अधिक गौरवान्वित किया है। इनके अतिरिक्त जर्मनी, फ्रान्स, हालैण्ड, इग्लैण्ड, अमेरिका आदि देशों मे आज भी अनेक विद्वान् वैदिक व्याख्या के क्षेत्र में कार्यरत है, जिनका नाम बिस्तार भय से यहाँ नही लिया जा रहा है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि विदेशो मे गत एक शताब्दी मे ऋग्वेद सम्बन्धी अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य हुये, किन्तु इससे यह न समझना चाहिए कि भारत इस दिशा मे शून्य की स्थिति मे रहा। गत एक शताब्दी मे यहाँ पर भी विविध कार्य हुये जिनका पूर्णरूपेण उल्लेख करना यहाँ पर असम्भव है, किन्तु कुछ नामो का गिनाना यहाँ आवश्यक प्रतीत होता है। जहाँ एक ओर डा० लक्ष्मणसरूप, आचार्य विश्वबन्धु, प्रो० काशीकर एवं सोनटक्के आदि विद्वानो ने ऋग्वेद के सम्पादन का कार्य संभाला वही दूसरी ओर प्रो० एच० डी० वेलणकर, प्रो० एस० एस० भावे, प्रो० आर० एन० दाण्डेकर आदि मनीषियो ने ऋग्वेद की व्याख्या का भी भार संभाला। सन् १९३५ के पश्चात् लगभग ३० वर्षों तक प्रो० वेलणकर ऋग्वेद के अग्रेजी अनुवाद का कार्य करते रहे जिसका अधिकांश बम्बई विश्वविद्यालय की पत्रिका मे प्रकाशित होता रहा। उसी से ऋग्वेद द्वितीय, तृतीय और सप्तम मण्डल का अनुवाद कुछ वर्षों पूर्व पुस्तकाकार रूप मे भारतीय विद्या भवन से ३ भागो में प्रकाशित हुआ। आशा है शेष भाग भी उनके शिष्य प्रकाशित करेंगे। प्रो० भावे ने ऋग्वेद नवम मण्डल का समीक्षात्मक अनुवाद आग्ल भाषा मे किया जिसके ३ भागो का प्रकाशन वे स्वयं देख सके। शेष दो भाग भी यदि बडौदा विश्वविद्यालय के अधिकारी प्रकाशित कर सके तो वेदाध्ययन के विकास मे महत्त्वपूर्ण योगदान होगा।

ऋग्वेद के अनुवाद और समीक्षात्मक व्याख्या में इन दोनों महापुरुषों का योगदान शताब्दियो तक स्मरण किया जायेगा। प्रो० दाण्डेकर के ऋग्वेद व्याख्या सम्बन्धी अनेक निबन्ध इस दिशा में निर्देशक की भूमिका अदा करते हैं।

यहाँ पर केवल मुख्य-मुख्य ग्रन्थो का ही उल्लेख किया गया है, किन्तु इनके अतिरिक्त ऋग्वेद के अनेक शब्दो, मन्त्रो एवं सूक्तो पर भी कालक्रम में अनेक मनीषियों ने अपने-अपने अनुसन्धानपूर्ण लेख प्रकाशित किये हैं, जिनके अध्ययन

विना व्याख्या के विकास को समग्र रूप मे समझना कठिन है। इस ऐतिहासिक विकास-क्रम को समझकर ही ऋग्वेद की व्याख्या के क्षेत्र मे पदसंचरण करना उचित होगा।

(ग) आधुनिक भारतीय व्याख्या-पद्धति—'रहस्यात्मक पद्धति'

पाश्चात्त्य व्याख्या पद्धति के उत्थान के साथ ही भारत में वैदिक-साहित्य के अध्ययन का पुनर्जागरण हुआ, जिसके फलस्वरूप भारत मे एक विशेष व्याख्या पद्धति का आविर्भाव हुआ, जिसे स्थूलतया 'रहस्यात्मक' पद्धति कहा जा सकता है। इसके अनुयायी स्वामी श्री मद्द्यानन्द सरस्वती, डा० कुमारस्वामी, अरविन्द घोष हैं। ये वैदिक मंत्रो का अर्थ रहस्यात्मक (Spiritual) दृष्टिकोण से करते हैं। इनकी पद्धति मे ऐतिहासिक दृष्टिकोण पूर्णतः बहिष्कृत रहता है। इसी कारण इनका अपना महत्त्व होने पर भी आधुनिक वेद के विद्वान् इनकी व्याख्याओ को स्वीकार करने मे असमर्थ हैं। डा० राधाकृष्णन् ने अरविन्द की रहस्यात्मक व्याख्याओ के सम्बन्ध मे अपना विचार व्यक्त किया है कि इनकी व्याख्या न केवल आधुनिक पाश्चात्त्य वैदिक विद्वानो के विरुद्ध है अपितु यह भारतीय परम्परागत व्याख्या तथा पूर्वमीमासा के भी विरुद्ध है। इसी से मिलती-जुलती एक व्याख्या पद्धति श्री मधुसूदन ओझा द्वारा प्रवर्तित हुई, जिसके अनुयायी उनके शिष्य पं० मोतीलाल शर्मा तथा डा० वासुदेव शरण अग्रवाल है।

१२. ऋग्वैदिक छन्द

संस्कृत वाड्मय में भाषा और शैली की दृष्टि से छन्द का महत्त्वपूर्ण स्थान है। वैदिक साहित्य का सूत्रपात ही छन्दो के माध्यम से हुआ है। छन्द के महत्त्व को प्रदर्शित करते हुए कहा गया है कि 'छन्द के विना वाक् उच्चरित नही होती' ('नाच्छन्दसि वागुच्चरति'—निरुक्त ७।२ की वृत्ति में आचार्य दुर्ग द्वारा उद्धृत)। भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र मे लिखा है—'छन्दोहीनो न शब्दोऽस्ति, न छन्द. शब्दवर्जितम्—१४।४५) अर्थात् छन्द विना कोई शब्द नही और शब्द के विना कोई छन्द नही। जयकीर्ति ने अपने छन्दोऽनुशासन में लिखा है कि सम्पूर्ण वाड्मय छन्दोयुक्त है, छन्द के विना कुछ भी नही ('छन्दोवाड्मयं सर्वं न किञ्चिच्छन्दसा विना'—छन्दोऽनुशासन १।२)। इन उद्धरणो से ज्ञात होता है कि वैदिक काल से लेकर परवर्ती काल तक छन्दो का महत्त्व अक्षुण्ण रूप से बना रहा।

छन्द का लक्षण बतलाते हुए कात्यायनमुनि ने ऋक्सर्वानुक्रमणी मे लिखा है कि—'यदक्षरपरिमाण तच्छन्द.' (ऋक्सर्वानुक्रमणी २।६) जो अक्षर परि-

माण है वही छन्द है। अथर्ववेद की बृहतसर्वानुक्रमणी में छन्द का लक्षण अक्षर संख्या के नियामक को कहा गया है—'छन्दोऽक्षरसंख्यावच्छेदकम् उच्यते'। अक्षरो के द्वारा वाणी का नियमन ही छन्द है, यह बात ऋग्वैदिक ऋषियो ने भी कही है 'अक्षरेण मिमते सप्तवाणी.' —ऋ॰ १, १६४, २४ (अक्षरेणैव सप्त-वाणी' वागाधिष्ठितानि सप्त छन्दासि मिमते निर्माणं कुर्वन्ति—सायण)।

अत विभिन्न रूपो मे अक्षर परिमाण के द्वारा रचित मन्त्रो का जो अक्षर संख्या परिमाण है, वही छन्द है। व्युत्पत्ति की दृष्टि से छन्द शब्द 'छद्' धातु से निष्पन्न किया जा सकता है, जिसका अर्थ 'वाणी का आच्छादन करने वाला' होगा। शतपथ ब्राह्मण मे कहा गया है कि यदस्मा अच्छदयंस्तस्माच्छन्दासि (८, ५, २, १) जिससे इसको 'वाणी' को आच्छादित किया उसी से वे छन्द है। निरुक्त (७, १२) मे लिखा है—'छन्दासि छादनात्'। मन्त्रो की रचना विभिन्न छन्दो मे की गयी है जिनका विवेचन यहाँ किया जा रहा है।

ऋग्वैदिक मन्त्रो की रचना मूलतः तीन प्रमुख छन्दो द्वारा की गई है—गायत्री, त्रिष्टुभ् और जगती। ऋ० १,१६४, २३ मे इन्ही ३ छन्दो का उल्लेख मिलता है—

यदगायत्रे अधिगायत्रमाहितं त्रैष्टुभाद्वा त्रैष्टुभं निरतक्षत।
यद्वा जगज्जगत्याहितं पदं य इत्तद्विदुस्ते अमृतत्वमानशु ॥

'गायत्री रूपी भूमि पर गायत्री किस प्रकार निहित थी और त्रिष्टुभ् से किस प्रकार से उन लोगो ने त्रिष्टुभ् की रचना की और सृष्टि पर जगती किस प्रकार निहित थी—जो इस बात को जानते है वे अमृतत्व को प्राप्त करते है।

इसी मन्त्र के पश्चात् इन्ही छन्दो द्वारा सप्तवाणी या सप्तछन्दो की रचना की बात कही गयी है (मिमते सप्तवाणी)। यह सात छन्द बाद मे गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुभ् और जगती के नाम से प्रसिद्ध हुये। इन्ही छन्दो में अक्षर परिमाण या पाद घटाने-बढाने से अन्य ७ छन्दो की रचना हुई जो अतिजगती, शक्वरी, अतिशक्वरी, अष्टि, अत्यष्टि, धृति और अतिधृति के नाम से विख्यात हुए। साथ ही इनके भी अनेक भेद-प्रमोद से अनेक छन्दो का विकास हुआ। यहाँ स्थानाभाव के कारण केवल इन्ही १४ छन्दो का सक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है—

१. गायत्री

गायत्री छन्द मे मुख्यरूप से तीन पाद होते है और प्रत्येक पाद में ८-८ अक्षर होते है। इस प्रकार यह छन्द कुल मिलाकर २४ अक्षरो का होता है।

कभी-कभी इसमें एक से लेकर पाँच पाद तक होते है, जिसके कारण इसके एकपदा, द्विपदा, त्रिपदा, चतुष्पदा, पञ्चपदा नाम भी है। इस छन्द का उदाहरण यह है—

अ॒ग्निमी॑ळे पु॒रोहि॑तं य॒ज्ञस्य॑ दे॒वमृ॒त्विज॑म्।
होता॑रं रत्न॒धात॑मम्॥ ऋ० १,१,१

अक्षर न्यूनाधिक्य के कारण इसके अनेक भेद-प्रभेद भी है।

२. उष्णिक्

गायत्री छन्द के प्रथम, मध्य या अन्तिम पाद मे चार अक्षर अधिक हो जाने से उष्णिक् छन्द होता है। अर्थात् इसमे तीन पाद और २८ अक्षर होते हैं। जिस पाद मे चार अक्षर अधिक होगे उसी के आधार पर इसके ककुप्, पुरउष्णिक, ककुम्नि, तनुशिरा, पिपीलिकामध्या आदि भेद होते है। कभी-कभी ७-७ अक्षरो के चार पाद भी होते है। उष्णिक् का उदाहरण यह है—

तच्चक्षु॑र्दे॒वहि॑तं शु॒क्रमु॒च्चर॑त्।
पश्ये॑म श॒रदः॑ श॒तं जीवे॑म श॒रदः॑ शतम्॥ ऋ० ७,६६,१६

३. अनुष्टुप् ✓

अनुष्टुप् में ३२ अक्षर होते है। इससे स्पष्ट है कि उष्णिक् (२८ अक्षर) मे ४ अक्षर अधिक कर देने से यह छन्द निर्मित हुआ। इसमे तीन या चार पाद होते है और इन्ही पादो एवं अक्षरो की न्यूनाधिकता से इसके अनेक भेद-प्रभेद बनते है। यहाँ पर चार पाद वाले अनुष्टुप् का उदाहरण दिया जा रहा है—

त्पर्जन्य कनि॑क्रदत् स्त॒नय॒न् हंसि॑ दु॒ष्कृतः॑।
प्रती॒दं विश्वं॑ मोदते॒ यत्कि च॑ पृथि॒व्यामधि॑॥

४. बृहती

बृहती छन्द अनुष्टुप् छन्द मे चार अक्षर बढा देने से अर्थात् ३६ अक्षर से बनता है। पादो और अक्षरो मे वृद्धि के कारण इसके अनेक भेद भी होते है। इस प्रकार इसमे चार पाद और प्रत्येक पाद मे ९-९ अक्षर होते हैं। किन्तु यह छन्द अक्षर मात्रा की दृष्टि से विवादास्पद है। ऋ० से उदाहरण देखें—

आ नूनं यातमश्विनेमा हव्यानि वां हिता ।

इमे सोमासो अधि तुर्वशे यदाविमे कण्वेषु वामथ ॥ ऋ० ८,९,१४

५. पंक्ति

पंक्ति छन्द बृहती में चार अक्षर बढा देने से अर्थात् ४० अक्षरो का होता है। इसमे भी चार पाद होते है। कभी-कभी पाँच पादो की पंक्ति होती है। पादो और अक्षरो के न्यूनाधिक्य से इसके भेद-प्रभेद भी होते हैं। इस छन्द का उदाहरण यह है—

दानासः पृथुश्रवसः कानीतस्य सुराधसः ।

रथं हिरण्ययं ददन्मंहिष्ठः सूरिरभूद्वर्षिष्ठमकृत श्रवः ॥ ऋ० ८,४६,२४

६. त्रिष्टुभ

पक्ति (४० अक्षर) के पादो मे चार अक्षर के आधिक्य से अर्थात् ४४ अक्षरो से त्रिष्टुभ् छन्द बनता है। इसमे चार पाद और प्रत्येक पाद मे ११-११ अक्षर होते है। पादो और अक्षरो के न्यूनाधिक्य से अनेक भेद भी होते है। ऋग्वेद का यह बहुत प्रचलित छन्द है। इसका उदाहरण यह है—

यो जात एव प्रथमो मनस्वान् देवो देवान् क्रतुना पर्यभूषत् ।

यस्य शुष्माद्रोदसी अभ्यसेतां

नृम्णस्य मह्ना स जनास इन्द्रः ॥ ऋ० २,१२,१

७. जगती

त्रिष्टुभ् मे चार अक्षर की वृद्धि से जगती छन्द बनता है। इसमें चार पाद और प्रत्येक पाद में १२-१२ अक्षर होते हैं। पादो और अक्षरो की न्यूनाधिकता से अनेक भेद होते हैं। उदाहरण स्वरूप यह मन्त्र है—

इमे ये नार्वाङ्न परश्चरन्ति
न ब्राह्मणासो न सुतेकरासः ।
त एते वाचमभिपद्य पापया
सिरीस्तन्त्रं तन्वते अप्रजज्ञयः ॥ ऋ० १०,७१,९

८. अतिजगती

अतिजगती छन्द मे पाँच पाद होते हैं और जगती से चार अक्षर अधिक अर्थात् ५२ अक्षर होते हैं। पादो मे अक्षर विघान क्रमशः १२ + १२ + १२ + ८ + ८ (= ५२) अक्षरों का होता है। इसका उदाहरण यह है—

प्र वो॑ म॒हे म॒तयो॑ यन्तु॒ विष्ण॑वे
म॒रुत्व॑ते गिरि॒जा ए॑व॒यामरु॑त् ।
प्र शर्धा॑य॒ प्र यज्य॑वे सु॒खा॒दये॑
त॒वसे॑ भ॒न्ददि॑ष्टये॒ धुनि॑व्रताय॒ शव॑से ।। ऋ० ५,८७,१

९. शक्वरी

इस छन्द मे सात पाद होते है और प्रत्येक पाद मे ८-८ अक्षर (७×८= ५६ अक्षर) होते है । उदाहरणार्थ—

प्रो ष्व॑स्मै पुरोर॒थम् इन्द्रा॑य शू॒षम॑र्चत ।
अ॒भीके॑ चिदु लोक॒कृत् स॒ङ्गे स॒मत्सु॑ वृत्र॒हास्माकं॑ बोधि चोदि॒ता
नभ॑न्तामन्य॒केषां॑ ज्या॒का अधि॒ धन्व॑सु ।। ऋ० १०,१३३,१

१०. अतिशक्वरी

अतिशक्वरी छन्द पाँच पादो वाला होता है और प्रत्येक पाद मे क्रमश. १६+१६+१२+८+८ (=६०) अक्षर होते है । उदाहरणार्थ—

तां वां॑ धे॒नुं न वा॑स॒रीम॒ंशुं दु॑हन्त्यद्रि॑भिः सोमं॑ दुहन्त्यद्रि॑भिः ।
अ॒स्म॒त्रा ग॑न्त॒मुप॑ नो॒ऽर्वाञ्चा॒ सोम॑पीतये ।
अ॒यं वां मित्रावरुणा॒ नृभि॑ः सुतः सोम॒ आ पी॒तये॑ सुतः ।। ऋ० १,१३७,३

इस मन्त्र में ८+८+८+७+८+१२+८ (=५९) अक्षर है । व्यूह द्वारा ६० अक्षर होते हैं । यहाँ ५ के स्थान पर सात पाद बनते है । इस छन्द के उदाहरण प्राय इसी प्रकार मिलते है ।

११. अष्टि

अष्टि छन्द मे पाँच पाद होते है । पादो में १६+१६+१६+८+८ (=६४) अक्षर होते है । उदाहरणार्थ—

त्रिक॑द्रुकेषु महि॒षो यवा॑शिरं तुवि॒शुष्म॑-
स्तृपत् सोम॑मपिब॒द् विष्णु॑ना सु॒तं यथाव॑शत् ।
स ईं॑ ममाद॒ महि॒ कर्म॒ कर्त॑वे म॒हामु॒रुं
सैनं॑ सश्चद्दे॒वो दे॒वं स॒त्यमिन्द्रं॑ स॒त्य इन्दु॑ः ।।—ऋ० २,२२,१

१२. अत्यष्टि

अत्यष्टि छन्द में सात पाद होते हैं। पादो मे अक्षरों की संख्या क्रमशः १२+१२+८+८+८+१२+८ (=६८) अक्षरो की होती है। उदाहरणार्थ—

इन्द्राय हि द्यौरसुरो अनम्नते-
न्द्राय मही पृथिवी वरीमभि-
र्द्युम्नसाता वरीमभिः।
इन्द्रं विश्वे सजोषसो
देवासो दधिरे पुरः।
इन्द्राय विश्वा सवनानि मानुषा
रातानि सन्तु मानुषा॥ ऋ० १,१३१,१

१३. धृति

धृति छन्द मे सात पाद होते है और प्रत्येक पाद मे क्रमश. १२+१२+८+८+८+१६+८ (=७२) अक्षर होते है। उदाहरणार्थ—

अवमह इन्द्र दादृहि श्रुधी नः
शुशोच हि द्यौः क्षा न भीषाँ अद्रिवो
घृणान्न भीषाँ अद्रिवः।
शुष्मिन्तमो हि शुष्मिभिर्वधैरुग्रेभिरीयसे।
अपूरुषघ्नो अप्रतीत शूर सत्वभिस्त्रिसप्तैः शूर सत्वभिः॥
—ऋ० १, १३३, ६

१४. अतिधृति

अतिधृति छन्द में आठ पाद होते हैं। प्रत्येक पाद मे क्रमशः १२+१२+८+८+८+१२+८+८ (=७६) अक्षर होते है। उदाहरणार्थ—

विश्वासां त्वा विशां पतिं हवामहे
सर्वासां समानं दंपतिं भुजे
सत्यगिर्वाहसं भुजे।
अतिथिं मानुषाणां पितुर्न यस्यासया।
अमी च विश्वे अमृतास आ वयो
हव्या देवेष्वा वयः॥ —ऋ० १, १२७, ८

नियमानुसार यहाँ आठ अक्षरो का एक पाद और होना चाहिये, किन्तु 'अतिधृति' छन्द मे ऋग्वेद मे जो भी मन्त्र हैं कही भी न तो ८ पाद मिलते है और न अक्षर संख्या ही ७६ पूरी होती है। सभी अत्यष्टि छन्द के समीप बैठते है।

१३. पदपाठ के सामान्य नियम

ऋग्वेद के अर्थनिर्धारण मे पदपाठ का अत्यन्त महत्त्व है। मंत्रो की विकृतियो में प्रथम स्वरूप शाकल्यमुनि प्रणीत पदपाठ का है। मत्र के प्रत्येक पद को अलग-अलग रूप में पाठ का नाम ही पदपाठ है। कुछ विशेष नियमो के आधार पर ही पदपाठ किया गया है। उन नियमो का सामान्य विवरण यहाँ दिया जा रहा है—

(१) प्रथमत मत्रगत समस्त सन्धियो का विच्छेद किया जाता है, जैसे—'यदेषा श्रेष्ठं यदरिप्रमासीत्' का पदपाठ—यत्। एषाम्। श्रेष्ठम्। यत्। अरिप्रम्। आसीत्।—रूप मे किया जायगा।

(२) मूल संहिता मे स्वरो का निर्धारण दो पादो (अर्द्धर्च) तक एक दूसरे से संलग्न रूप मे किया जाता है, किन्तु पदपाठ मे स्वर का निर्धारण एक पद तक ही सीमित होता है जिससे सहिता पाठ के स्वरित या प्रचय पदपाठ मे कभी-कभी अनुदात्त हो जाते हैं अथवा इसके विपरीत भी। जैसे—

यं स्मा॑ पृ॒च्छन्ति॒ कुह॒ सेति॒ घो॒रमु॒तेमा॑हु॒र्नैषो अ॒स्तीत्ये॑नम्।
यम्। स्मा॑। पृ॒च्छन्ति॑। कुह॑। सः। इति॑। घो॒रम्।
उ॒त। ईम्। आ॒हुः। न। एषः अ॒स्ति॒। इति॑। ए॒न॒म्॥

(३) विसर्ग सन्धिगत र्, ओ, ष्, स् संहिता पाठ से पदपाठ करते समय पदपाठ मे विसर्ग मे परिवर्तित हो जाते है, जैसे—

यो जात एव—का यः। जातः। एव। होगा।

(४) संहितापाठ के अन्तर्गत सन्धिगत ष, ण को क्रम से स और न हो जाते हैं, जैसे—मो षु ण. मा। सु। नः होगा।

अवग्रह विधान

समासगत अथवा कुछ अन्य दो शब्दो या प्रत्ययो के पृथक्करण को प्रदर्शित करने के लिए अवग्रह (ऽ) का विधान किया जाता है, जो इस प्रकार है—

(१) दो सामासिक शब्दो को पदपाठ मे अवग्रह द्वारा पृथक् किया जाता है; जैसे—यु॒क्तग्रा॑व्णो—यु॒क्तऽग्राव्णः। 'वनस्पति' और बृहस्पति जैसे कुछ शब्द इसके अपवाद है।

(२) क्रिया के साथ संलग्न उपसर्गो को अवग्रह द्वारा पृथक् किया जाता है; जैसे—अनुददाति—अ॒नु॒ऽददाति ।

(३) संहिता के 'इव' को अवग्रह द्वारा पृथक् किया जाता है; जैसे—श्व॒घ्नीव॒ यो—श्व॒घ्नीऽइव । य॑ ।

(४) तमप्, तरप्, मतुप्, वतुप् प्रत्ययो को भी अवग्रह-विधान होता है; जैसे—श्रेष्ठतमाय—श्रेष्ठऽतमाय ।

(५) भ्याम् और भिस् प्रत्ययो के पूर्व यदि प्रादिपदिक मे विकार न हुआ हो तो इन्हे अवग्रह द्वारा पृथक् कर दिया जाता है; जैसे—अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभि. का पदपाठ—अग्नि. । पूर्वेभि. । ऋषिऽभिः । होगा । यहाँ पूर्वेभिः मे अवग्रह नही है । क्योकि पूर्व शब्द में भिस् प्रत्यय के पूर्व ए का विकार हुआ है किन्तु ऋषिभि के साथ अवग्रह हुआ है क्योकि उसमे कोई विकार नही है ।

(६) सप्तमी के बहुवचन मे 'सु' प्रत्यय को यदि षु न हुआ हो तथा यदि उसके पूर्व दीर्घ स्वर न हो तो उसे भी अवग्रह द्वारा अलग किया जाता है ।

(७) नकारात्मक अर्थ वाले 'अन्' तथा 'न्' प्रत्ययो को भी अवग्रह द्वारा अलग किया जाता है ।

इतिकरण

(१) पादपूरक 'उ' को पदपाठ मे 'ऊँ इति' किया जाता है ।

(२) 'प्रगृह्य संज्ञक' शब्दो के पश्चात् भी इतिकरण होता है; जैसे—'बाहू' को 'बाहूइति' होगा । यदि इतिकरण और अवग्रह दोनो साथ-साथ करने पडें तो पहले इतिकरण होता है बाद मे अवग्रह, जैसे—वज्रबाहो को वज्रबाहो-इति वज्रऽबाहो होगा ।

(३) अस्मे, युष्मे, त्वे के पश्चात् भी इतिकरण होता है । ओ से अन्त होने वाले शब्दो के अन्त मे इतिकरण होता है ।

(४) द्विवचनान्त क्रिया का अन्त यदि 'ए' मे हो तो वहाँ भी इतिकरण होता है, जैसे—यम क्रन्दसी अवसा तस्तभाने मे 'तस्तभाने' को पदपाठ में तस्तभानेइति होगा ।

(५) 'र' को यदि संहिता पाठ मे विसर्ग हुआ हो तो पदपाठ मे रकार सहित इतिकरण और उस शब्द की आवृत्ति होती है,—यो दासं॒ वर्ण॒मध॑रं॒ गुहाक॑ में अकः को पदपाठ में 'अक॒रित्यकः॑' होगा ।

(६) होतृ, नेष्टृ आदि में यदि मूल 'र' हो तो वहाँ भी इविकरण होता है, जैसे—होतरिति ।

(७) अथो, उतो, यहो, तत्त्वो, भो आदि के आगे इति होता है ।

१४. ऋग्वेद मे स्वर विधान

ऋग्वेद मे स्वर सम्बन्धी नियमो का बडी कठोरता के साथ पालन किया गया है। मन्त्रोच्चारण मे स्वर नियमो का पालन न करने वाला व्यक्ति अपना सर्वनाश करता है, ऐसी मान्यता है। पाणिनि की अष्टाध्यायी मे स्वर सम्बन्धी अनेक नियमो का विधान किया गया है, जिसके आधार पर यहाँ संक्षिप्त रूप में कुछ नियमों का विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है।

ऋग्वेद मे मुख्य रूप से दो स्वर है—(१) उदात्त और (२) अनुदात्त। उच्च स्वर मे पढ़े जाने वाले स्वर को उदात्त कहते है (उच्चैरुदात्त.) और निम्न स्वर से जिसका उच्चारण हो उसे अनुदात्त कहते है। (नीचैरनुदात्त)। उदात्त के पश्चात् जो अनुदात्त स्वर होता है उसे 'स्वरित' नाम दिया गया है जिसका उच्चारण उदात्त और अनुदात्त दोनो के मध्य अर्थात् समभाव से होता है (समाहारस्स्वरित)। मन्त्र में उदात्त के पश्चात् जो अनुदात्त होता है उसकी स्वरित संज्ञा होती है, और उस स्वरित के पश्चात् आने वाले सभी अनुदात्त 'प्रचय' के नाम से अभिहित किये जाते हैं, जिनका कोई चिह्न नही होता। चिह्न उदात्त का भी नही होता, किन्तु दोनो मे अन्तर यह है कि यदि मन्त्र के प्रारम्भ में न हो तो उदात्त के ठीक पूर्व सदैव अनुदात्त होता है। मन्त्र के प्रारम्भ वाले स्वर पर यदि कोई चिह्न न हो तो उसे भी उदात्त ही समझना चाहिये। चिह्न केवल अनुदात्त और स्वरित के होते है। अनुदात्त का चिह्न स्वर (या वर्ण) के नीचे पडी रेखा के रूप मे होता है, जब कि स्वरित इसके विपरीत स्वर के ऊपर खडी रेखा के रूप मे होता है। उदाहरणार्थ—

उप॑ त्वाग्ने दि॒वे दि॑वे—ऋ० १,१,७

यहाँ 'उप॑' मे 'उ' के साथ कोई चिह्न नही है, यह उदात्त है। 'प॑' पर स्वरित का चिह्न है और उसके पश्चात् 'त्वाग्ने' पर कोई स्वर चिह्न नही है जो 'प्रचय' हैं। 'दि॒वे' में 'दि॒' के साथ अनुदात्त है जो 'वे' के उदात्त स्वर के ठीक पूर्व है। दूसरे 'दि॑वे' में 'दि॑' पर स्वरित और 'वे' पर (चिह्न रहित) प्रचय है। स्वर केवल 'स्वरो' पर होते हैं, व्यजन में नही; जैसे 'किम्' मे स्वर केवल 'कि' में 'इ' की मात्रा पर होगा 'क्' या 'म्' में नही। ऐसे ही सर्वत्र जानना चाहिये।

स्वर सम्बन्धी सामान्य नियम इस प्रकार है—

१ एक पद में 'एक' को छोडकर शेष सभी स्वर अनुदात्त होते हैं, जो उपर्युक्त ढंग से 'स्वरित' और प्रचय हो जाया करते है (अनुदात्त पदमेकवर्जम्—पा० ६,१,१५८)।

२. उदात्त के परे यदि उदात्त हो और दोनो की सन्धि हो जाय तो उदात्त ही शेष रहता है (एकादेश उदात्तेनोदात्त.) ।
३. सभी सम्बोधन पद सर्वानुदात्त होते है ('आमन्त्रितस्य च'—पा० ६,१, १९८); जैसे 'उप॑ त्वाग्ने' मे 'अ॒ग्ने॒' सर्वानुदात्त है, जो पदपाठ में प्रदर्शित किया गया है ।
४. पद के आदि मे (मन्त्र के प्रारम्भ में) यदि अनुदात्त हो तो वह स्वरित हो जाता है; जैसे 'क्व॑' ।
५ उदात्त के परे अनुदात्त का स्वरित होता है ('उदात्तादनुदात्तस्य स्वरित.'—पा० ८,४,६६) ।
६. सम्बोधन पद यदि पाद के प्रारम्भ मे हो तो आद्युदात्त होता है ('आमन्त्रितस्य च'—पा० ८,१,१९); जैसे—दोषा॑वस्त (१,१,७) ।
७ च, इव आदि अव्यय अनुदात्त होते है ('चादयोऽनुदात्ता.'—फिट् सूत्र ४,१६) ।

इन नियमो के अतिरिक्त अनेक नियम सज्ञा शब्दो, समासो एव क्रिया पदो पर अलग-अलग रूप मे है । सज्ञा एव क्रिया पदो के साथ जो प्रत्यय लगते हैं उन प्रत्ययो के कारण भी अनेक नियम बनते है । अत. प्रत्यय स्वर कहलाते है, जो कुछ इस प्रकार है—

८. प्रत्यय सदैव मूल शब्द के परे लगता है और वह आद्युदात्त होता है (प्रत्यय , परश्च, आद्युदात्तश्च—पा० ३,१,१-३) ।
९. कित् (जिस प्रत्यय मे 'क्' का लोप हो) प्रत्यय से बने शब्दो मे मूल शब्द पर अन्तोदात्त स्वर होता है ('कित.'—पा० ६,१,१६५) ।
१०. 'चित्' (जिस प्रत्यय मे 'च्' का लोप हो, जैसे—कानच्, शानच्) होने से पद पर अन्तोदात्त स्वर होता है ('चित.'—पा० ६,१,१६३) ।
११. ञ्, न् का जिस प्रत्यय में लोप हुआ हो (जैसे—वुञ्, असुन्) वे सदा आद्युदात्त होते है ('ञ्नित्यादिर्नित्यम्'—पा० ६,१,१९७) ।
१२ किन्तु 'घञ्' से निष्पन्न शब्द (ञित् होने पर भी) अन्तोदात्त स्वर वाले होते है ('घञोऽन्तोदात्त '—पा० ६,१,१५९) ।
१३. 'त्' का जिस प्रत्यय में लोप हो उससे निष्पन्न शब्द पर प्रत्यय पर स्वरित स्वर होता है ('तित्स्वरितम्'—पा० ६,१,१८५) ।
१४ सुप् (विभक्ति प्रत्यय) और 'पित्' ('प' का जिसमे लोप हो) प्रत्ययो से निष्पन्न शब्द मे प्रत्यय पर अनुदात्त स्वर होता है ('अनुदात्तौ सुप्पितौ'—पा० ३,१,२) ।

सामासिक पदो पर स्वर का निर्धारण पूर्वपद और उत्तरपद की स्थिति के अनुसार होता है।

१५. समास मे उत्तरपद पर आद्युदात्त होता है ('समासस्य'—पा० ६,१,२२३), जैसे—चर्षणिधृत ।

१६. बहुव्रीहि समास मे पूर्वपद पर प्रकृति (मूल) पर उदात्त स्वर होता है ('बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्'—पा० ६,२,१); जैसे—वज्रबाहु ।

१७. तत्पुरुष समास मे अनेक नियम लगते है, जो प्रत्यय इत्यादि के आधार पर लगते है।

क्रियापदो पर स्वर विधान प्राय प्रत्ययो के आधार पर होता है।

१८. सभी मुख्य क्रियापद सर्वानुदात्त होते है यदि वे पाद के प्रारम्भ मे न हो तो ('अनुदात्त सर्वमपादादौ'—पा० ८,१,१८); जैसे—'अधि श्रियो दधिरे पृश्निमातर ' मे 'दधिरे' पर निघात है।

१९. 'तिङ' के परे यदि 'अतिङ' हो तो सर्वानुदात्त होता है; जैसे—'अग्निमीळे पुरोहितम्' में 'ईळे' सर्वानुदात्त है ('तिङ्ङतिङ'—पा० ८,१,२८)।

२०. किन्तु यदि क्रियापद के पूर्व 'हि' अव्यय हो तो क्रिया पद पर अन्तोदात्त होता है ('हि च'—पा० ८,१,३४), जैसे 'हि चक्रिरे'।

२१. धातुये यदि उदात्त स्वर वाली हो तो या तो उन पर ही उदात्त स्वर रहेगा, या प्रत्यय के अनुसार स्वर होगा ('धातो.'—६,१,१६२)।

२२. जिनमे अभ्यास (द्वित्व) होता है उनका आदि स्वर उदात्त होता है ('अभ्यस्तानामादि'—पा० ६,१,१८९), जैसे—जघान, जजान। यहाँ 'हन्' और 'जन्' का क्रमश. 'जघान' और 'जजान' मे अभ्यास (हन + हन्, जन + जन्) हुआ है, जिससे धातु पर (√हन्, √जन्) मे आद्युदात्त है।

२३. लुङ्, लङ्, लृङ् आदि मे 'अट्' को उदात्त स्वर होता है ('लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्त.'—पा० ६,४,७१), जैसे—असृजत्, अविन्दत्, अकः आदि।

इस प्रकार पाणिनि ने अनेक नियमो का विधान किया है जिनके आधार पर स्वराङ्कन प्रक्रिया का अध्ययन किया जा सकता है। पाणिनि के अतिरिक्त फिट् सूत्रकार शन्तनव मुनि ने भी ८६ सूत्रो में ऋग्वेद के अनेक शब्दो का स्वर विधान बतलाया है। सहिता पाठ और पदपाठ मे स्वरो मे परिवर्तन होता है। मूल स्वर प्रक्रिया स्वतन्त्र रूप से पदपाठ में ही समझी जा सकती है। इसीलिये पदपाठ सम्बन्धी नियमो का निर्देश इसके पूर्व कर दिया गया है।

शान्ति पाठ

(ऋ० १.८९)

आ नो॑ भ॒द्राः क्रत॑वो यन्तु वि॒श्वतोऽद॑ब्धासो॒ अप॑रीतास उ॒द्भिदः॑ ।
दे॒वा नो॒ यथा॒ सद॒मिद्वृ॒धे अस॒न्नप्रा॑युवो रक्षि॒तारो॑ दि॒वेदि॑वे ॥ १ ॥

'चारो ओर से कल्याणकारी शक्तियाँ हमारे समीप आगमन करें । (वे) अहिंसित, अप्रतिरुद्ध एव शत्रुओ का भेदन करने वाली (हो) । देवतागण सदैव जिस प्रकार हो सके हमारे वर्धन के लिए प्रतिदिन निरन्तर रक्षा में संलग्न हो' ।

दे॒वानां॑ भ॒द्रा सु॑म॒तिर्ऋ॑जूय॒तां दे॒वानां॑ रा॒तिर॒भि नो॒ नि व॑र्तताम् ।
दे॒वानां॑ स॒ख्यमुप॑ सेदिमा व॒यं दे॒वा न॒ आयुः॒ प्र ति॑रन्तु जी॒वसे॑ ॥ २ ॥

'आर्जवयुक्त देवताओ की कल्याणकारी सुन्दर बुद्धि (हमारे अनुकूल हो) । देवताओ का उपहार हमारी ओर आवर्तित हो । हम लोग देवताओ के सख्य को प्राप्त करें । देवतागण हमारी आयु को जीने के लिये प्रवर्धित करें ।

तान्पूर्व॑या नि॒विदा॑ हूमहे व॒यं भगं॑ मि॒त्रमदि॑तिं॒ दक्ष॑म॒स्रिध॑म् ।
अ॒र्य॒मणं॒ वरु॑णं॒ सोम॑म॒श्विना॒ सर॑स्वती नः सु॒भगा॒ मय॑स्करत् ॥ ३ ॥

'भग, मित्र, अदिति, दक्ष, शोषणरहित मरुद्गण, अर्यमण, वरुण, सोम, अश्विनद्वय इत्यादि इन सभी देवताओ का हमलोग पूर्वकालीन निविदो (मंत्रो) के द्वारा आह्वान करते है । शोभन धन से युक्त सरस्वती हमें सुख प्रदान करें ।

तन्नो॒ वातो॑ मयो॒भु वा॑तु भेष॒जं तन्मा॒ता पृ॑थि॒वी तत्पि॒ता द्यौः ।
तद्ग्रावा॑णः सोम॒सुतो॑ मयो॒भुव॒स्तद॑श्विना शृणुतं धिष्ण्या यु॒वम् ॥ ४ ॥

'वायु हमारे लिये सुखकर उस औषधि को लाये, तथा मातृस्वरूपा पृथिवी और पितृस्वरूप द्यौ भी उसी को प्रदान करें । सोमाभिषव करने वाले सुखकारी पत्थर भी उसे प्रदान करें । हे अश्विनद्वय, धीमान् तुम दोनो भी उसी (भेषज) को सुनो (सुनकर प्रदान करो) ।'

तमीशा॑नं॒ जग॑तस्त॒स्थुष॒स्पतिं॑ धियंजि॒न्वमव॑से हूमहे व॒यम् ।
पू॒षा नो॒ यथा॒ वेद॑सा॒मस॑द्वृ॒धे र॑क्षि॒ता पा॒युरद॑ब्धः स्व॒स्तये॑ ॥ ५ ॥

'चराचर के स्वामी, बुद्धि के प्रेरक उसका हमलोग रक्षा के लिये आह्वान करते है । जिस प्रकार हो सके पूषन् हमारी सम्पत्ति के वर्धन के लिये हो, तथा रक्षक और अहिंसित वह कल्याण हेतु (हमारा) रक्षक हो' ।

स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः ।
स्वस्ति नस्ताक्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥ ६ ॥

'वर्धित यशवाले इन्द्र हमारा कल्याण करें, सम्पूर्ण धन (या ज्ञान) से युक्त पूषन् हमारा कल्याण करें। अहिंसित आयुध वाले गरुत्मान् हमारा कल्याण करें। बृहस्पति हमारे कल्याण का विधान करे।'

पृषदश्वा मरुतः पृश्निमातरः शुभंयावानो विदथेषु जग्मयः ।
अग्निजिह्वा मनवः सूरचक्षसो विश्वे नो देवा अवसा गमन्निह ॥ ७ ॥

'चितकबरे अश्वो वाले, पृश्नि के पुत्र, शुभगति वाले, यज्ञस्थान मे गमन करने वाले, अग्नि की जिह्वा वाले, मननशील, सूर्य के समान प्रकाशित नेत्रवाले मरुत् संज्ञक समस्त देवता हमारी रक्षा के लिये यहाँ आगमन करें।'

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥ ८ ॥

'हे देवतागण ! कानो के द्वारा हम कल्याणकारी शब्द सुनें, और हे यजनीय देवो, हम नेत्रो से सुन्दर (कल्याणकारी) वस्तुओ का दर्शन करें। दृढ अङ्गो से युक्त शरीर के द्वारा तुम्हारी स्तुति करते हुये देवताओ के द्वारा निहित आयु को प्राप्त करें।'

शतमिन्नु शरदो अन्ति देवा यत्रा नश्चक्रा जरसं तनूनाम् ।
पुत्रासो यत्र पितरो भवन्ति मा नो मध्या रीरिषतायुर्गन्तोः ॥ ९ ॥

'हे देवतागण, मनुष्य के पास (जीवन के) सौ वर्ष है, जिसके अन्तर्गत हमारे वृद्धत्व का आपने विधान किया है। इसी बीच पुत्र हमारे रक्षक बन जाते है। पुत्र गमनशील हमारी आयु को मध्य मे हिंसित न कीजिये।'

अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्रः ।
विश्वे देवा अदितिः पञ्च जना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम् ॥ १० ॥

'अदिति ही द्यौ है, वही अन्तरिक्ष है, वही मातृस्वरूपा है, वही उत्पन्नकर्त्री और पुत्र भी है। समस्त देवता और पञ्चवर्ण (समस्त मानव समूह) अदित ही है। जो कुछ उत्पन्न हुआ है अदिति है और जन्माधिकरण भी वही अदिति है।

अग्निः १.१ ॥

देवता अग्निः, ऋषि मधुच्छन्दस्, छन्दः गायत्री ॥

ॐ अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम् ।

होतारं रत्नधातमम् ॥ १ ॥

पदपाठ :

ॐ अग्निम् । ईळे । पुरःऽहितम् । यज्ञस्य । देवम् । ऋत्विजम् ।

होतारम् । रत्नऽधातमम् ॥ १ ॥

सायण—अग्निनामकं देवं स्तौमि । 'ईड स्तुतौ' इति धातु । डकारस्य ळकारो बह्वृचाध्येतृसंप्रदायप्राप्तः । तथा च पठ्यते—

'अज्मध्यस्थडकारस्य ळकारं बह्वृचा जगुः ।
अज्मध्यस्थढकारस्य ळ्हकारं वै यथाक्रमम् ॥' इति ।

मन्त्रस्य होत्रा प्रयोज्यत्वादह होता स्तौमीति लभ्यते । कीदृशमग्निम् । यथा राज्ञः पुरोहितस्तदभीष्टं संपादयति, तथा अग्निरपि यज्ञस्यापेक्षितं होमं संपादयति । यद्वा । यज्ञस्य सम्बन्धिनि पूर्वभागे आहवनीयरूपेणावस्थितम् । पुनः कीदृशम् । दानादिगुणयुक्तम् । पुनः कीदृशम् । देवानां यज्ञेषु होतृनामक ऋत्विक् अग्निरेव । तथा च श्रूयते 'अग्निर्वै देवानां होता', (ऐ० ब्रा० ३।१४) इति । पुनरपि कीदृशम् । यागफलरूपाणामतिशयेन धारयितारं पोषयितारं वा ।

अनुवाद

मै अग्नि की स्तुति करता हूँ, जो (अग्नि) पुरोहित, यज्ञ का देव, ऋत्विज्, देवो का आह्वान करने वाला और धनादिसम्पत्ति का श्रेष्ठ प्रदाता है ।

टिप्पणी

ईळे—'ईड स्तुतौ' धातु का लट् का उ. पु ए. व. का रूप है । किन्तु भाषावैज्ञानिक आधार पर इसे 'इष्' (अन्न), इड्, इडा (अन्न) के साथ सम्बन्धित किया जा सकता है । ब्रुगमान ने इसे यज् धातु के साथ सम्बन्धित

किया है (द्र० Indogermanısche Forschungen 1, 177) जो समीचीन नही है। इसका मूल अर्थ—'मैं रस या अन्न देता हूँ—' किया जा सकता है। ऋग्वेद मे अनेक स्थलो पर इस प्रकार के विचार मिलते है। 'इळा' ऋ० मे एक देवी के रूप मे है, जो अन्न की अधिष्ठात्री या पृथिवी के रूप मे प्रतिष्ठित है। 'इळा' की निष्पत्ति भी 'ईड्' धातु से ही है। अत उपर्युक्त अर्थ अधिक समीचीन हो सकता है।

पुरोहितम्—सायण ने इसे 'यज्ञस्य' के साथ अन्वित किया है, किन्तु वेङ्कट-माधव ने इसे स्वतत्र रूप मे मानकर इसकी व्याख्या 'पुरोनिहितमुत्तरवेद्याम्' किया है। पाश्चात्त्य व्याख्याकारो मे ओल्डेनबर्ग, मैक्डॉनेल, गेल्डनर आदि ने भी इसी रूप मे इसे स्वीकार किया है, जिनमे मैक्० ने इसका अनुवाद 'गृह-पुरोहित' (domestıc prıest) और गेल्० ने 'नियोजित-अधिकारी' या 'स्वामी' (Bevollmachtıgten) किया है। ओल्डे० ने 'पुरोहित' ही रहने दिया है; इसका अनुवाद नही किया ।

पुरोहित, ऋत्विज्, होतृ आदि अग्नि के सामान्य नामो के रूप मे ऋग्वेद मे आये है (द्रष्टव्य ऋ० १.४४.११ , ४५ ७ , ३ ११ १ , ८ ४४ ६ , १०. ७०.७), अतः यहाँ पर भी अग्नि के विशिष्ट विशेषण के रूप मे इसे स्वीकारना उचित होगा। किन्तु 'होता पुरोहितोऽध्वरस्य' (ऋ० ५ ११ २ ; तथा ऋ० १.४४.१० , ३.११ १ भी द्रष्टव्य) जैसे सन्दर्भो के आधार पर यदि इसे यज्ञ के साथ भी अन्वित किया जाय तो अनुचित न होगा।

पुरोहित के साथ-साथ 'देवम्' और 'ऋत्विजम्' को भी 'यज्ञस्य' के साथ ही अन्वित करना उचित होगा, यद्यपि सायण ने इन्हे 'यज्ञस्य' के साथ अन्वित नही किया है।

रत्नधातमम्—यह सामासिक पद ऋ० मे केवल दो बार आया है (ऋ० २ १.१; ५ ८.३)। अन्यत्र सायण ने इसका अर्थ यास्क के अनुसार किया है, जिन्होने इसकी व्याख्या 'रमणीयाना धनाना दातृतमम्' (निरुक्त ७.१५) रूप मे की है। वें० मा० ने भी यही अर्थ माना है। समास के 'रत्न' पद की व्याख्याओ में व्याख्याकारो मे मतान्तर है। प्रस्तुत सन्दर्भ मे सा० द्वारा किये गये अर्थ 'रत्नाना' पर मैक्० ने आपत्ति की है और कहा है कि इसका अर्थ ऋ० मे कभी भी 'रत्न' (ȷewels) नही हो सकता, अपितु 'धन' अर्थ मे ग्रहण करना ही उपयुक्त होगा। निघण्टु (२.१०.७) मे भी इसे 'धन' का ही पर्याय माना गया है। ओल्डे० और ग्रिफिथ ने भी इसी अर्थ को माना है। गेल्ड० के अनुसार इसका अर्थ प्राचीनकाल मे 'उपहार' (Belohnung, Lohn) रहा

होगा। भाषावैज्ञानिक आधार पर 'रत्न' की इ० यू० 'रेन्त्' (वस्तु) और आइरिश 'रेत्' (वस्तु) से एकरूपता स्थापित कर सकते है।

अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत।
स देवाँ एह वक्षति ॥ २ ॥

पदपाठ

अग्निः। पूर्वेभिः। ऋषिभिः। ईड्यः। नूतनैः। उत। सः। देवान्। आ। इह। वक्षति ॥ २ ॥

सायण—अयमग्निः पुरातनैर्भृग्वङ्गिर प्रभृतिभिः ऋषिभिः स्तुत्य', उत इदानीतनैरस्माभिरपि स्तुत्यः। स' अग्नि स्तुतः सन् यज्ञे देवान् हविर्भुज. आवक्षति आवहतु इत्यर्थ।

अनुवाद

अग्नि प्राचीन ऋषियो और नूतन ऋषियो द्वारा भी स्तुत्य है। वह अग्नि देवताओ को यहाँ पर लावे।

टिप्पणी

पूर्वेभिर्ऋषिभि'... नूतनै—ऋग्वेद मे अन्यत्र भी प्राचीन और नूतन ऋषियो की चर्चा की गई है, जिससे परम्परया देवताओ की स्तुति और संहिता के विकास का आभास होता है (द्र० ऋ० ६.२१.५, ७.२२.९; १०.९८.९)।

आ वक्षति—'आ' उपसर्गपूर्वक 'वह प्रापणे' धातु का प्र० पु० ए० व० मे लोडर्थ मे छान्दस लृट् का रूप है। अथवा यह लेट् का भी रूप हो सकता है। किन्तु 'लेट्' अर्थ यहाँ अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। 'तिङ्डतिङ' (पा० सू० ८.१.२८) से यहाँ निघात (सर्वानुदात्त) स्वर है।

अग्निना रयिमश्नवत्पोषमेव दिवेदिवे।
यशसं वीरवत्तमम् ॥ ३ ॥

पदपाठ

अग्निना। रयिम्। अश्नवत्। पोषम्। एव। दिवेऽदिवे। यशसम्। वीरवत्ऽतमम् ॥ ३ ॥

सायण—योऽयं होत्रा स्तुत्योऽग्निस्तेन अग्निना निमित्तभूतेन यजमानः धनं प्राप्नोति। कीदृशम् रयिम्। प्रतिदिनं पुष्यमाणतया वर्धमानमेव, न तु

कदाचिदपि क्षीयमाणम्। दानादिना यशोयुक्तं अतिशयेन पुत्रभृत्यादिवीरपुरुषोपेतम्। सति हि धने पुरुषाः सम्पद्यन्ते। रयिशब्दो 'मघम्' इत्यादिधननामसु (नि० २.१० ८) पठितः।

अनुवाद

अग्नि के द्वारा (होता या पूजक) प्रतिदिन यशस्वी और वीरतम पुत्रादियुक्त धन (सम्पत्ति) प्राप्त करे।

टिप्पणी

अश्नवत्—'अश्' (प्राप्त करना) धातु का प्र० पु० ए० व० का लेट् का रूप है।

पोषम्—पुष् (वर्धित करना, पोषण करना) धातु से 'घञ्' प्रत्यय सहित निष्पन्न 'पोष' शब्द यहाँ सा० द्वारा 'वर्धन' अर्थ मे 'रयिम्' का विशेषण है। अर्थात् ऐसा धन जो सर्वदा वर्धित होता रहे। किन्तु इसे 'सम्पत्ति' अर्थ में मानना अधिक उचित होगा।

दिवेऽदिवे—यहाँ द्वन्द्व समास है; किन्तु इसका अर्थ 'दिन और दिन' न मानकर इसे 'प्रतिदिन' के अर्थ मे ग्रहण करना चाहिये।

अग्ने यं यज्ञमध्वरं विश्वतः परिभूरसि।
स इद्देवेषु गच्छति ॥ ४ ॥

पदपाठ

अग्ने। यम्। यज्ञम्। अध्वरम्। विश्वतः। परिऽभूः। असि। सः। इत्। देवेषु। गच्छति ॥ ४ ॥

सायण—हे अग्ने त्वं यं यज्ञं विश्वत सर्वासु दिक्षु प्राप्तवानसि स एव यज्ञो देवेषु तृप्तिं प्रणेतु स्वर्गं गच्छति। प्राच्यादिचतुर्दिगन्तेषु आहवनीयमार्जालीयगार्हपत्याग्नीध्रीयस्थानेषु अग्निरस्ति। परिशब्देन होत्रीयादिधिष्ण्यव्याप्तिर्विवक्षिता। कीदृशं यज्ञम्। हिंसारहितम्। न ह्यग्निना सर्वतः पालितं यज्ञं राक्षसादयो हिंसितु प्रभवन्ति।

अनुवाद

जिस (सामान्य) यज्ञ और सोमयाग (अथवा हिंसारहित यज्ञ) को, हे अग्नि, तुम चारों ओर से व्याप्त किये हो वही देवताओं के समीप जाता है (अर्थात् उसी को देवता सम्यक् प्रकार से प्राप्त करते है)।

टिप्पणी

यज्ञमध्वरम्—सा० और वें० मा० ने यहाँ पर 'यज्ञम्' को 'अध्वर' के साथ सम्मिलित कर 'अध्वर' को यज्ञ का विशेषण माना है। किन्तु 'अध्वर' स्वयमेव यज्ञ का पर्याय है, जैसा कि यास्क ने कहा है (अध्वर इति यज्ञनाम, ध्वरति हिंसाकर्मा तत्प्रतिषेध —निरु० ३.१७)। सा० ने स्वय श० ब्रा० (१.३.३.४०) की व्याख्या मे स्वीकार किया है कि 'अध्वरशब्दो हि सोमयागे रूढ.'। अत इसे 'सोमयाग' अर्थ मे मानना सगत प्रतीत होता है। जहाँ पर पशुवध होता है किन्तु वे पशु हिंसित नही माने जाते, अपितु ऐसा माना जाता है कि वे मुक्ति प्राप्त करते है उसे 'अध्वर' कहा जाता है, जैसा कि मैत्रा० स० (१.२.५) मे कहा गया है—

न वा एतत् म्रियसे नो उत रिष्यति।।
देवमित् एतेषु पथिभि शिवेभिः॥
यत्र यन्ति सुकृतो नापि दुष्कृत।
तत्र त्वा देव सविता दधातु॥

'यज्ञ' का गौण अर्थ 'याज्ञिक हवि' भी होता है, जैसा कि ऋ० के अन्य (१०.९० ७—तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन्) सन्दर्भ द्वारा प्रतीत होता है। अत. यहाँ 'यज्ञम्' और 'अध्वरम्'—दो भिन्न विचारो को प्रस्तुत करते है। किन्तु यहाँ तृतीय पाद मे प्रयुक्त 'स.' पद इस अर्थ मे कठिनाई प्रस्तुत करता है, क्योकि वह स्पष्ट ही 'यज्ञमध्वरम्' के लिये प्रयुक्त है, और 'एक ही वस्तु' का वाचक है। अत. 'अध्वरम्' को यज्ञ का विशेषण मानना अधिक संगत जान पडता है।

परिभू.—'परि' उपसर्ग पूर्वक 'भू' धातु (व्याप्त होना) यहाँ 'रक्षा करने' अर्थ मे है। अर्थात् 'हे अग्नि, तुम सभी दिशाओ मे राक्षसो आदि से जिस यज्ञ की रक्षा करते हो'।

अग्निर्होता कविक्रतुः सत्यश्चित्रश्रवस्तमः।
देवो देवेभिरा गमत्॥ ५॥

पदपाठ

अग्निः। होता। कविऽक्रतुः। सत्यः। चित्रश्रवःऽतमः। देवः। देवेभिः। आ। गमत्॥ ५॥

सायण—अयमग्निः देवः अन्यैर्देवैर्हविर्भोजिभिः सह अस्मिन् यज्ञे स मागच्छतु। कीदृशोऽग्निः। होमनिष्पादकः। कविशब्दोऽत्र क्रान्तवचनो न तु

मेधाविनाम । क्रतुः प्रज्ञानस्य कर्मणो वा नाम । ततः क्रान्तप्रज्ञः क्रान्तकर्मा वा । अनृतरहितः फलमवश्यं प्रयच्छतीत्यर्थः । श्रूयते इति श्रवः कीर्तिः । अतिशयेन विविधकीर्तियुक्तः ।

अनुवाद

(देवो का) आह्वान करने वाला क्रान्तप्रज्ञ, सत्यशील और विशिष्टतम यशवाला देवता (या द्योतमान) अग्नि देवताओ के साथ आगमन करे ।

टिप्पणी

होता—'होतृ' शब्द का प्र० ए० व० का यह रूप 'हू' धातु (आह्वान करना या हवन करना) से निष्पन्न किया जा सकता है । यहाँ पर इसका अर्थ 'होमनिष्पादक' (सा० के अनुसार) न मानकर 'आह्वाता' मानना अधिक सगत होगा, जैसा स्कन्द ने माना है , क्योकि अग्नि को अनेक स्थलो पर देवताओ का आह्वान करने वाला कहा गया है । ('अग्निर्वै देवानाम होता'—ऐ० ब्रा० ३ १४) जिसे सायण ने भी इसके पूर्व प्रथम मन्त्र की व्याख्या मे स्वीकार किया है । साथ ही 'होतृ' का प्रधान कर्म देवताओ का आह्वान करना ही है ।

कविक्रतुः—सा० ने यहाँ पर 'कवि' शब्द के अर्थ 'क्रान्त' को यास्क (निरु० १२.३) के आधार पर माना है तथा निघण्टु-प्रणीत (नि० ३.१५.१०) अर्थ (मेधाविनाम) का बहिष्कार किया है । वें० मा० ने भी यास्क का ही अनुसरण कर 'क्रान्तप्रज्ञ ' व्याख्या की है । किन्तु यदि 'क्रतुः' का अर्थ 'प्रज्ञा' मान लें, जैसा कि निघण्टु द्वारा किया गया है, तो इस समास का अर्थ 'मेधावी' करना समीचीन होगा जैसा कि ग्रासमान (Eines Weisend = बुद्धिमान) और गेल्ड० ने (Sehr Sinn = मेधावी) भी स्वीकार किया है । 'कवि' का अर्थ वैदिकभाषा मे 'क्रान्तदर्शी' है और 'क्रान्तदर्शी' वही होगा जो 'बुद्धिमान' या 'मेधावी' होगा । यास्क ने 'कवि' शब्द की निष्पत्ति दो धातुओ 'कु' (कवि कुवते , गमन करने वाला) और 'क्रम्' (क्रमण करना) से की हैं । नि० मे 'कु' को गत्यर्थक माना गया है (२.१४) । किन्तु धातुपाठ मे 'कु' गत्यर्थक न होकर 'शब्द करने' अर्थ मे है (धा० पा० २२.५४) । अत 'कु' धा० से निष्पन्न 'कवि' शब्द का अर्थ 'गमन करने वाला या जिसकी गति दूर तक है', अथवा 'शब्द करने वाला' होना चाहिये । यास्कको दूसरी निष्पत्ति 'क्रम्' धातु से है; जिसमें 'म्' का 'व' मे परिवर्तित होना वैदिक ध्वनिविज्ञान

के अनुसार असंभव प्रतीत होता है। अत. इसे 'कु' से निष्पन्न मानना ही उपयुक्त है। 'कु' के समान इ० यू० क्वे que) 'ध्यान देना' और ग्रीक 'अकेयूएइ' (akeue1) 'वह देखता या पहरा देता है' शब्द है। इस आधार पर 'कवि' शब्द का अर्थ 'दूरगतिवाला' या 'क्रान्तदर्शी' उपयुक्त है। 'कवि' को 'मेधावी' इसलिये माना गया है कि उसकी दृष्टि भेदक या दूर तक जाने वाली होती है।

'क्रतु' शब्द को यास्क ने 'कर्म' या 'प्रज्ञा' अर्थ मे माना है (निरु० २ ७)। किन्तु भाषाविज्ञान के आधार पर यह सिद्ध किया जा चुका है कि इस शब्द का प्राचीनतम अर्थ 'शक्ति' था, जो शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक या आध्यात्मिक शक्तियो की द्योतक हो सकती है, किन्तु धीरे-धोरे अर्थ परिवर्तन अथवा अर्थ विस्तार से इसका अर्थ 'कर्म' 'यज्ञ' अथवा 'प्रज्ञा' मान लिया गया। अवेस्ता का 'ख्रतु' शब्द इसके समीप है, जो 'शक्ति' अर्थ मे है। प्रस्तुत सन्दर्भ मे इसे 'शक्ति' अर्थ मे ग्रहण करने पर पूर्ण समास का अर्थ 'कविशक्तिवाला' अर्थात् जो 'क्रान्तशक्ति या क्रान्तदृष्टि' अथवा 'मेधावी' है, किया जा सकता है। 'कविक्रतुः ब० व्री० समास है जिसके कारण पूर्वपद उदात्त है (बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्— पा० अ० ६ २ १)।

चित्रश्रवस्तमः—स्कन्द ने इस पद की व्याख्या इस रूप मे की है—'चित्रं पूजनीयम्। विचित्रपर्यायो वा चित्रशब्द। श्रव इति अन्ननाम धननाम वा कीर्ति-पर्यायो वा। अतिशयेन पूज्य विचित्र वा अन्नादीनामन्यतम यस्य स चित्रश्रवस्तमः।

'श्रव' के अर्थ का अनुसरण स्कन्द ने निश्चित ही यास्क के आधार पर किया है (निरु० १०.१)। सा० पर भी उपर्युक्त व्याख्या का पूर्ण प्रभाव है। वें० मा० ने इसकी व्याख्या 'अतिशयेनाश्चर्यश्रवण' की है।

पाश्चात्य व्याख्याकारो पर भी इन्ही व्याख्याओ का प्रभाव है। ग्रासमान, गेल्ड०, ओल्डे०, मैक्डॉनेल, ग्रिफिथ आदि सभी ने इसका अर्थ 'अतिशय प्रसिद्ध' या 'यशस्तम' किया है।

वैदिक भाषा मे 'चित्र' शब्द चयनीय, वैशिष्ट्य, सौन्दर्य अर्थो का द्योतक है। 'श्रव' पद 'श्रु' धातु (सुनना, सुनाना, प्रसारण करना, घोषणा करना आदि) से निष्पन्न है। अत. इस समास का अर्थ 'जो विचित्र रूप से सुना जाता है या विचित्र घोषणायुक्त है' हो सकता है जो लक्षणया 'विचित्रयश' का द्योतक है। अतः इसका अर्थ 'विचित्रतमयशवाला' अर्थात् 'अतिशय यश से युक्त' करना ही संगत होगा। इस पद में भी 'कविक्रतु' के समान ब० व्री० समास स्वर है। इसमे 'तमप्' प्रत्यय होने के कारण अवग्रह अन्तिम पद के साथ है।

आऽगमत्—गम् (जाना) धातु का यह प्र० पु० ए० व० का लेट का रूप है। किन्तु सा० ने इसे लोट् का रूप मानकर कहा है—'लोडन्तस्य गच्छतु इति शब्दस्य छत्वाभाव । उकारलोपश्छान्दसः । ततो रूप गमत् इति भवति ।'

यदङ्ग दाशुषे त्वमग्ने भद्रं करिष्यसि ।
तवेत्तत्सत्यमङ्गिरः ॥ ६ ॥

पदपाठ

यत् । अङ्ग । दाशुषे । त्वम् । अग्ने । भद्रम् । करिष्यसि । तव । इत् । तत् । सत्यम् । अङ्गिरः ॥ ६ ॥

सायण—अङ्ग । इत्यभिमुखीकरणार्थो निपातः । हे अग्ने त्वं हविर्दत्तवते यजमानाय तत्प्रीत्यर्थं यत् वित्तगृहप्रजारूपं कल्याणं करिष्यसि तत् भद्रं तवैव । सुखहेतुरिति शेषः । हे अग्ने एतच्च न त्वत्र विसवादोऽस्ति । यजमानस्य वित्तादिसम्पत्तौ सत्यामुत्तरक्रत्वनुष्ठानेनाग्नेरेव सुख भवति । भद्रशब्दार्थं शाट्यायनिनः समाम्नन्ति—'यद्वै पुरुषस्य वित्तं तद् भद्र गृहा भद्रं प्रजा भद्रं पशवो भद्रम्' इति ।

अनुवाद

हे अग्नि ! तुम जो भी कल्याणकारी कर्म उदार (या दानशील) व्यक्ति के लिये करोगे तुम्हारा वह (कर्म), हे अङ्गिरस ! सत्य ही होगा ।

टिप्पणी

दाशुषे—'दाश्रृ दाने' (धा० पा० २१.१८) से निष्पन्न 'दाश्वंस्' शब्द का चतु० ए० व० का यह रूप ऋ० मे ११९ बार आया है, जिसका अर्थ सा० ने विभिन्न सन्दर्भो मे 'दान करने वाला', 'हवि प्रदाता यजमान', 'पूजक' आदि किया है । वें० मा० ने यहाँ 'हवि प्रयच्छवते' व्याख्या की है । पाश्चात्त्य व्याख्याकारो मे ग्रासमान ने इसका अर्थ 'पूजक' (den Gottern huldigend) किया है जिसका अनुसरण ओल्डे०, ग्रिफिथ, मैक्डॉ० आदि ने भी किया है । गेल्डनर ने यहाँ पर इसका अर्थ 'उदार' या 'दानशील' (der Spender) किया है । 'दाश्रृ' धा० के अनेक अर्थो मे—'सेवा करना, आदर करना, हवि देना, दान देना, समर्पण करना'—आदि है जिनके आधार पर 'दाशुषे' के भी उपर्युक्त विभिन्न अर्थ सम्भव है । पर यहाँ 'अग्नि का सेवक या पूजक अर्थात् अग्नि को हवि प्रदान करने वाला' या 'यज्ञ मे उदारता से दान करने वाला' ही अभिप्रेत है ।

यहाँ 'दाश्वान्साह्वान्मीढ्वाश्च' (पा० सू० ६ १.१२) सूत्र के आधार पर 'दाश्‍ दाने' धा० मे 'क्वसु' प्रत्यय किया गया है जिसकी निपातन सज्ञा है । इसी कारण यह प्रत्ययस्वर प्रधान होकर 'आद्युदात्तश्च' (पा० अ० ३ १.३) से प्रत्यय का आदि उदात्त है ।

त्वम्—छन्द को ध्यान मे रखते हुए ऋ० मे 'त्वम्' को सर्वत्र 'तुअम्' पाठ किया जाता है ।

करिष्यसि—'कृ' (करना) धा० का लृट् का म० पु० ए० व० का रूप है ।

अग्ने—यहाँ 'अग्ने' मध्य मे प्रतीत होता है इसलिये इसमे सर्वानुदात्त होना चाहिए था, क्योकि सम्बोधन जब वाक्य के मध्य या अन्त मे हो तो सर्वानुदात्त होता है, किन्तु यहाँ वाक्य की दृष्टि से यह द्वितीय पाद के प्रारम्भ मे है । अत. वाक्य का प्रारम्भ करने के कारण यह 'आमन्त्रितस्य च' (पा० ८.१.१९) के आधार पर आद्युदात्त है ।

अङ्गिर —अग्नि को अङ्गिरा ऋषियो के साथ सम्बद्ध किया गया है । ऐ० ब्रा० मे कहा गया है कि—'ये अङ्गारा आसस्तेऽङ्गिरसोऽभवन् (ऐ० ब्रा० ३.३४) सभवत. इसी 'अङ्गार' के कारण अग्नि को 'अङ्गिर' कहा गया है । उपर्युक्त सूत्र (पा० ८.१.१८) के आधार पर यह सर्वानुदात्त है ।

उप त्वाग्ने दिवेदिवे दोषावस्तर्धिया वयम् ।
नमो भरन्त एमसि ॥ ७ ॥

पदपाठ

उप । त्वा । अग्ने । दिवेऽदिवे । दोषाऽवस्तः । धिया । वयम् ।
नमः । भरन्तः । आ । इमसि ॥ ७ ॥

सायण—हे अग्ने ! वयमनुष्ठातार· दिवेदिवे प्रतिदिन दोषावस्तः रात्रावहनि च धिया बुद्धया नम· भरन्तः नमस्कारं सम्पादयन्त उप समीपे त्वा एमसि त्वामागच्छाम ।

अनुवाद

हे अग्नि ! तुम्हारे समीप हम लोग प्रतिदिन नमस्कार सम्पादन करते हुए, हे रात्रि के प्रकाशक ! आगमन करते है ।

टिप्पणी

त्वा—'युष्मद्' शब्द का द्वि० ए० व० का वैदिक रूप है । यह प्राय 'उप' उपसर्ग के साथ प्रयुक्त होता है ।

अग्ने—सम्बोधन मे होने के कारण तथा पाद के मध्य मे होने के कारण यह 'अनुदात्त सर्वम् (पा० सू० ८.१ १८)' से सर्वानुदात्त है।

दोषावस्तः—यह समास ऋ० मे केवल यही पर आया है। सा० के समान वें० मा० ने भी इसकी व्याख्या 'सायञ्च प्रातश्च' की है तथा उनके पूर्ववर्ती व्याख्याकार माधव ने—'दोषाया आच्छादितः दोषा निशा भवति, दूषयति दर्शनीयम्' और स्कन्द ने—'दोषेति रात्रिनाम वश आच्छादने, रात्रौ स्वेन ज्योतिषा तमसामाच्छादयित.'—व्याख्या की है। पाश्चात्य व्याख्याकारों ने इसे सम्बोधन का रूप माना है। ग्रासमान और गेल्ड० ने इसका अर्थ 'रात्रि या अन्धकार का प्रकाशक' (Dunkel Erheller) किया है जिसका अनुसरण ओल्डे०, ग्रिफिथ, मैक्डॉ० आदि ने भी किया है। प्रो० रनू ने इसका अर्थ—'जो रात्रि मे प्रकाशित होता है' किया है।

आ० श्रौ० सू० (३ १२.४) और शा० गृ० सू० (५.५.४) मे स्पष्ट रूप से इस शब्द को सम्बोधन के रूप मे लिया गया है। वहाँ पर अग्नि का 'दोषावस्तः' और 'प्रातर्वस्त ' के रूप मे आह्वान किया गया है। ऋ० ३ ४९.४ मे इन्द्र को 'क्षपाम् वस्ता' (रात्रियो का प्रकाशक) कहा गया है। अत 'दोषावस्त.' को एक शब्द के रूप मे सम्बोधन मानना सगत होगा। स्वर के आधार पर भी यह स० ही प्रतीत होता है। क्योकि पाद के प्रारम्भ मे होने से यह 'आमन्त्रितस्य च' (पा० अ० ८.१.१९) सूत्र के आधार पर आद्युदात्त है।

(आ) इमसि—'आङ्' उपसर्गपूर्वक 'इण् गतौ' धातु का उ० पु० ब० व० का लट् का यह रूप 'मसि' प्रत्यय सहित ऋ० मे पाँच बार आया है। अन्यत्र 'मस्' प्रत्यय मिलता है।

राजन्तमध्वराणां गोपामृतस्य दीदिविम्।
वर्धमानं स्वे दमे ॥ ८ ॥

पदपाठ

राजन्तम् । अध्वराणाम् । गोपाम् । ऋतस्य । दीदिविम् । वर्धमानम् । स्वे । दमे ॥ ८ ॥

सायण—पूर्वमन्त्रे त्वामुपैम इत्यग्निमुद्दिश्योक्तम्। कीदृशं त्वाम्। राजन्त दीप्यमानम् अध्वराणां राक्षसकृतहिंसारहितानां यज्ञानां गोपां रक्षकम् ऋतस्य सत्यस्यावश्यंभाविन. कर्मफलस्य दीदिविम् पौन·पुन्येन भृशं वा द्योतकम्।

आहुत्याधारमग्निं दृष्ट्वा शास्त्रप्रसिद्धं कर्मफलं स्मर्यते । स्वे दमे स्वकीयगृहे यज्ञशालायां हविर्भिः वर्धमानम् ॥

अनुवाद

यज्ञो के ऊपर शासन करते हुए, द्योतनशील होकर ऋत की रक्षा करते हुए अपने गृह मे वर्धित (होते हुए) (अग्नि के समीप हम गमन करते है) ।

टिप्पणी

राजन्तम्—'राजृ दीप्तौ' (धा० पा० १९ ७४) धा० का शतृ प्रत्ययान्त रूप है । किन्तु यहाँ अन्य व्याख्याकारो के मतानुसार यह 'शासन करने' अर्थ मे प्रयुक्त है, जैसा कि स्कन्द० ने माना है—'राजन्तम् राजतिरैश्वर्यकर्मा; ईशानम्' । निघण्टु मे भी इसे इसी अर्थ मे पढा गया है—'इरज्यति, पत्यते क्षयति राजतीति ऐश्वर्यकर्मण.' (नि० २.२१) । ग्रासमान, गेल्ड०, ओल्डे०, ग्रिफिथ, मैक्डॉ०, रनू आदि सभी व्याख्याकारो ने इसे शासन करने के अर्थ मे ही ग्रहण किया है ।

मूलत 'राज्' धातु का अर्थ 'प्रकाशित होना' ही रहा होगा, किन्तु समय के प्रवाह मे इसका अर्थ-विस्तार हुआ और 'शासन करना' अर्थ प्रमुख बन गया । किन्तु ऋ० मे 'राजन्तम्' पद, जो चार स्थलो पर अग्नि के ही साथ आया है, सर्वत्र अपने मूल अर्थ 'दीप्त होने' का ही द्योतक प्रतीत होता है, जैसे—

१. अग्निं राजन्तं दिव्येन शोचिषा—ऋ० ३.२.४

२. राजन्तमध्वराणामग्निं शुक्रेण शोचिषा—ऋ० १ ४५.४

३ पावक राजन्त अग्निम्—ऋ० ६ १.८

उपर्युक्त उदाहरणो मे 'दिव्येन शोचिषा' और 'शुक्रेण शोचिषा' स्पष्ट रूप से 'दिव्य या पवित्र ज्वाला के द्वारा' दीप्यमान होने का भाव व्यक्त करते है, शासन करने का नही । साथ ही अग्नि को जहाँ राजा कहा गया है वहाँ वरुण आदि अन्य देवताओ के साथ उसका तादात्म्य है (द्र० ऋ० २ १ ४; २ ८) । अत. यहाँ पर सायण और वें० मा० द्वारा किया गया अर्थ 'दीप्यमान' ही उचित प्रतीत होता है । 'राजन्तम्' मे उदात्त स्वर मूल धा० (राज्) पर है, जिसे पा० सू० (६ १.१८६) के 'तास्यनुदात्तेन्ङिवदुपदेशाल्लसार्वधातुकमनुदात्त-मह्न्विडी' के आधार पर स्पष्ट किया जा सकता है ।

अ॒ध्व॒राणा॑म्—'अध्वर' का ब० ब० व० का रूप है जो समस्त प्रकार के यज्ञो का यहाँ वाचक है जैसा कि वें० मा० की व्याख्या 'यज्ञानाम्' से स्पष्ट है।

✓ ऋतस्य—'ऋत' शब्द का ष० ए० व० का रूप है। 'ऋत' के अनेक अर्थ व्याख्याकारो द्वारा दिये गये है जिसमें 'सत्य', प्राकृतिक नियम, कर्मविधि, यज्ञ आदि प्रमुख है। किन्तु ल्यूडर ने अपने शोधपूर्ण ग्रन्थ 'वरुण' के द्वितीय भाग Varuna und das Rta मे पृ० ४०२ से ५८० तक 'ऋत' सम्बन्धी समस्त अर्थो पर विचार करके यह निष्कर्ष दिया है कि 'ऋत' वेद मे कभी भी विशेषण के रूप मे नही प्रयुक्त है, अपितु यह सज्ञाशब्द है और इसका केवल एक अर्थ है, और वह है 'सत्य'।

वेद मे 'ऋत' के विलोमवाची शब्द 'अनृत', 'द्रुह', 'वृजिन' और 'यातु' है। 'ऋत' का साम्य अवेस्ता के 'अश्' से है जहाँ इसे 'सत्य' के अर्थ मे ग्रहण किया गया है।

दीदि॑विम् : 'दी' धा० (प्रकाशित होना, चमकना) से निष्पन्न यह शब्द ऋ० में केवल यही पर आया है। 'दी' धातु को अभ्यास करके यह रूप बनेगा।

इसकी ग्रीक 'देआतो', 'देइलोस' या 'देलोस' (चमकना) शब्दो के साथ तुलना कर सकते है।

दीदि॑विम् मे 'अभ्यस्तानामादि.' (पा० अ० ६ १ १८९) के आधार पर आद्युदात्त है।

स्वे—स्वे का पाठ 'सुए' के रूप मे किया जाता है तथा यह ऋ० मे तीनों पुरुषो (उ०, म०, प्र०) के सभी वचनो के लिये प्रयुक्त होता है [द्र० वे० ग्रा० पृ० ११२]।

दमे॑—ऋ० मे यह शब्द 'गृह' अर्थ मे अनेक बार आया है, किन्तु लौकिक सस्कृत में इसका लोप हो गया है। लेटिन के 'दोमुस्' और ग्रीक 'दोमोस' (गृह) से सम्बद्ध किया जा सकता है। इसकी निष्पत्ति 'दम' धा० (पोषित होना, पलना, शान्ति प्रदान करना) से की जा सकती है, अर्थात् 'दम' वह है जहाँ व्यक्ति को 'शान्ति' या आराम प्राप्त होता है। यहाँ यह पा० सू० 'वृषादीना च' (६.१.२०३) से आद्युदात्त है।

स नः॑ पि॒तेव॑ सू॒नवेऽग्ने॑ सूपाय॒नो भ॑व।
सच॑स्वा नः स्व॒स्तये॑ ॥

पदपाठ

सः । नः । पिताऽइव । सूनवे । अग्ने । सुऽउपायनः ।

भव । सचस्व । नः । स्वस्तये ॥ ९ ॥

सायण—हे अग्ने स त्वं नः अस्मदर्थं सूपायनः शोभनप्राप्तियुक्तः भव । तथा नः अस्माकं स्वस्तये विनाशराहित्यार्थं सचस्व समवेतो भव । तत्रोभयत्र दृष्टान्तः । यथा सूनवे पुत्रार्थं पिता सुप्रापः प्रायेण समवेतो भवति तद्वत् ।

अनुवाद

हे अग्नि ! वह तुम हमारे लिये उसी प्रकार सुलभ बनो जैसे कि पिता अपने पुत्र के लिये होता है । हमारे कल्याण के लिये तुम (हमारे) साथ निवास करो या सयुक्त बनो ।

टिप्पणी

न —'अस्मत्' (अस्मद् शब्द का च० ए० व० का रूप) के लिये आदेश रूप 'न' मे 'अनुदात्तं सर्वमपदादौ' (पा० अ० ८ १.१८) से अनुदात्त स्वर है ।

पिताऽइव—पदपाठकार ने 'इव' को ऋ० मे सदैव समास के उत्तरपद मे ग्रहण किया है । 'इव' सदैव 'चादयोऽनुदात्ता.' (फिट् सू० ४.१६) से सर्वानुदात्त होता है ।

'पिता-सूनु' जैसे जुडवे शब्द (जो प्राय उपमानो मे आते है) ऋ० मे ये हैं—'पिता-पुत्र' (१६ बार), 'पिता-कुमार' (एक बार), 'पितासूनु' (५ बार)—ये सभी मानवीय भावनाओ के द्योतक है; जबकि 'माता-वत्स' (१० बार) और 'माता-शिशु' (५ बार) प्राय पशुओ के प्रति आये है जैसे गाय । दूसरी ओर 'माता-सूनु' (एक बार), 'माता-पुत्र' (३ बार), 'माता-गर्भ' और 'माता कुमार' (दोनो ही एक-एक बार) मानवो के प्रति प्रयुक्त प्रतीत होते है (द्र० प्रो० ह० द० वेळणकर, Hymns to Agni in Mandala I, Journal of Bombay Uni, Vol. XXIX, Pt 2, P 1 f n) ।

सचस्व—'सच्' (साथ होना, सम्बन्धित होना, सेवा करना) धा० (आत्मने०) का लोट्, म० पु०, ए० व० का रूप है । इसका अन्तिम स्वर नियमित रूप से संहिता पाठ में दीर्घ मिलता है, किन्तु पदपाठ मे सर्वत्र उसे लघु किया गया है । दीर्घरूप छन्द की दृष्टि से है ।

स्वस्तये—'स्वस्ति' शब्द का च० ए० व० का रूप है। यास्क ने इसकी व्याख्या—'स्वस्ति इति अविनाशि नामे (निरुक्त ३.२१) की है जिसका अनुसरण वे० मा०, सा०, स्कन्द आदि सभी ने किया है। यह 'सु + अस्ति' रूप मे विश्लेषित किया जा सकता है अर्थात् जिसकी 'स्थिति अच्छी' है; किन्तु 'अस्ति' कही भी स्वतत्र रूप से संज्ञा की भाँति नही प्रयुक्त है, अत. इसे पदपाठ मे अलग नही किया गया है। परन्तु पाठ करते समय 'स्वस्तये' को 'सु अस्तये' ही पढा जाता है।

———

मरुत् १.८५॥

देवता मरुत्, ऋषि गोतम, छन्दः त्रिस्टुप, जगती।

प्र ये शुम्भन्ते जनयो न सप्तयो यामन्रुद्रस्य सूनवः सुदंससः।
रोदसी हि मरुतश्चक्रिरे वृधे मदन्ति वीरा विदथेषु घृष्वयः॥१॥

पदपाठ

प्र। ये। शुम्भन्ते। जनयः। न। सप्तयः। यामन्। रुद्रस्य। सूनवः। सुऽदंससः। रोदसी। इति। हि। मरुतः। चक्रिरे। वृधे। मदन्ति। वीराः। विदथेषु। घृष्वयः॥१॥

सायण—ये मरुत यामन् यामनि गमने निमित्तभूते सति प्र शुम्भन्ते प्रकर्षेण स्वकीयानि अंगानि अलंकुर्वन्ति जनयो न जाया इव। यथा योषितः स्वकीयान्यङ्गान्यलंकुर्वन्ति तद्वत्। कीदृशा मरुत.। सप्तयः सर्पणशीलाः रुद्रस्य सूनवः। रोदयति सर्वमन्तकाले इति रुद्रः परमेश्वरः। तस्य पुत्राः। सुदससः शोभनकर्माणः। एतदेवोपपादयति। हि यस्मात् मरुतः रोदसी द्यावापृथिव्यौ वृधे वृष्टिप्रदानादिना वर्धनाय चक्रिरे कृतवन्तः। अतः सुदंसस इत्यर्थः। वीरा. विशेषेण शत्रुक्षेपणशीलाः घृष्वयः घर्षणशीला। महीरुहशिलोच्चयादेर्भञ्जका इत्यर्थः। एवंभूतास्ते मरुत विदथेषु विदन्त्येषु यष्टव्यतया देवानिति विदथा यज्ञाः। तेषु मदन्ति सोमपानेन हृष्यन्ति।

अनुवाद

रुद्र के सुकर्मवाले तथा सपर्णशील जो पुत्र मार्ग मे स्त्रियों की भाँति अपने को अलंकृत करते है, उन्होने ही द्यावा-पृथिवी का वर्धनहेतु निर्माण किया है। वे घर्षणशील वीर (मरुत्) यज्ञ मे हर्षित होते है।

टिप्पणी

(प्र) शुम्भन्ते—'शुभ शुम्भ दीप्तौ' (भ्वादि) धा० का लट् का प्र० पु०, ब० व० का रूप है।

जनयो न सप्तय—इस मन्त्राश की व्याख्या मे व्याख्याकारो में मतभेद है। सा० ने 'जनयः' और 'सप्तय.' को अलग-अलग रूप मे ग्रहण किया है। वे० मा० ने भी अलग-अलग दो उपमाओ के रूप मे इसे ग्रहण कर 'जायाः इव, अश्वाः

इव च' व्याख्या की है। स्कन्द ने इसकी कोई व्याख्या नही दी (या इस सूक्त के प्रथम पाँच मन्त्रो की व्याख्या अप्राप्य है)। विल्सन और लुडविग् ने सा० का अनुसरण किया है। गेल्ड० ने 'जनय न' का अर्थ 'स्त्रियो के समान', और 'सप्तय' का अर्थ 'सहगामी' या 'सहकर्मी' ('Gespane) किया है, जो सभवत मैक्सम्यू० का अनुसरणमात्र है। प्रो० रनू ने भी इसी प्रकार 'स्त्रियो के समान' (Comme des femmes) और अश्वसमूहो के समान (Comme de attelages) अर्थ किया है।

मैक्सम्यू० ने इस अश पर विस्तार पूर्वक विचार करके यह निष्कर्ष दिया है कि यहाँ पर 'सप्तय' का अर्थ 'अश्व' सम्भव नही है, क्योकि मरुतो का कभी भी केवल अश्व के रूप मे आह्वान नही किया गया है। अत 'सप्तय' यहाँ पर 'जनय' के विशेषण रूप मे है और 'सयुक्त' या 'सहगामी'—अर्थ का द्योतक है। वेद में 'सप्' धा० का अर्थ—'अनुसरण करना', 'सेवा करना', 'पूजा करना' आदि है। अत' यहाँ पर 'जनय' न सप्तय.' 'सहगामिनी नारियो के समान'—(जैसे मार्ग मे जाती हुई अनेक सहगामिनी स्त्रियाँ अपने को अलंकृत करती है) भाव का द्योतक है। (द्र० SBE Vol. XXXII, PP 128-129)

यामन्—'या प्रापणे' धातु से निष्पन्न 'यामन्' शब्द का यह सप्तमी ए० व० का रूप है। सा० ने इसे 'या' धातु से 'कृत्यल्युटो बहुलम्' (पा० सू० ३ ३ १३) से 'आतो मनिन्०' पा० सू० ३ २.७४) से 'मनिन्' प्रत्यय करके 'सुपा सुलुक्०' (पा० स० ७ १.३९) से सप्तमी एक वचन मे सप् का लोप करके निष्पन्न किया है। यामन् के समान ही ऋ० मे अन्य सप्तमी एक वचन के रूप भी है जो प्रत्ययरहित है, जैसे—उदन्, ऊधन, क्षामन्, शीर्षण् इत्यादि।

सुदंसस—ऋ० मे 'सु' उपसर्गपूर्वक 'दसस्' शब्द कुल मिलाकर १२ बार आया है जिनमे सुदससम् दो बार (ऋ० २.२.३; १० ६६ ४), 'सुदंसस.' दो बार (ऋ० १.८५ १, १.५९ ३) सुदससा चार बार (१ ९२.८; १५९.१; ६.७०.६;८.१०.३) और 'सुदसा' चार बार (१.६२.७;९,३;३ ३२.८; ६१ ४) आया है। निघ० मे 'दस' को कर्म का पर्याय माना गया है (नि० २ १ ३) जिसका अनुसरण सा० और वें मा० ने किया है। स्कन्द ने इसकी व्याख्या—'शोभनप्रकाश करणादि कर्मसम्बन्धया कीर्त्या हेतुभूतया, अतिशयवत्कर्मनिमित्त कीर्त्यमित्यर्थ',. ......अथवा.......दंसशब्दो दर्शनवचन' ऋ० भा० १.९२ ८)—रूप में प्रस्तुत की है। अन्यत्र (ऋ० २.२.३) सा० ने भी 'शोभनदर्शनं' अर्थ किया है जिसका अनुसरण विल्सन ने किया है। रोठ, ग्रासमान,

गेल्ड० ने 'सुकर्मवाले (guteswirkenden) अर्थ को ही स्वीकार किया है। मैक्सम्यू० ने 'शक्तिशाली', ओल्डे० ने 'आश्चर्यमयशक्तिवाले' और मैक्डॉ० ने 'आश्चर्यमय' अर्थ किये है। प्रो० रनू ने 'सुकर्मवाले' अर्थ का अनुसरण किया है।

'दसस्' की निष्पत्ति 'दंश्' या 'दस्' धा० (नाश करना, काटना) से की जा सकती है, इसका साम्य अवेस्ता के दह्ह (कुशलता, चातुर्य) और ग्रीक 'देनेआ (निर्णय) से स्थापित किया जा सकता है, जिससे इस शब्द का अर्थ 'कुशल', 'कुशलकर्मा' आदि सम्भव हो सकता है।

'सुदंसस' मे दसस् शब्द मे आद्युदात्त स्वर 'सोर्मनसी अलोमोषसी' (पा० सू० ६ २.११७) सूत्र के आधार पर है तथा इस स्वर के आधार पर 'सुदसस.' ब० व्री० समास है।

✓रोदसी—यह द्विवचनान्त पद ऋ० मे सर्वत्र 'द्यावापृथिवी' के अर्थ मे प्रयुक्त है। इसे रुद् धा० से असुन् प्रत्यय करके और फिर 'उगितश्च' (पा० सू० ८ १ ३) से 'ङीप्' करके निष्पन्न कर सकते है। 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' (पा० अ० ६ १ १९७) से इसका आदि अक्षर सदैव उदात्त स्वरवाला रहता है।

हि—निश्चयात्मक अव्यय।

चक्रिरे—'कृ' धा० (करना) का लृट् लकार का प्र० पु० ब० व० का रूप है। वाक्य मे यह मुख्य क्रिया है इसलिये इसमें सर्वानुदात्त होना चाहिये, किन्तु इसके पूर्व 'हि' पद होने से 'हि च' (पा० सू० ८ १.३४) से सर्वानुदात्त का प्रतिषेध होकर यहाँ अन्तोदात्तत्व है।

✓वृधे—'वृधु वृद्धौ' (धा० पा० १.७.९६) का वैदिक तुमुन्नत रूप है—'वर्धन के लिये'—अर्थ मे प्रयुक्त है।

✓मदन्ति—'मदी हर्षे' धा० का लट्, प्र० पु० ब० व० का रूप। पाद के आदि मे होने से सर्वानुदात्त न होकर उदात्तत्व है (द्र० 'अनुदात्तं सर्वमपादादौ' पा० सू० ८ १ १८)।

✓ विदथेषु—'विदथ' शब्द का सप्त० ब० व० का रूप। सायण ने इसे 'विद्ज्ञाने' धातु से 'रुविदिभ्या कित्' से 'अथ' प्रत्यय करके निष्पन्न किया है (सा० भा० मे दिया गया 'रुविदिभ्या कित्' सूत्र 'उणादिसूत्र' में मूलतः 'रुदिविभ्या डित्'—उ० सू० ३९८ है)। किन्तु इस शब्द की निष्पत्ति के सम्बन्ध मे व्याख्याकारो मे मतभेद है। गेल्ड० और लुडविग् ने इसे सायण के समान 'विद् ज्ञाने' से ही निष्पन्न माना है। एम० रेनगाड का मत है कि 'विदाथ'

से 'विदथ' रूप उसी प्रकार निष्पन्न हुआ जैसे कि 'दह्' धातु से 'अधक्' बनता है (द्र SBE Vol 32, P. 350)। मैक्सम्यू० का कथन है कि 'विदथ' किसी 'धार्मिक कार्य' का नाम रहा होगा जो यज्ञ के पर्याय रूप मे परिवर्तित हो गया (द्र० SBE Vol 32, P 350)। ओल्डे० ने इसे 'वि' उपसर्ग पूर्वक 'धा' (धारणपोषणयो.) धा० से निष्पन्न माना है। उनके अनुसार 'वि + धा' का अर्थ 'बाँटना', विहित करना', 'प्रबन्ध करना' है, जिससे 'विदथ' की निष्पत्ति हुई। 'विदथ' शब्द 'विधान' का समानार्थक है। इसी 'विधान' या 'विहित' अर्थ के कारण 'विदथ' 'यज्ञ' का पर्याय बन गया और साथ ही 'वितरण' आदि अर्थो का 'वाचक' भी (द्र० SBE Vol. 46, PP 26–27)। ओल्डे० की यह निष्पत्ति भी अधिक सहायक नही प्रतीत होती। इसी प्रकार प्रो० थीमे ने भी इसे वि + धा (to allot) या 'विध्' (सेवा करना) धा० से निष्पन्न किया है (द्र० untersuchungen zur Wortkunde und Austegung des Rigveda, Halle 1949)। 'विदथ' को विद् या विध् (पूजा करना) धातुओ से निष्पन्न करने की सम्भावनाएँ ही अधिक है। किन्तु इनमे 'विद्' धातु से 'अथ' प्रत्यय सहित निष्पन्न करना अधिक सरल प्रतीत होता है, क्योकि ऋ० मे ऐसी बहुत-सी धातुएँ है जिनसे 'अथ' प्रत्यय करके सीधे शब्द-निष्पत्ति की गई है। उदाहरणार्थ—'अयथ' (ऋ० १० २८ १०) 'अय गतौ' से, उचथ (ऋ० १.७३ १०, ११० १; २ १९.७ इत्यादि) 'वच्' को उच् करके, 'चरथ' (ऋ० १ ३६ १४, ४ १८.१० इत्यादि) 'चर्' धा० से, वक्षथ (ऋ० १० ९९ १२) 'वक्ष्' धा० से, सचथ' (ऋ० १ ७५६ ५), 'सच्' धा० से; 'स्तनथ' (ऋ० ५ ८३ ३) 'स्तन्' धा० से तथा 'स्तवथ' (ऋ० ४ २१ २) 'स्तुञ् धा० से, शपथ (ऋ० १० ८७ १५) शप् मे अथ प्रत्यय से ही निष्पन्न किये गये। अत. इसी प्रकार 'विद् + अथ' से 'विदथ' की निष्पत्ति भी हो सकती है। अवेस्ता मे भी 'अथ' प्रत्यय से इसी प्रकार निष्पन्न शब्द मिलते है, जैसे Zbaraθa (ज्बरथ) (द्र० Altind. Gramm Band II 2, P 172 ff)। किन्तु प्रश्न केवल 'अर्थ' का है। प्रो० रनू ने इसका अर्थ 'वाद-विवाद' या 'शब्दयुद्ध' किया है जो लाक्षणिक रूप से यज्ञ के 'वाक्युद्ध' से सम्बन्धित किया जा सकता है (द्र० Et. Ved. 1.14 A I) 'विद्' धा० से निष्पत्ति के कारण 'विद्' धा० मे निहित सभी अर्थो—'आख्यान' (चु० ग०), लाभ (धा० पा० २८ १३८) 'मीमासा या विचारणा' (धा० पा० २९ १३) 'ज्ञान' (धा० पा० २४ ५६) आदि का समावेश होता, अथवा किसी एक विशिष्ट

अर्थ का निहित होना आवश्यक है। किन्तु 'विदथ' सम्बन्धी सन्दर्भों मे 'पूजा करना', 'सेवा करना' अर्थ जितना प्रबल प्रतीत होता है उतने 'लाभ', 'ज्ञान', 'आख्यानादि' अर्थ संगत नही प्रतीत होते, उदाहरणार्थ—'हिनोति यद्वा विदथे सपर्यन्' (जब वह पूजा करता हुआ तुम्हे 'विदथ' मे प्रसन्न करता है)—अंश में 'सपर्यन्' के साथ 'विदथ' किसी ऐसे स्थल का द्योतक है जो 'पूजा' से सम्बन्धित हो। अत 'विदथ' को 'विध्' से निष्पन्न करना अधिक संभाव्य है। 'ध्' का 'द' मे परिवर्तित होना भी संभव है।

घृष्वयः—यह 'घृषु संघर्षे' धा० से निष्पन्न है। इसमे 'कृविघृष्वि०' से 'विन्' प्रत्यय किया गया है जिसमे इसकी निपातन संज्ञा होकर 'निपातैर्यद्य-दिहन्त०' (पा० सू० ८.१ ३०) के अनुसार मुख्य क्रिया 'घृष्' पर उदात्त स्वर है।

त उ॑क्षि॒तासो॑ महि॒मान॑माशत दि॒वि रु॒द्रासो॒ अधि॑ चक्रिरे॒ सद॑ः।
अर्च॑न्तो अ॒र्कं ज॒नय॑न्त इन्द्रि॒यमधि॒ श्रियो॑ दधिरे॒ पृश्नि॑मातरः ॥२॥

पदपाठ

ते। उ॒क्षि॒तास॑ः। म॒हि॒मान॑म्। आ॒श॒त॒। दि॒वि। रु॒द्रास॑ः। अधि॑। च॒क्रि॒रे॒। सद॑ः। अर्च॑न्तः। अ॒र्कम्। ज॒नय॑न्तः। इ॒न्द्रि॒यम्। अधि॑। श्रिय॑ः। द॒धि॒रे॒। पृश्नि॑ऽमातरः ॥ २ ॥

सायण—ये पूर्वोक्तगुणविशिष्टा ते मरुतः उक्षितास देवैरभिषिक्ताः सन्तः महिमानं महत्त्वम् आशत आप्नुवन्। रुद्रासः रुद्रस्य पुत्राः। उपचाराज्जन्ये जनकशब्दः। ते रुद्रपुत्रा मरुत दिवि द्योतमाने नभसि सदः सदनं स्थानं अधिचक्रिरे अधिकं सर्वोत्कृष्टं कृतवन्त। अर्कं अर्चनीयमिन्द्रम् अर्चन्त पूजयन्त। इन्द्रियम् इन्द्रस्य लिङ्गं वीर्यं जनयन्तः। 'प्रहर भगवो जहि वीरयस्व' (ऐ० ब्रा० ३.२०) इत्येवं रूपेण वाक्येनोत्पादयन्त। पृश्निमातर पृश्नेर्नाना-रूपाया भूमे पुत्रा मरुतः श्रियः ऐश्वर्याणि अधिदधिरे आधिक्येनाधारयन्॥

अनुवाद

उन वर्धनशील (मरुतों) ने महिमा को प्राप्त किया (और) रुद्र के पुत्रो ने द्युलोक मे अपना स्थान बनाया। गीत गाते हुए तथा शक्ति को उत्पन्न करते हुए, पृश्नि है माता जिनकी ऐसे मरुतों ने अधिक ऐश्वर्य को धारण किया।

टिप्पणी

उक्षितासः—'उक्ष् सेचने' धातु से 'क्त' (कर्मणि निष्ठा) प्रत्यय करके 'आज्जसेरसुक्' (पा० सू० ७.१ ५०) सूत्र से छान्दस मे प्र० ब० व० मे यह रूप बनता है। यास्क ने 'उक्षन्' शब्द की निष्पत्ति करते हुए कहा है—'उक्षन् उक्षतेर्वृद्धिकर्मण उक्षन्त्युदकेनेति वा' (निरु० १२ ९)। इस प्रकार 'उक्षितासः' का अर्थ 'सिञ्चन करते हुए' या 'वर्धनशील' दोनो सभव है। निघ० मे 'उक्षित' को 'महत्' का पर्याय इसी 'वर्धनशीलता' के कारण ही माना गया होगा (नि० ३.३.५)। प्राय सभी व्याख्याकारो ने 'वर्धनशील' अर्थ को ही स्वीकार किया है। 'उक्षितास' मे 'प्रत्यय' (पा० सू० ३ १.१) 'आद्युदात्तश्च' (पा० सू० ३ १.३) से 'प्रत्यय' पर उदात्त स्वर है।

आशत—'अश (प्रापणे)' धा० का लुङ् का प्र० पु०, ब० व० का रूप है। सा० ने इसे 'अश् व्याप्तौ' का लङ् का रूप 'बहुल छन्दसि' के आधार पर माना है; किन्तु व्याख्या मे 'आप्नुवन्' (प्राप्त किया) अर्थ दिया है।

वाक्य मे मुख्य क्रिया होने से 'अनुदात्त सर्वमपादादौ (पा० सू० ८.१.१८) से सर्वानुदात्त स्वर है।

चक्रिरे—'कृ' (करना) धा० का लिट् का प्र० पु०, ब० व० का रूप है। सर्वानुदात्तत्व उपर्युक्त 'अनुदात्त०' सूत्र के आधार पर है।

अर्चन्त.—'अर्च्' धा० (पूजा करना, प्रशसा करना, गायन करना, आदर करना) का शतृ प्रत्ययान्त रूप है। सा० ने 'पूजयन्त.' अर्थ माना है, किन्तु 'अर्क' का अर्थ 'गीत' मानकर इसका अर्थ 'गायन करते हुए' किया जाय तो अधिक सगत होगा, जैसा कि गेल्ड०, मैक्सम्यू० और मैक्डॉ० ने किया है। प्रो० रनू ने भी यही अर्थ (Chantant le chant 'गीत गाते हुए') किया है। 'अर्क' को 'इन्द्र' के साथ समन्वित करना अर्थ की खीचातानी के अतिरिक्त और कुछ नही होगा। मरुत् जिस समय चलते है वे ध्वनि करते चलते हैं—यही इसका तात्पर्य है।

इन्द्रियम्—सा० ने पाणिनि के 'इन्द्रियमिन्द्रलिङ्गमिन्द्रदृष्टम् (पा०सू० ५.२. ९३) के आधार पर इसका अर्थ 'इन्द्र की शक्ति' किया है। जिसका अनुसरण गेल्ड०, मैक्डॉ० और प्रो० रनू ने भी किया है, किन्तु यदि 'इन्द्रियम्' का अर्थ केवल 'बल' मान लें, जैसा कि वें० मा० ने किया है, और जिस अथ का अनुसरण मैक्सम्यू० ने भी किया है, तो क्या हानि होगी ? 'इन्द्र' शब्द का भी

मूल अर्थ 'शक्तिशाली' है जो 'इन्ध्' या 'इद्' धा० से निष्पन्न है जो धा० इण्डो-यू० 'एइद्', 'ओइद्' (शक्तिशाली होना) के समान है।

दधिरे—'धा' धा० का लिट् का प्र० पु० ब० व० का रूप है। 'अनुदात्तं सर्वमपादादौ०' से सर्वानुदात्त है।

पृश्निमातर—मरुतो के लिये 'गोमातर', 'सिन्धुमातर' विशेषण भी प्रस्तुत 'पृश्निमातर' के समान प्रयुक्त हुए है। सायण ने इसकी निष्पत्ति—'प्राश्नुते सर्वाणि रूपाणीति पृश्निर्भूमि' के रूप मे की है। तै० ब्रा० (१ ४ १५) मे भूमि को पृश्नि' कहा गया है—'इय वै पृश्नि'। माधव ने 'गोमातर' अर्थ किया है। सभी व्याख्याकारो ने इसका अर्थ 'भूमि' के रूप मे परम्परया स्वीकार किया है। किन्तु इसके मूल अर्थ पर किसी ने प्रकाश नही डाला।

'पृश्नि' को 'पृष्' या 'पृश्' धा० से निष्पन्न कर सकते है। धा० पा० (१७ ५) मे 'पृष्' का अर्थ 'सिचन करना' या 'भीगना' माना गया है। किन्तु भाषावैज्ञानिक आधार पर इसका अर्थ 'विभिन्न रंगो मे होना' सभव हो सकता है। ग्रीक शब्द 'पेकेनस' या 'प्रेकनस' (गहरे रंग का, चितकबरा, काला) तथा वेल्श 'एर्श' (चितकबरा या विभिन्न रंग का) और लेटिन 'पुल्शर' (सुन्दर) वैदिक 'पृश्नि' के साथ साम्य रखते है। 'पृश्नि' का 'इण्डो–जरमनिक रूप 'Pork—ue' या Prkn होगा जो ग्री० 'Perk' से सम्बन्धित है। स्वेडिश मछली 'फेर्ना' का नाम भी इन्ही शब्दो से सम्बन्धित है (द्रष्टव्य—H Frisk, Gr Ety Wort 16 515)। इस प्रकार 'पृश्नि' का मूल अर्थ 'विभिन्न रगो से युक्त' माना जा सकता है, जो लाक्षणिक रूप से 'पृथिवी' का वाचक हो सकता है।

गोमातरो यच्छुभयन्ते अञ्जिभिस्तनूषु शुभ्रा दधिरे विरुक्मतः।
बाधन्ते विश्वमभिमातिनमप वर्त्मान्येषामनु रीयते घृतम् ॥३॥

पदपाठ

गोऽमातरः। यत्। शुभयन्ते। अञ्जिऽभिः। तनूषु। शुभ्राः। दधिरे। विरुक्मतः। बाधन्ते। विश्वम्। अभिऽमातिनम्। अप। वर्त्मानि। एषाम्। अनु। रीयते। घृतम् ॥३॥

सायण—गोमातर: गोरूपा भूमिर्माता येषां ते मरुतः अञ्जिभिः रूपाभिव्यञ्जकैराभरणैः यत् यदा शुभयन्ते स्वकीयान्यङ्गानि शोभायुक्तानि कुर्वन्ति तदानीं शुभ्राः दीप्ता. मरुतः तनूषु स्वकीयेषु शरीरेषु विरुक्मतः विशेषेण

रोचमानानलकारान् दधिरे धारयन्ति । अपि च विश्व सर्वं अभि मातिनम् शत्रुम् अप बाधन्ते हिसन्ति । एषा मरुतां वर्त्मानि मार्गाननुसृत्य घृत क्षरणशील-मुदक रायते स्रवति । यत्र मरुतो गच्छन्ति वृष्ट्युदकमाप तदनुसारेण तत्र गच्छतीत्यर्थः ।

अनुवाद

गो (भूमि या किरण) है माता जिनका ऐसे मरुद्गण जब अलकारा से अपने को सुशोभित करते है (तब) वे शरीर मे विशिष्ट प्रकार के अलंकरणो (अञ्जो) को धारण करते है। वे समस्त शत्रुओं को बाधित करते है (या मारते है)। इनके मार्ग म घृत (जल) प्रस्रवित होता है (अर्थात् जब ये चलते है तो वर्षा होती है)।

टिप्पणी

शुमयन्ते—'शुभ् या शुम्भ्' (धा० पा० १८. ११, २८. ३३) 'अलकृत करना या शोभित करना' धा० का आत्म० लट् प्र० पु० ब० व० का रूप ह। ऋ० मे यह शारीरक शोभा को अलकृत करने के अर्थ मे प्रयुक्त ह। प्रस्तुत मत्र मे 'अञ्जिभि.' और 'तनूषु' इसके प्रमाण ह। 'शुभयन्त' क्रिया रूप ऋ० म केवल यही पर प्रयुक्त हुआ है। अन्यत्र 'शुम्भ' के रूप ही ह। वाक्य मे सहायक वाक्याश की क्रिया होने के कारण यह 'धातो.' (पा० ६. १. १६२) स उदात्त (मूल धा० पर अन्तोदात्त) स्वर वाली ह।

अञ्जिभिं.—'अञ्जूव्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु' (अञ्जन लगाना, रगना, सुन्दर बनाना, सजाना आदि) धा० से 'इ' प्रत्यय करके (खनिकपिकस्यञ्जं—उ० सू० ४ ५७९) निष्पन्न किये गये 'अञ्जि' शब्द का तृ० ब० व० का रूप है। 'प्रत्यय.' (पा० सू० ३ १ ३) से 'इ' प्रत्यय पर आद्युदात्त स्वर है। सा० तथा अन्य सभी व्याख्याकारो ने 'अञ्जिभि' का अर्थ 'अलकरणो या आभूषणो के द्वारा' किया है। किन्तु यह अर्थ सन्देहास्पद प्रतीत होता है। मरुतो को 'अञ्जि' के साथ जन्म लेते हुए कहा गया है (ऋ० १ ३७ २), साथ ही वे अपने शरीर को या रूप को चित्रमय 'अञ्जि' के द्वारा व्यक्त करते है (ऋ० १ ६४ ४) और कुछ उषाएँ जिस प्रकार तारो से अपने को व्यक्त करती है वैसे ही आकाश मे 'अञ्जि' से मरुद्गण दृष्टिगोचर होते है या स्वय को व्यक्त करते है (ऋ० १.८७ १)। साथ ही इस शब्द का प्रयोग ऋ० मे प्राय. मरुतो के साथ हुआ है जो 'स्वभानव' कहे गये है। अत 'अञ्जि' का अर्थ 'आभरण' न करके यदि

'प्रकाश' अर्थ ग्रहण करें तो अधिक उचित होगा, जिसके साथ मरुत् अपने को व्यक्त करते है।

शुभ्रा — शुभ दीप्तौ' धा० से 'स्फायितञ्चि ·······शुभिभ्यो रक्' (उ० सू० २.१३) से 'रक्' प्रत्यय करके 'शुभ्र' शब्द की निष्पत्ति हुई है। यहाँ यह शब्द मरुतो के शारीरिक सौन्दर्य का द्योतक है। 'प्रत्यय' (पा० ३ १ ३) से प्रत्यय का आदि स्वर उदात्त है। लुडविग् ने इसे 'विरुक्मत' का विशेषण माना है, किन्तु यह यहाँ 'मरुत.' का ही विशेषण है जैसा कि ऋ० १.१९ ५ मे मरुतो को 'ये शुभ्रा घोरवर्पस. सुक्षत्रास.' कहा गया है।

दधिरे — द्र० ऋ० १ ८५.२ पर टिप्पणी।

विरुक्मतः—सायण ने इसकी व्याख्या 'विशिष्टा रुक् विरुक्, तद्वन्तो विरुक्मत' की है। वें० मा० के अनुसार इसका अर्थ विशिष्टदीप्तिमत् सुवर्णमय कवच' ह। गेल्ड० ने इसका अर्थ 'किरण' या प्रकाश (Strahlen) किया है और विकल्प रूप में 'अलङ्कार' (Gerchmied) अर्थ दिया है, जिसमे स्पष्ट है कि उन्होने सा० का अनुसरण किया है। मैक्सम्यू० के मत से यहाँ पर 'विरुक्मत' मरुतो के 'अस्त्र' का सूचक है, जिसे वे शरीर पर धारण करते है, जैसा कि ऋ० १०.१३८ ४ मे इन्द्र को 'विरुक्म के द्वारा शत्रुओ का हनन' करते हुए बतलाया गया है (शत्रूँर-शृणाद्विरुक्मता) और सा० ने भी वहाँ इसका अर्थ 'विरोचमानेन वज्रेण' किया है (द्र० SBE Vol XXXII P 130)। कथन की सिद्धि अन्य स्थल (ऋ० ५.५३ ४) से भी होती है, किन्तु जहाँ तक शब्द के मूल अर्थ का प्रश्न है यह 'रुच्' धातु से निष्पन्न है जिसका अर्थ 'प्रकाशित' होना है। अत इसकी निष्पत्ति —'वि + रुच् + मत्' (मतुप्) रूप मे होगी जिसका अर्थ 'विशिष्ट प्रकाशयुक्त' होगा। यहाँ भी इसे इसी अर्थ मे ग्रहण किया जा सकता है। मरुतो को अन्यत्र 'विरोकिण' कहा गया है। (ऋ० ५ ५५.३, १०.७८ ३), जहाँ उन्हे प्रकाशयुक्त मानना सगत होगा।

अभिमातिनम्—'अभिमातिन्' शब्द का द्वि० ए० व० का रूप ह। यहाँ 'विश्वम्' के साथ समूह का द्योतक है। इसे 'पापी' या 'शत्रु' अर्थ मे माना गया ह। तै० स० (२.१ ३ ५) मे कहा गया है—'पाप्मा वा अभिमाति'।

'अभिमातिनम्' रूप ऋ० मे केवल यही पर आया है।

(अनु) रीयते—'रीङ् स्रवणे' (दिवा० ग०) 'स्रवित होना, बहना' धा० का लट् का प्र० पु० ए० वचन का रूप है। 'अनुदात्त सर्व' (पा० सू० ८ १ १८) मे सर्वानुदात्त है।

वि ये भ्राजन्ते सुमखास ऋष्टिभिः प्रच्यावयन्तो अच्युता चिदोजसा ।
मनोजुवो यन्मरुतो रथेष्वा वृषव्रातासः पृषतीरयुग्ध्वम् ॥ ४ ॥

पदपाठ

वि । ये । भ्राजन्ते । सुऽमखासः । ऋष्टिऽभिः । प्रऽच्यवयन्तः । अच्युता । चित् । ओजसा । मनःऽजुवः । यत् । मरुतः । रथेषु । आ । वृषऽव्रातासः । पृषतीः । अयुग्ध्वम् ॥ ४ ॥

सायण—सुमखासः शोभनयज्ञा. ये मरुत. ऋष्टिभि. आयुधै. विभ्राजन्ते विशेषेण दीप्यन्ते ते मरुत. अच्युता चित् च्यावयितुमशक्यानि दृढानि पर्वतादीनि अपि ओजसा स्वकीयेन बलेन प्रच्यावयन्त. प्रकर्षेण च्यावयितारः प्रेरयितारो भवन्ति। उत्तरार्धं प्रत्यक्षकृत । मरुत मनोजुवः मनोवद्वेगगतयः वृषव्रातास. वृष्ट्युदकसेचनसमर्थसङ्घसघात्मका यूथ रथेषु आत्मीयेषु। पृषतीः पृषत्यः इति मरुद्वाहनाना सज्ञा 'पृषत्यो मरुताम्' (नि० १ १५.६) इत्युक्तत्वात् । पृषद्भि श्वेतबिन्दुभिर्युक्ता मृगी' यत् यदा आ अयुग्ध्व आभिमुख्येन नियुक्ता अकृद्ध्वम् । तदानी पर्वतादिक प्रच्यवेत इत्यर्थ ।

अनुवाद

अपनी शक्ति (या ओज) के द्वारा अच्युत (न गिरनेवाले) को भी गिराते हुए (या कँपाते हुए) जो शोभनयज्ञ वाले मरुद्गण विशेष रूप से प्रकाशित होते है। जब, हे शक्तिशाली मरुतो के समूह, मन के समान वेगवाले तुम लोग अपने रथो मे विशिष्ट रगवाली (चितकबरी) हिरणियो को नियोजित करते हो (तब वर्षा होती है) ।

टिप्पणी

(वि) भ्राजन्ते—'भ्राजि दीप्तौ' (धा० पा० ६ २२) 'चमकना, प्रकाशित होना', धा० का आत्म०, लट्, प्र० पु०, ए० व० का रूप है। 'धातो ' (पा० ६ १ १६२) से उदात्त स्वर मूल धा० पर है।

सुमखास: —'सु' उपसर्ग पूर्वक 'मख' शब्द के अर्थ पर व्याख्याकारो मे मतभेद है। नि० मे इसे 'यज्ञ' का पर्याय माना गया है (नि० ३ १७ ११) जिसके आधार पर वें० मा० और सा० ने 'सुयज्ञा.' या 'शोभनयज्ञा ' व्याख्या की है। मैक्डॉ० ने इस अर्थ पर आपत्ति प्रकट की है और सदिग्ध रूप से 'शक्तिशाली' अर्थ किया है। यह अर्थ उनके पूर्व व्याख्याकार मैक्सम्यू० ने भी किया

है, जो ग्रासमान द्वारा किये गये 'सुशक्तिशाली' (Schankrafting, Kampfen) अर्थ के समान है । गेल्ड० ने इसका अर्थ 'उदार' (Freigebigen) किया है । अन्यत्र सा० ने भी 'मख' का अर्थ 'महनीय' किया है (ऋ० भा० ६ ६६ ४, ६ ७१ १; ८ ४६ २५) ।

'मख' शब्द की निष्पत्ति 'मह्' या 'मह्' अथवा 'मख्' या 'मख्' धा० से कर सकते है । सा० ने इसे 'मह्' धा० से निष्पन्न किया है, किन्तु इसे 'मख्' (धा० पा० ५ १८) 'गमन करना' या 'आगे बढना, गतिशील होना', धा० से निष्पन्न करना संगत प्रतीत होता है । ग्रीक की 'मखोमै' (Maxomai) धा० भी इसी के समान है जिसका अर्थ 'युद्ध करना', 'प्रयत्न करना' है, जिसमे 'मखु' (Maxu) 'युद्ध'; मखिनोस्' (Máx–inos) 'वीर', 'योद्धा' और 'मखेतेस्' (Maxétés) 'युद्ध करने वाला' (Homer–Ixy) आदि शब्द बनते है । इसी के समान लेटिन 'मैक्टस' और 'मैक्टो' भी इन्ही अर्थो मे प्रयुक्त है । ईरानियन 'हुमजन्' (योद्धा, सिपाही) शब्द वैदिक 'सुमख' के समान है । इस प्रकार इण्डो-यूरोपियन भाषा-परिवार मे 'मख' के साथ साम्य रखने वाले किसी शब्द का अर्थ यज्ञ से सम्बद्ध नही है । साथ ही ऋ० में भी जहाँ पर 'मख' शब्द आया है उससे यज्ञ का कोई सम्बन्ध नही प्रतीत होता । अत निघण्टु द्वारा दिया गया और व्याख्याकारो द्वारा गृहीत 'यज्ञ' अर्थ ग्राह्य नही है । मरुतो के सन्दर्भ मे यदि इसका अर्थ 'महान् योद्धा या महान् गतिवाले' करें तो उचित होगा । उनके लिये प्रयुक्त 'सुदसस ' 'घोरवर्चसः' जैसे विशेषण भी इस अर्थ की पुष्टि करते है ।

'मख' का मूल अर्थ 'गतिशील', 'योद्धा' 'महान् कर्म वाला' आदि रहा होगा; किन्तु कालचक्र मे इसे 'मह्' धा० से निष्पन्न मानने के कारण यह 'पूज्यास्थल' और फिर यज्ञ के अर्थ मे प्रयुक्त होने लगा होगा, किन्तु ऋ० मे यह अर्थ कही भी उपयुक्त नही प्रतीत होता । ('मख' शब्द पर विशेष विवेचन के लिये लेखक का 'वैदिक साहित्य मे मख' लेख 'प्राच्य-प्रज्ञा' अलीगढ मुस्लिम वि० वि०, १९७१, पृ० १-२६ मे द्रष्टव्य) ।

प्रस्तुत सन्दर्भ मे 'सुमखास ' मे उदात्त स्वर 'सु' पर है 'नञ्सुभ्याम्' (पा० ६ २.१७२) के आधार पर ब० व्री० समास मे उत्तर पद के अन्तिम अक्षर पर होना चाहिये, किन्तु 'सर्वे विधयश्छन्दसि विकल्प्यन्ते' न्याय से यह पूर्वपद पर ही है । किन्तु मैक्डॉ० ने इसे स्वर के आधार पर 'कर्मधारय समास' माना है वे० री० पृ० ९४) ।

ऋष्टिभिः—सायणादि भारतीय व्याख्याकारो ने इसकी व्याख्या 'आयुधै' की है जिसके आधार पर पाश्चात्य व्याख्याकारो (ग्रास० गेल्ड० मैक्सम्यू० मैक्डॉ० प्रभृति) ने इसका अर्थ 'भाला' (Spear) किया है। मरुतो को 'ऋष्टि' के साथ जन्म लेते कहा गया ह (ये पृषतीभिर्ऋष्टिभि साक • अजायन्त स्वभानव '—ऋ० १ ३७ २) जिससे प्रतीत होता है कि यह 'भाला' नहीं हो सकता, साथ ही इसका 'पृषतीभि' विशेषण और स्त्रीलिगत्व भी इसके बाधक है।

ऋ० मे 'ऋष्टि' शब्द सर्वत्र (दो मत्रो को छोडकर, ऋ० १० ८७ ७,२३ अग्नि के साथ) मरुतो के साथ ही प्रयुक्त हुआ है। सभी सन्दर्भो के निरीक्षण से यह प्रतीत होता है कि यह अन्तरिक्षस्थ विद्युत् या 'विद्युत्पात' का प्रतीक है जिसके साथ मरुद्गण प्रकाशित होते है या जिससे दूसरो का हनन करते है। अन्य किसी आयुध या भाला आदि से इस शब्द का कोई सम्बन्ध नही है।

'ऋष्टि' शब्द की निष्पत्ति 'ऋष्' या 'अर्ष्' धा० (तेजी से सरकना, तेजी से गमन करना, बहना आदि) से कर सकते है। इससे भी उपर्युक्त अर्थ की पुष्टि होती है। ग्रीक 'एर्सु' (Érsu) 'बहना' भी इसी के समान है।

प्रच्यावयन्त—'प्र' उपसर्ग पूर्वक 'च्यु' धा० 'च्युङ् गतौ' (गिराना, हिलाना, कँपाना आदि) से शतृप्रत्ययान्त रूप है। ऋ० मे यह पद केवल यही पर आया है।

अच्युता—यहाँ यह 'अच्युतानि' (जो दृढ या अच्युत है) का वैदिक रूप है। 'शेश्छन्दसि बहुलम्' (पा० ६ १ ७०) से 'शि' (द्वितीया ब० व०, न० लिं० का प्रत्यय) का लोप हो गया है (जो केवल वैदिक रूपो मे होगा)। विल्सन ने इसे 'अच्युता' मान लिया है जो त्रुटिपूर्ण है।

मनोजुवः—मनस् + जु ('जू गतौ'—धा० पा० २२.६०, पा० ३ २ १७७) 'तीव्र गमन करना' 'शीघ्रता करना' धा० से निष्पन्न है। मरुतो को 'मन के समान वेग वाला' कहा गया है।

अयुग्ध्वम्—'युजिर् योगे' (धा० पा० २९ ७) धा० का लुङ् लकार, म० पु० ब० व० का आत्म० रूप है। अट् + युज् + तास् + ध्वम् मे 'धि च' (पा० ८.२ २५) से 'स्' का लोप होकर यह रूप बनेगा। 'लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्त॰' (पा० ६ ४ ७१) सूत्र से आद्युदात्त स्वर है।

वृषव्रातासः—यह सामासिक पद ऋ० मे केवल यही पर आया है। अन्यत्र (ऋ० ९ ६२ ११, ६४ १) 'वृषव्रत' सोम के लिये प्रयुक्त है, जिसके आधार पर विल्सन ने अपने इस स्थल के अनुवाद मे 'वृषव्रातास' को 'वृषव्रता' रूप मे समझ लिया है, किन्तु यह त्रुटिपूर्ण है। (ऋ० ३ २६ ६) मे 'व्रातव्रात गण-

गणं' और 'शध " गण' तथा (ऋ० ५ ५३ १०) 'शर्धं शर्धं'"'व्रातव्रात गणं-गण' (ऋ० ५.५३.११) पदसमूह मरुतो के लिए प्रयुक्त हुए है जो उनके समूह के द्योतक है। अत. यहाँ पर 'व्रातास ' मरुतो के समूह का द्योतक है। मरुद्गण वर्षा लाते है ('अनु प्रयन्ति वृष्टय '—ऋ० ५ ५३ १०) इसलिये उन्हे 'वृषव्रातास ' वर्षको का समूह कहा गया है।

पृषती:—सा० ने इसकी व्याख्या 'पृषद्भि श्वेतबिन्दुभिर्युक्ता मृगी ' किया है। इसे 'पृश्नि' के साथ सम्बन्धित करके 'विचित्र रग वाली' अर्थ किया जा सकता है।

प्र यद्रथे॑षु॒ पृष॑ती॒रयु॑ग्ध्वं वाजे॒ अद्रिं॑ मरुतो र॒हय॑न्तः।
उ॒तारु॒षस्य॒ वि ष्य॑न्ति॒ धारा॒श्चर्मे॑वो॒दभि॒र्व्यु॑न्दन्ति॒ भूम॑ ॥५॥

पदपाठ

प्र। यत्। रथे॑षु। पृष॑तीः। अयु॑ग्ध्वम्। वाजे॑। अद्रिम्। म॒रु॒तः। र॒हय॑न्तः। उ॒त। अ॒रु॒षस्य। वि। स्य॒न्ति॒। धाराः॑। चर्म॑ऽइव। उ॒दऽभिः॑। वि। उ॒न्द॒न्ति॒। भूम॑॥ ५ ॥

सायण—हे मरुतः पृषती: यत् यदा रथेषु प्र अयुग्ध्वं प्रायूयुजत। किं कुर्वन्त.। वाजे अन्ने निमित्तभूते सति अद्रि मेघ रहयन्त वर्षणार्थं प्रेरयन्तः। उत तदानीम् अरुषस्य आरोचमानस्य सूर्यस्य वैद्युताग्नेर्वा सकाशात् वृष्ट्युदक-धारा भवन्तः विष्यान्त विमुञ्चन्ति। विमुक्तास्ताश्च धारा. उदभि: उदकै चर्मेव परिमितमल्पं चर्म यथा अप्रयत्नेन क्लेद्यते एव भूम सर्वा भूमि व्युन्दन्ति विशेषेणार्द्रा कुर्वन्ति।

अनुवाद

हे मरुद्गण! जब आप लोग (अन्न के हेतु) मेघ को युद्ध मे (वर्षण के लिये) प्रेरित करते हुए बिन्दुयुक्त हिरणियो को रथो मे जोतते हे उस समय सूर्य की धाराएँ विमोचित होती है (प्रस्रवित होती है) और जल से पृथ्वी को चर्म (मशक) की भाँति क्लेदित करती है।

पृषती:—द्रष्टव्य ऋ० १ ८५ ४ मे पृषता: पर टिप्पणा।

वाजे—सायण ने यहाँ पर 'वाजे' का अर्थ अन्ने निमित्तभूते सति' किया है जो निघण्टु के आधार पर हे, जहाँ उसे 'अन्न' का पर्याय माना गया है (नि० २ ७)। किन्तु अन्यत्र (नि० २ १७) उसे 'सग्राम' का पर्याय भी माना गया है। अत.

यदि वे० मा० के 'बले सति' व्याख्या और ग्रिफिथ तथा मैक्डॉ० के 'संघर्ष' (Conflict), गेल्ड० के 'दौड' (Wettlauf) अर्थ को मान ले तो अनुचित न होगा। सा० ने भी अन्यत्र (ऋ० ४ ३७ ५, ५ ४ ६, ८.२१ १) इसका अर्थ 'युद्धम्' किया है। प्रस्तुत सन्दर्भ मे 'अद्रिम्' (चट्टान, मेघ) का 'सघर्ष' ही परिलक्षित होता है जो मरुतो के साथ अधिक सभाव्य है। अत 'संघर्ष' अर्थ ही सगत होगा।

'वाज' शब्द की व्युत्पत्ति 'वज गतौ' धा० से (जिससे उज् उग्र, ओजस् शब्दो की भी व्युत्पत्ति है) कर सकते है। इसे लेटिन शब्द 'Vegeo' से सम्बद्ध कर सकते है।

र्हयन्तः—'रह्' (धा० १ ७ ३) धातु (गति देना, दौडाना) का शतृ-प्रत्ययान्त प्रथमा, ब० व० का रूप है 'धातो' (पा० सू० ६ १ १६२) से मूल धातु पर अन्तोदात्त स्वर है।

अरुषस्य—सा० ने यहाँ इसका अर्थ सूर्य तथा वैकल्पिक रूप से 'वैद्युत अग्नि' किया है, किन्तु वें० मा० की व्याख्या 'दीप्तस्य मारुतस्य गणस्य सकाशात्' अधिक सगत प्रतीत है, क्योकि अन्यत्र भी मरुतो के द्वारा या उनके अश्वो द्वारा वृष्टि का प्रसग आया है। ऋ० ५ ८३ ६ मे 'अश्वस्य धारा' और ऋ० ५ ५६ ७ मे 'वाजी अरुष' इस बात के प्रमाण है कि यहाँ 'धारा' का सम्बन्ध मरुतो के अश्वो या उनके गण से ही है। पाश्चात्य व्याख्याकारो मे मैक्डॉ०, मैक्सम्यू०, गेल्ड०, रनू आदि ने भी यही अर्थ माना है। किन्तु यहाँ पर तात्पर्य आकाश मे दौडते हुए काले-लाल मेघखण्डो से है जो वायु के वेग मे अश्व जैसे प्रतीत होते है तथा जिनमे जल-धारा प्रवाहित होती है। ऋग्वैदिक ऋषियो की काव्यात्मक कल्पना और सौन्दर्यानुभूति का यह अनुपम उदाहरण है। जिस प्रकार से कोई भिस्ती अपने चर्म द्वारा धरती को पानी छिडककर भिगोता है वैसे ही गगन से मेघ अपनी धाराओ से धरती को भिगोते है। उपमा का यह सुन्दर उदाहरण ऋ० मे निहित काव्यसौन्दर्य को परिलक्षित करता है।

स्यन्ति—सा० के अनुसार यह 'षो अन्तकर्मणि' (दिवा० ग०) धा० का लट् लकार का रूप है। मैक्डॉ० ने इसे 'सि' धा० (बाँधना) का रूप माना है।

उन्दन्ति—'उद् (उन्दी क्लेदने'—धा० पा० १९ २०) धा० का लट् का प्र० पु०, ब० व० का रूप है। उपर्युक्त दोनो पदो मे 'अनुदात्तं० (पा० सू० ८ १ १२) से सर्वानुदात्त स्वर है।

भूमं—यह 'भूमि' शब्द का द्वि० ए० व० का रूप है जिसमे 'सुप ।सुलुक्०' (पा० ७.१ ३९) से 'भूमि' शब्द से उत्तर 'अम्' का आदेश है तथा छान्दस मे ह्रस्व हो गया है। मैक्डॉ० ने इसे 'भूमन्' शब्द का प्र० ए० व० का रूप माना है।

आवो॑ वह॒न्तु सप्त॑यो रघु॒ष्यदो॑ रघु॒पत्वा॑नः प्रजि॑गात बा॒हुभिः॑।
सीद॒ता ब॒र्हिरु॒रु वः॒ सद॑स्कृतं मा॒दय॑ध्वं मरु॒तो मध्वो॒ अन्ध॑सः ॥ ६ ॥

पदपाठ

आ । वः॒ । व॒ह॒न्तु॒ । सप्त॑यः । र॒घु॒ऽस्यद॑ः । र॒घु॒ऽपत्वा॑नः । प्र । जि॒गा॒त॒ । बा॒हु॒ऽभिः॑ । सीद॑त । आ । ब॒र्हिः । उ॒रु । वः॒ । सद॑ः । कृ॒तम् । मा॒दय॑ध्वम् । मरु॒तः॒ । मध्व॑ः । अन्ध॑सः ॥ ६ ॥

सायण—हे मरुत: व: युष्मान् सप्तय: सर्पणशीला अश्वा: आवहन्तु अस्मद्यज्ञं प्रापयन्तु। कीदृशा: सप्तय। रघुष्यद:। लघु शीघ्रं स्यन्दमाना:। वेगेन गच्छत इत्यर्थ:। रघुपत्वान: लघु शीघ्रं पतन्तो गच्छन्तो यूयं बाहुभि: स्वकीयैर्हस्तै: अस्मभ्यं दातव्यं धनमाहृत्य प्र जिगात प्रकर्षेण गच्छत। हे मरुत: व: युष्माकं सद: सदनं वेदिलक्षणं स्थानं उरु विस्तीर्णं कृतम्। तत्र यदास्तीर्णं बर्हि: तत् आ सीदत तस्मिन् बर्हिष्युपविशत। उपविश्य च मध्व: मधुरस्य अन्धस: सोमलक्षणस्यान्नस्य पानेन मादयध्वं तृप्ता भवत।

अनुवाद

(हे मरुद्गण !) आपलोगो को सर्पणशील शीघ्रगामी (अश्व) वहन करे (यहाँ लाये); और शीघ्रता से उड़ने वाले अपने बाहुओ द्वारा (वे) प्रकर्ष रूप से गमन करे। आप लोगो के लिये विस्तृत स्थान निर्मित किया गया है, बर्हियो पर आसीन हो (और) मधु (सोमरस) के रस से हे मरुद्गण ! हर्षित होवे।

टिप्पणी

(आ) वहन्तु—'वह प्रापणे' धातु का लट् प्र० पु० ब० व० का रूप। 'अनुदात्त सर्वं०' (पा० ८ १.१८) से सर्वानुदात्त स्वर है।

सप्तय'—यहाँ सभी व्याख्याकारो ने इसका अर्थ 'सर्पणशील (तीव्रगामी) अश्व' माना है। यद्यपि इस सूक्त के प्रथम मत्र मे तथा अन्यत्र (ऋ० ८.२०.२३)

यह मरुतो के विशेषण के रूप मे प्रयुक्त है, किन्तु इसके अतिरिक्त अन्य सभी स्थलो पर यह पद अश्वो के लिए ही ऋ० मे आया है (द्र० ऋ० १ ४७ ८, ८ ४.१४, ४६.७, ९ २१ ४, ६५ २६, १०.१४२ २)। अत यहाँ पर भी इसी अर्थ मे स्वीकार करना सगत होगा।

र॒घु॒ऽष्यदः —ऋ० मे यह सामासिक शब्द केवल सात बार आया है (ऋ० १ ६४ ७, ८५ ६; १४० ४; ३ २६ २, ५.२५.६; ७३ ५, ८ ३४ १७)। सा० ने इसकी व्याख्या—'रघु स्यन्दन्ते इति रघुष्यद॰। 'स्यन्दू प्रस्रवणे' 'क्विप् च' इति क्विप। अनिदिता॰म्० इति न लोप। कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वम्'—रूप मे की है। वें० मा० ने इसे 'लघुगामिन' तथा मुद्गल ने 'लघु शीघ्र स्यन्दमाना वेगेन गच्छन्त इत्यर्थ' रूप मे प्रस्तुत किया है।

'लघु' का 'रघु' रूप मे परिवर्तित होना 'वालमूललघ्वत्सरा' (पा० सू० ८ २ १८ पर वार्तिक) सूत्र से निश्चित किया जा सकता है। 'रघु' की निष्पत्ति रह्' (या 'लह्'—तीव्र गमन करना, शीघ्रता करना) धा० से की जा सकती है।

र॒घु॒पत्वा॑न.—यह सामासिक पद केवल यही पर आया है। 'रघु + पत्' धा० से इसकी निष्पत्ति है। स्वर के आधार पर इसे 'सतय' के साथ अन्वित किया जा सकता है।

(प्र) जि॒गा॒त—सा० ने इसे जौहोत्यादिक 'गा स्तुतौ' का (लिट्, प्र० पु० ब० व०) का रूप माना है किन्तु साथ ही निघ० (२.१४ ११३) के 'जिगाति गति कर्मण' के आधार पर इसे गत्यर्थक भी स्वीकार किया है। मैक्डॉ० ने 'गा' धा० (गमन करना) से निष्पन्न किया है जो सगत है। यहाँ यह लेडर्थ है।

बा॒हुभि॑ः—सा० ने इसकी व्याख्या—'स्वकीयैर्हस्तैः अस्मभ्यं दातव्यं धनमाहृत्य'—रूप मे की है। दूसरे स्थानो पर इस प्रकार का सन्दर्भ नही मिलता; केवल ऋ० १ १६६ १० मे मरुतो को कहा गया है 'भूरीर्ण भद्रा नर्येपु बाहुषु' (मरुतो की बाहुओ मे बहुत सी कल्याणमयी वस्तुएँ है)—जिसके आधार पर यहाँ भी बाहुओ का अर्थ इसी रूप मे ग्रहण किया जा सकता है।

(आ) सीद॑त—'सद्' (बैठना) धा० का लोट्, म० पु० ब० व० का रूप। पादादि मे होने से उदात्त स्वर है।

मा॒दय॑ध्वम्—'मदी हर्षे' अथवा 'मद तृप्तियोगे' ('चुरादिरात्मनेपदी'—सायण) धा० का विधिलिङ् म० पु० ब० व० का रूप है। पादादि मे होने से उदात्त स्वर है।

मध्वः—'मधु' शब्द का षष्ठी ए० व० का रूप है। यहाँ 'सोमरस' के लिये प्रयुक्त प्रतीत होता है।

अन्धसः—वैदिक संस्कृत में 'अन्धस्' (नपुं. लि.) शब्द 'रस' अर्थ में प्रयुक्त है। इसकी निष्पत्ति 'अद्' (भक्षण करना) धा० से 'नुम्' और 'असुन्' प्रत्ययों सहित ('अदेर्नुम् धश्च'—उ० सू० ४ ६४५) होगी।

'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' (पा० ६ १ १९७) से यह सदैव आद्युदात्त रहता है। अत 'अन्धः' (रस) और 'अन्ध (नेत्रविहीन) में स्वरभेद देखकर अर्थभेद भी समझना चाहिये।

तेऽवर्धन्त स्वतवसो महित्वना नाकं तस्थुरुरु चक्रिरे सदः।
विष्णुर्यद्धावद्वृषणं मदच्युतं वयो न सीदन्नधि बर्हिषि प्रिये ॥७॥

पदपाठ

ते। अवर्धन्त। स्वऽतवसः। महिऽत्वना। आ। नाकम्। तस्थुः। उरु। चक्रिरे। सदः। विष्णुः। यत्। ह। आवत्। वृषणम्। मदऽच्युतम्। वयः। न। सीदन्। अधि। बर्हिषि। प्रिये।

सायण—ते मरुतः अवर्धन्त वृद्धिं गताः। कीदृशाः। स्वतवसः स्वाश्रयबलाः। नान्यस्य कस्यचिद्बलमपेक्षन्ते। वृद्धिं प्राप्य च महित्वना महिम्ना महत्त्वेन नाकं स्वर्गं आ तस्थुः आस्थितवन्तः। सदः सदनं नभोलक्षणं स्थानं च स्वकीयनिवासाय उरु विस्तीर्णं चक्रिरे। यत् येभ्यो मरुद्भ्यो यदर्थं वृषणं कामाभिवर्षकं मदच्युतं मदस्य दर्पस्य आपेक्तारं यज्ञं विष्णुः ह आवत् विष्णुरेवागत्य रक्षति ते मरुतः वयो न पक्षिणो यथा शीघ्रमागच्छन्ति एवं शीघ्रमागत्य बर्हिषि अधि अस्मदीये यज्ञे प्रिये प्रीतिकरे सीदन् सीदन्तु उपविशन्तु।

अनुवाद

स्वायत्तबल वाले वे मरुद्गण महिमा के द्वारा वर्धित हुए, वे स्वर्ग में स्थित हुए, तथा (उन्होंने) विस्तृत स्थान बनाया। जब विष्णु ने मद से च्युत (मदमस्त) वर्षक (इन्द्र) की रक्षा की वे पक्षियों के समान प्रिय बर्हिषों पर आसीन हुए।

टिप्पणी

ते—संहिता पाठ में यह स्वरित स्वरयुक्त है। 'स्वरितो वानुदात्ते पादादौ' (पा० ८.२-६) से पादादि में होने से विकल्प से स्वरित हुआ है। अन्यत्र यह

पादादि मे होने पर भी उदात्त स्वर वाला है (द्र० ऋ० २ ३४ १३ , ४ १. १४ , १५ , ५ ५९ ६ ; ६ ७५ ४ ; ८ १९.१७ इत्यादि ।

अवर्धन्त—वृधूड् वृद्धौ' धा० का लड् प्र० पु० ब० व० का आत्म० रूप है । 'अनुदात्त (पा० ८ १ १८) से सर्वानुदात्त है ।

स्वतवस:—यह ऋ० (१ ६४ ७ ; ८५ ७ , १६६ २ ; १९८ २ ; १८६ १० और ७ ५९ ११) मे केवल मरुतो के विशेषण रूप मे प्रयुक्त हुआ है । इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि मरुद्गणो के वर्धन के लिये कोई अन्य शक्ति उत्तरदायी नही है तथा वे स्वाधीन है । यह ब० व्री० समास (प्र० ब० व०) है जिससे 'बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्' (पा० सू० ६ २ १) से इसका पूर्वपद उदात्त स्वर वाला है ।

महित्वना—सा० ने इस रूप पर इस प्रकार से विचार प्रस्तुत किया है—'भावप्रत्ययादुत्तरस्य आड व्यत्ययेन नाभाव उदात्तत्व च । यद्वा । 'सुपा सुलुक्०' (पा० सू० ७.१ ३९) इति आजादेशो नकारोपजनश्च ।' यह 'महित्वन्' शब्द का तृ० ए० व० का रूप है । 'त्वन' प्रत्यय केवल ऋग्वेद तक ही सीमित है जहाँ यह आठ नपु० लिग शब्दो के साथ भाववाचक सज्ञाओ के द्योतन के लिये प्रयुक्त हुआ है, वे है—'कवित्वन' (विद्वत्ता), 'जनित्वन' (स्त्रीत्व), 'पतित्वन' (स्वामित्व), 'मर्त्यत्वन' (मरणशीलता), 'महित्वन' (महत्ता), 'वसुत्वन' (सम्पन्नता), 'वृषत्वन' (पुरुषत्व), 'सखित्वन' (मित्रता) । ये सभी 'त्व' के भाव को द्योतित करने वाले शब्द है । (द्र० Altind Gram Band II 2. P 716) । सायण ने 'महित्वना' को द्वितीय पाद के साथ अन्वित किया है, किन्तु यह उचित नही जान पडता, क्योकि जैसा उन्होने दोनो पादो के बीच मे 'च' का लोप मानकर 'चादिलोपे विभाषा' से 'तस्थु.' के स्वर पर विचार किया है उससे स्पष्ट है कि इसे प्रथम पाद के साथ ही अन्वित करना चाहिये और उसी के आधार पर अर्थ करना चाहिये, जैसा कि मैक्डॉ०, गेल्ड० और मैक्सम्यू० आदि ने किया है ।

नाकम्—इसे स्वर्ग का पर्याय माना गया है । ब्राह्मणो मे इसकी निष्पत्ति 'न अक विद्यते यत्र' (जहाँ दु ख नही है अर्थात् स्वर्ग) रूप मे मिलती है । निरुक्त मे 'योऽर्थज्ञ इत् सकल भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा' (नि० १ ६) मे स्पष्ट रूप से यह स्वर्ग अर्थ मे प्रयुक्त है ।

(आ) तस्थु —'स्था' धा० का लुड् का प्र० पु० ब० व० का रूप है । 'चादिलोपे विभाषा' (पा० ८.१.६३) से अन्तोदात्त स्वर है ।

विष्णुर्यद्॰॰॰॰॰मदच्युतम्—यहाँ पर विष्णु को इन्द्र के सहायक या मित्र के रूप मे ग्रहण करना चाहिये। मरुतो के समान उन्होंने इन्द्र की वृत्र-युद्ध मे सहायता की। जब सभी देवताओ ने इन्द्र का साथ नही दिया तब विष्णु ने उनकी रक्षा की। ऋ० ४१ ८.११ मे कहा गया है कि इन्द्र की माता ने इन्द्र से कहा कि सभी देवताओ ने उन्हे त्याग दिया है, तब इन्द्र ने विष्णु को अपनी सहायता के लिये बुलाया—'अथाब्रवीद् वृत्रमिन्द्रो हनिष्यन्त्सखे विष्णो वितर विक्रमस्व'। अन्यत्र भी कहा गया है कि इन्द्र ने विष्णु की सहायता से वृत्र का हनन किया (द्र० ऋ० ६.२० २)। अत यहाँ भी विष्णु इन्द्र के सखा रूप मे है, यज्ञ रूप मे नही। (विशेष विवेचन के लिये द्रष्टव्य SBE, Vol XXXII, PP. 133–137)।

आवत्—'अव रक्षणे' धा० का लङ्, प्र० पु० ए० व० का रूप है। सा० ने इसे वर्तमान (लट्) अर्थ मे माना है किन्तु इसकी कोई आवश्यकता यहाँ नही प्रतीत होती। 'लुङ् लङ्॰॰॰॰॰॰उदात्त.' (पा० ६.४.७१) से यहाँ उदात्त स्वर है।

मदच्युतम्—सा० ने इसकी निष्पत्ति 'मदं च्योततीति मदच्युत्', 'च्युतिर् आसेचने', 'क्विप् च' इति 'क्विप्' रूप मे की है। किन्तु अर्थ की दृष्टि से यह निष्पत्ति उचित प्रतीत नही होती। ऋ० १.५१.२ मे 'इन्द्रं रक्षास ऋभवो मदच्युतम्' आया है जहाँ सा० इसकी निष्पत्ति 'च्युङ् गतौ' से की है जो संगत जान पडती है।

सीदन्—'सद्' धा० का 'अट्' रहित लङ् का प्र० पु० ब० व० का रूप है। सा० ने इसे लिडर्थ लेट् का रूप माना है।

शूरा इवेद्युयुधयो न जग्मयः श्रवस्यवो न पृतनासु येतिरे।
भयन्ते विश्वा भुवना मरुद्भ्यो राजान इव त्वेषसंदृशो नरः ॥ ८ ॥

पदपाठ

शूराःऽइव। इत्। युयुधयः। न। जग्मयः। श्रवस्यवः। न। पृतनासु। येतिरे। भयन्ते। विश्वा। भुवना। मरुत्ऽभ्यः। राजानःऽइव। त्वेषऽसंदृशः। नरः ॥

सायण—इत् इत्येतत्समुच्चये। शूरा इवेत् शौर्योपेता युयुत्सवः पुरुषा इव च युयुधय. शत्रुभिर्युध्यमानाः पुरुषा इव च जग्मय· शीघ्रं गच्छन्तो मरुतः

श्रवस्यवो न श्रवोऽन्नमात्मन इच्छन्तः पुरुषा इव पृतनासु संग्रामेषु येतिरे प्रयतन्ते वृत्रादिभिर्युद्धे व्याप्रियन्ते। तादृशेभ्यः मरुद्भ्यः विश्वा भुवना सर्वाणि भूतजातानि भयन्ते बिभ्यति। ये नरः वृष्ट्यादेर्नेतारो मरुतः राजान इव राजमाना नृपतय इव त्वेषसंदृशः दीप्तसंदर्शना उग्ररूपतया द्रष्टुमशक्या भवन्ति तेभ्य इत्यर्थः।

अनुवाद

शौर्योपेत युयुत्सु पुरुषो के समान गमन करने वाले तथा यश (अन्न) की कामना करने वालो के समान मरुद्गणो ने युद्धो मे गमन किया (या प्रयत्न किया)। मरुद्गणो से समस्त प्राणी भयभीत होते है, वे वीरपुरुष राजाओ के समान उग्र दीप्ति वाले है।

टिप्पणी

युयुधय —'युध सम्प्रहारे' से 'आदृगमहनजन किकिनौ लिट् च' (पा० सू० ३.२.१७१) से 'उत्सर्गश्छन्दसि' वचन से 'किन्' प्रत्यय तथा अभ्यास (द्वित्वभाव) होगा, साथ ही 'कित्त्व' होने से गुण का अभाव (क्ङिति च—पा० सू० १ १. ५ से) होगा। 'नित्त्व' होने से ('ञ्नित्यादिर्नित्यम्'—पा० सू० ६ १.१९७) आद्युदात्त है।

जग्मय.—'गम्' धातु से उपर्युक्त सूत्र से 'किन्' प्रत्यय और 'गमहनजनखनघसा लोप.' (पा० सू० ६ ४.९८) से उपधालोप एव द्वित्वभाव करके रूप बनेगा। 'नित्त्व' से आद्युदात्त स्वर है। सा० ने इसका अर्थ 'शीघ्र गमन करते हुए' किया है जिसमे 'शीघ्र' भाव केवल मरुतो का गुण द्योतित करने हेतु है अन्यथा शाब्दिक अर्थ से उसका कोई सम्बन्ध नही है। माधव ने 'गच्छन्तः' शत्रुभ्यो' व्याख्या की है जिसका अनुसरण वे० मा० ने किया है। 'जिस प्रकार शत्रु के प्रति युयुत्सु योद्धा शीघ्र गमन करते हैं वैसे ही मरुद्गण तीव्रगामी हैं'—यह तात्पर्य हे।

श्रवस्यवं—सा० ने इसकी व्याख्या—'श्रव इच्छति श्रवस्यति'—रूप में की है। 'श्रवस्' संज्ञा शब्द से 'क्य' प्रत्यय (पा० ३.१ ८,११) और फिर 'क्याच्छन्दसि' (पा० सू० ३ २ १७०) से 'उ' प्रत्यय करके 'श्रवस्यु' शब्द की निष्पत्ति होगी। यहाँ पर यह प्र० ब० व० का रूप है। 'श्रवस्' की निष्पत्ति 'श्रु' (सुनना) (श्रूयते इति श्रवः धनम्—सा० भा० १.४८ ३) धा० से 'असुन्' प्रत्यय के साथ होगी। 'श्रवस्यव.' में मूल शब्द 'श्रवस्यु' पर अन्तोदात्त स्वर 'कित्' (कितः—पा० सू० ६ १.१६५) होने से है।

येतिरे—सा० ने इसे 'यती प्रयत्ने' धा० का लिट्, प्र० पु०, ब० व० का रूप माना है और 'छन्दसि लुङ्लङ्लिट' (पा० सू० ३.४.६) से इसे वर्तमान अर्थ मे ग्रहण किया है। स्कन्द ने भी यही व्याख्या दी है, किन्तु माधव और वें० मा० ने 'गच्छन्ति' व्याख्या की है जिससे स्पष्ट है कि उन्होने इसे 'यम्' धा० का रूप माना है। सा० की 'व्याप्रियन्ते' व्याख्या से ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होने भी आन्तरिक रूप से इसे 'यम् परिवेषणे' का रूप स्वीकार किया है। साथ ही अन्यत्र (ऋ० १० ७७.२) इसका अर्थ 'गच्छन्ति' किया है, जो संगत प्रतीत होता है। यह क्रियापद सर्वत्र ही (ऋ० १.६४ ४,८५ ८,५ ५९.२; ८ २० १२,१०.७७ २) मरुतो के साथ सलग्न है।

त्वेषसंदृश —इस समास की निष्पत्ति 'त्विष दीप्तौ' से 'अच्' प्रत्यय एवं 'सम्' उपसर्ग पूर्वक 'दृशिर् प्रेक्षणे' से 'क्विप्' प्रत्यय के साथ होगी। ब० व्री० होने से पूर्वपद उदात्त है। मरुतो को 'भीमसंदृश' (ऋ० ५ ५६ २) भी कहा गया है जिसकी तुलना प्रस्तुत सन्दर्भ से की जा सकती है।

त्वष्टा यद्वज्रं सुकृतं हिरण्ययं सहस्रभृष्टिं स्वपा अवर्तयत्।
धत्त इन्द्रो नर्यपांसि कर्तवेऽहन्वृत्रं निरपामौब्जदर्णवम् ॥ ९ ॥

पदपाठ

त्वष्टा। यत्। वज्रम्। सुऽकृतम्। हिरण्ययम्। सहस्रऽभृष्टिम्। सुऽअपाः। अवर्तयत्। धत्ते। इन्द्रः। नरि। अपांसि। कर्तवे। अहन्। वृत्रम्। निः। अपाम्। औब्जत्। अर्णवम्।

सायण—स्वपाः शोभनकर्मा त्वष्टा विश्वनिर्माता यद्वज्रम् अवर्तयत् इन्द्रं प्रत्यगमयत्। दत्तवानित्यर्थः। कीदृशम्। सुकृतम् सम्यङ्निष्पादितं हिरण्ययं सुवर्णमयं सहस्रभृष्टिम् अनेकाभिर्धाराभिर्युक्तम्। तद्वज्रं इन्द्रः धत्ते धारयति। किमर्थम्। नरि अत्र नृसम्बन्धात् नृशब्देन संग्रामोऽभिधीयते। संग्रामे अपांसि शत्रुहननादिलक्षणानि कर्माणि कर्तवे कर्तुम्। एवं वज्रं धृत्वा तेन वज्रेण वृत्रं वृष्ट्युदकस्यावरकम् अर्णवम् अर्णसोदकेन युक्तं मेघम् अहन् अवधीत् अपां तेन निरुद्धा अपश्च सः निः औब्जत् निःशेषेणाधोमुखमपातयत्। प्रवृष्टा अकरोदित्यर्थः॥

अनुवाद

जब शोभनकर्मा त्वष्टा ने सहस्र धारों वाले, सुनिर्मित, हिरण्यमय वज्र को प्रवर्तित किया (घुमाया—दिया), इन्द्र ने वीरतापूर्ण कार्य

सम्पादन हेतु उसे धारण किया तथा वृत्र का बध किया और जलसमूह को प्रवाहित किया (सीधे बहाया)।

टिप्पणी

सुकृतम्—सु—√कृ + क्त से निष्पन्न है। 'गतिरनन्तर.' (पा० ६.२ ४९) से उदात्तस्वर 'सु' पर है क्योकि 'सु' की यहाँ 'गति' सज्ञा है ('गतिश्च'—(प्रादय. क्रियायोगे) पा० १ ४ ६०)।

हिरण्ययम्—'हिरण्य' शब्द से 'मयट्' प्रत्यय करके (जिसमे 'म' का लोप है) यह शब्द निर्मित किया जा सकता है, जिससे 'हिरण्यय' शब्द बनेगा और इसके पश्चात् द्वितीया विभक्ति का रूप 'हिरण्ययम्' है। यह 'ऋत्व्य-वास्त्व्यवास्त्वमाध्वीहिरण्ययानिच्छन्दसि' (पा० ६ ४ १७५) सूत्र के आधार पर निष्पन्न होगा। 'हिरण्य' का अन्तिम 'अकार' 'एकदेश उदात्तेनोदात्त' (पा० ८.२ ५) से उदात्त है।

सहस्रभृष्टिम्—सा० ने इसका अर्थ 'अनेक धारो से युक्त' किया है। स्कन्द ने इसकी व्याख्या—'भृष्टयोऽत्राश्रय उच्यन्ते, सहस्राश्रिम्'—रूप मे की है जो सा० भा० के समान ही है। मा० और वें० मा० ने भी यही अर्थ किया है। पाश्चात्त्य व्याख्याकारो ने भी इसी अर्थ का अनुसरण किया है। अन्यत्र 'तिग्म-भृष्टि' (ऋ० ४ ५.३), 'चतु.भृष्टिम्' (ऋ० १० ५८ ३) और 'विशङ्गभृष्टिम्' (ऋ० १.१३३.५) शब्द भी 'सहस्र०'—के समान है किन्तु कही भी सायण ने 'भृष्टिम्' का अर्थ 'धार' नही किया, साथ ही 'चतुष्ट०' पद 'भूमिम्' का विशेषण है जिससे यह अर्थ सगत नही हो सकता। ऋ० १.५६ ३ मे 'भृष्टि' तथा ऋ० १.५२.१५ मे 'भृष्टिमता' पद आये है जिनमे प्रथम को इन्द्र के 'बल' (शत.) के साथ उपमेय के रूप मे प्रस्थापित किया गया है। स्पष्ट है कि 'धार' अर्थ का यहाँ कोई उपयोग नही हो सकता। दूसरे स्थान पर 'भृष्टिमता' को मरुतो के 'शस्त्र' (वधेन) का विशेषण रूप मे प्रस्तुत किया गया है जहाँ सा० ने 'भृष्टि' की व्याख्या—'भ्रंशयति शत्रूनिति भृष्टि'—रूप मे की है। किन्तु भिन्न-भिन्न स्थलो पर विभिन्न निष्पत्तियाँ दे देने से ही समस्या का समाधान नही हो जाता। इसे 'भृश्' या 'भृष्' धा० से 'क्तिच्' प्रत्यय सहित ('क्तिच्क्तौ च सज्ञा-याम्'—पा० ३ ३ १७४) निष्पन्न किया जा सकता है। किन्तु 'भृश्' से निष्पन्न करने पर उचित अर्थ की प्रतीति नही होती, क्योकि इसका मूल अर्थ 'गिरने' से है। अत. 'भृष्' धा० से, जिसका अर्थ 'शक्तिशाली होना', 'प्रचण्ड होना', 'तीव्र या तीक्ष्ण होना' आदि है, निष्पन्न करना अधिक सगत होगा जिससे 'भृष्टि' का

अर्थ 'प्रचण्ड' या 'तीक्ष्ण' सम्भव है जो लाक्षणिक रूप से 'धार' या 'किनारा' अर्थ मे ग्रहण किया जा सकता है।

मूल रूप से इसमे चित्त्व होने से अन्तोदात्त स्वर है ('चित' पा० ६.१.१६३) जो भृष्टि (ऋ० १ ५६ ३) मे देखा जा सकता है; किन्तु ब० व्री० समास के कारण यहाँ पूर्वपद पर उदात्त स्वर है ('बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्'— पा० ६.२ १)।

स्वपाः (सुऽअपाः)—'अप इति कर्मनाम' (निघ० २ १) के आधार पर सभी ने इसका अर्थ 'सुन्दर कर्मवाले' अर्थात् 'दक्ष' या 'कुशल' किया है। 'सोर्मनसी अलोमोषसी' (पा० ६ २ १७७) सूत्र से उत्तरपद पर आद्युदात्त स्वर है।

अवर्तयत् —'वृतु वर्तने' धा० का लङ्, प्र० पु० ए० व० का रूप है। यहाँ वर्तित करने का तात्पर्य इन्द्र को प्रदान करने या निर्मित करने से है। यहाँ यह 'लुङ्लङ्......उदात्त' (पा० ६ ४ ७१) से उदात्त है।

कर्तवे—यहाँ यह 'कृ' धा० से वैदिक तुमुनर्थ रूप है। यह 'तुमर्थे सेसेन-असेन्क्सेकसेनध्यैअध्यैन्कध्यैकध्यैन् शध्यैशध्यैन्तवैतवेङ्तवेन.' (पा० ३ ४.९) से 'कृ' धा० के साथ 'तवेन्' प्रत्यय करके निष्पन्न रूप है और 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' (पा० ६.१ १९७) से आद्युदात्त है।

अपाम्—सा० ने इसे 'क्रियाग्रहणं कर्तव्यम् इति कर्मण सम्प्रदानत्वात् चतुर्थ्यर्थे षष्ठी' रूप मे स्पष्ट करना चाहा है, किन्तु उनका इसे षष्ठी से चतुर्थी मे ग्रहण करना सगत नही प्रतीत होता। उन्होने 'वृत्रं' को 'अर्णवम्' के साथ अन्वित किया है और 'वृत्र' को विशेषण रूप मे ग्रहण किया है, किन्तु इसकी कोई आवश्यकता नही है। क्योकि 'अहन् वृत्रम्' अपने आप मे सम्पूर्ण वाक्य है और दूसरा वाक्य अपाम् अर्णवम् नि औब्जत्' (निरपामौब्जदर्णवम्)—'जल के समूह को प्रवाहित किया'—रूप मे स्वतन्त्र वाक्य है। अत. 'अपाम्' का षष्ठी मे ग्रहण करना ही संगत है।

नि. औब्जत्—'उब्ज आर्जवे' (धा० पा० २८ २०)—सीधा करना, दबाना, दमित करना आदि—का लङ् का प्र० पु० ए० व० का रूप है।

ऊर्ध्वं नुनुद्रेऽवतं त ओजसा दादृहाणं चिद्बिभिदुर्वि पर्वतम्।
धमन्तो वाणं मरुतः सुदानवो मदे सोमस्य रण्यानि चक्रिरे ॥ १० ॥

पदपाठ

ऊर्ध्वम् । नुनुद्रे । अवतम् । ते । ओजसा । दद्दृहाणम् । चित् । बिभिदुः । वि । पर्वतम् । धमन्तः । वाणम् । मरुतः । सुऽदानवः । मदे । सोमस्य । रण्यानि । चक्रिरे ॥ १० ॥

सायण—अत्रेयमाख्यायिका । गोतम ऋषिः पिपासया पीडितः सन् मरुत उदकं ययाचे । तदनन्तरं मरुतोऽदूरस्थं कूपमुद्धृत्य यत्र स गोतमऋषिः तिष्ठति तां दिशं नीत्वा ऋषिसमीपे कूपमवस्थाप्य तत्पार्श्वे आहावं च कृत्वा तस्मिन्नाहावे कूपमुत्सिच्य तमृषिं तेनोदकेन तर्पयाञ्चक्रुः । अयमर्थोऽनयोत्तरया च प्रतिपाद्यते ॥ ते मरुतः अवतम् । अवस्तात्ततो भवतीति अवतः कूपः । कूपनामसु च 'अवतः अवटः' (नि० ३.२३.७) इति पठितम् । तम् ऊर्ध्वम् उपरि यथा भवति तथा ओजसा स्वकीयेन बलेन नुनुद्रे प्रेरितवन्तः उत्खातवन्त इत्यर्थः । एवं कूपमुत्खाय ऋषेराश्रमं प्रति नयन्तः मरुतः मार्गमध्ये दद्दृहाणं प्रवृद्धं गतिनिरोधकं पर्वतं चित् पर्ववन्तं शिलोच्चयमपि विबिभिदुः विशेषेण बभञ्जुः । सुदानवः शोभनदानास्ते मरुतः वाणं शतसंख्याभिः तन्त्रीभिर्युक्त वीणाविशेषं धमन्तः वादयन्तः सोमस्य मदे सोमपानेन हर्षे सति रण्यानि स्तुत्यानि रमणीयानि धनानि चक्रिरे स्तोतृभ्यः कुर्वन्ति ॥

अनुवाद

उन्होंने शक्ति से कूप को ऊपर की ओर प्रेरित किया (तथा) दृढ़ पर्वत को भी विदीर्ण किया । उदार मरुतों ने वीणा बजाते हुए, सोम के मद में सुन्दर कार्यों को किया ।

टिप्पणी

नुनुद्रे—'णुद प्रेरणे' धा० का लिट् का प्र० पु० ब० व० का रूप है । 'अनुदात्त सर्वं०' (पा० ८.१.१८) से सर्वानुदात्त है ।

अवतम्—शाब्दिक अर्थ 'कूप' है किन्तु लक्षणया यहाँ बादलों का संकेत है ।

दद्दृहाणम्—'दृह्' धा० (दृढ़ करना) से लिट् लकार से 'कानच्' प्रत्यय ('लिटः कानज्वा'—पा० ३.२.१०६) करके रूप निष्पन्न किया गया है । पदपाठ में 'ददृहाणम्' रूप हो जाता है । ऐसे रूपों में उदात्त स्वर सदैव प्रत्यय पर होता है (द्र०—मैक्डा०, वे० ग्रा०, ४९१) । पा० के आधार पर उदात्त

स्वर यहाँ 'चित.' (पा० ६ १.१६३) के आधार पर प्रत्यय पर है और सदैव अन्तोदात्त होता है।

(वि) बिभिदुः—'भिद्' (भेदन करना, विदीर्ण करना) धा० का लिट् प्र० पु० ब० व० का रूप है। 'अनुदात्त०' (पा० ८.१.६२) से सर्वानुदात्त है।

धमन्त·—'ध्मा शब्दाग्निसयोगयो.' से 'पाघ्राध्मास्था०' (पा० ७ ३ ७८) से 'ध्मा' को 'धम्' आदेश होकर 'शतृ' प्रत्यय करके यह प्रथमाबहुवचनान्त रूप है। 'शतुरनुमो नद्यजादी' (पा० ६ १ १७३) से यहाँ धातुस्वर (आद्युदात्त) ही शेष रह गया है।

वाणम्—'वण्' ('अण रण वण शब्दार्था') धातु मे 'कर्मणि घञ्' से 'घञ्' प्रत्यय द्वारा 'वाण' शब्द निष्पन्न होगा। यहाँ द्वि० ए० व० का रूप है। 'कर्षात्वतो घञोऽन्त उदात्त.' (पा० ६.१.१५९) से अन्तोदात्त है।

रण्यानि—'रण्' धातु से 'अप्' प्रत्यय (वशिरण्योरुपसख्यानम्'—पा० ३.३.५८.३) और उसके पश्चात् 'यत्' प्रत्यय ('भवे छन्दसि'—पा० ४.४.११०) करके यह 'रण्य' रूप निष्पन्न किया जा सकता है। 'यतोऽनाव.' (पा० ६.१.२१३) से आद्युदात्त स्वर है।

चक्रिरे—'कृ' धा० का लिट् का प्र० पु० ब० व० का रूप है। 'अनुदात्तं सर्वम्०' (पा० ८ १.१८) से सर्वानुदात्त है।

१ ८५.११

जिह्मं नुनुद्रेऽवतं तया दिशासिञ्चन्नुत्सं गोतमाय तृष्णजे।
आ गच्छन्तीमवसा चित्रभानवः कामं विप्रस्य तर्पयन्त धामभिः॥

पदपाठ

जिह्मम्। नुनुद्रे। अवतम्। तया। दिशा। असिञ्चन्। उत्सम्। गोतमाय। तृष्णऽजे। आ। गच्छन्ति। ईम्। अवसा। चित्रऽभानवः। कामम्। विप्रस्य। तर्पयन्त। धामऽभिः॥ ११॥

सायण—मरुतः अवतम् उद्धृतं कूपं यस्यां दिशि ऋषिर्वसति तया दिशा जिह्मं वक्रं तिर्यञ्चं नुनुद्रे प्रेरितवन्तः। एवं कूप नीत्वा ऋष्याश्रमेऽवस्थाप्य तृष्णजे तृषिताय गोतमाय ऋषये तदर्थम् उत्सं जलप्रवाहं कूपादुद्धृत्य असिञ्चन्। आहावेऽवानयन्। एवं कृत्वा ईम् एनं स्तोतारमृषि चित्रभानवः विचित्रदीप्तयस्ते मरुतः अवसा ईदृशेन रक्षणेन सह आ गच्छन्ति तत्समीपं प्राप्नुवन्ति प्राप्य च

प्रस्य मेधाविनो गोतमस्य कामम् अभिलाषं धामभि : आयुषो धारकैरुदकैः तर्पयन्त अतर्पयन् ॥

अनुवाद

(मरुतो ने) उस दिशा के द्वारा (ओर) कुटिल कूप को (मेघ को) प्रेरित किया (और) पिपासित गोतम ऋषि के लिये उत्स (निर्झर) को सिञ्चित किया (जल प्रवाहित किया) । विचित्र (सुन्दर) प्रकाशवाले (मरुद्गण) इसके (ऋषि के) समीप आगमन करे तथा अपने प्रकाश (तेज) से मेधावी (ऋपि) की कामना को पूर्ण करे (तृप्त करे) ।

टिप्पणी

जिह्मम्—यह पद ऋ० मे केवल यही पर आया है । अन्यत्र जिह्मबारम् (१ ११६ ९,८ ४० ५), 'जिह्मश्ये' (१.११३ ५) और 'जिह्मानाम्' (१.९५ ५;२ ३५ ९) रूप आये है । सा०, मा०, वे० मा० आदि सभी ने इसका अर्थ 'तिर्यक' या 'कुटिल' किया है और इसे नुनुद्रे क्रिया के साथ क्रिया विशेषण रूप में ग्रहण किया है जिसका अनुसरण मैक्सम्यूलर, मैक्डॉ०, गेल्ड० आदि ने भी किया है । किन्तु यहाँ पर यह 'अवतम्' (कूप या मेघ) का विशेपण प्रतीत होता है । दोनो पद द्वितीया ए० व० मे है अत एक साथ अन्वित किये जाने चाहिये । सा० ने अन्यत्र 'जिह्मानाम्' की व्याख्या—'कुटिलाना मेघेषु तिर्यगवस्थिताना तासामपा'–रूप मे की है । साथ ही ऋ० १ ११६ ९ मे 'जिह्मबारम्' को 'अवतम्' का विशेषण स्वीकार किया है जहाँ पर लगभग यही सन्दर्भ है । ऋ० २.३५.९ मे भी 'जिह्म' शब्द जल के ही साथ सम्बन्धित है । अत: इन सभी आधारो पर प्रस्तुत सन्दर्भ मे भी 'जिह्म' को 'अवतम्' का विशेषण मानना सगत होगा । इसकी निष्पत्ति 'ओहाङ् गतौ' से ('जिहीते कुटिलता गच्छति इति जिह्मम्'—'जिह्म जिहीते:'— निरु० ८.२) कर सकते है ।

√तृष्णजे—'जितृषा पिपासाया' से 'नजिङ्' प्रत्यय ('स्वपितृषोर्नजिङ्'— पा० ३ २.१७२) करके 'तृष्णज' रूप निष्पन्न होगा । 'प्रत्यय:' और 'आद्युदात्तश्च' ही प्रत्यय का आद्युदात्त स्वर है ।

किन्तु यहाँ यह बहुव्रीहि समास है अत इसकी व्याख्या अन्य रूप में भी हो सकती है जैसा कि सायण ने किया है—'अन्येष्वपि दृश्यते' इति दृशि ग्रहणात् केवलादपि जनेर्ड प्रत्ययः । तृष्णा जाता यस्य स तथोक्त । 'ङ्यापो सज्ञाच्छन्दसोर्बहुलम्' (पा० ६.३ ६३) इति ह्रस्वत्वम् । बहुव्रीहौ पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम्' ।

विप्रस्य—'विप्र इति मेधाविनाम' (नि० ३.१५) के आधार पर सभी ने इसका अर्थ 'मेधावी' माना है। गेल्ड० ने इसका अनुवाद 'वाक्पटु' (Redekundigen, Redegewalfig) किया है तथा एकयॉन खोन्दा ने 'प्रोत्साहित' (inspired) किया है (द्र० Epithets in the Rgveda, Mouton & Co 1959, P. 156)। मूल रूप से 'विप्र' शब्द 'विप्' धा० (प्रकम्पित होना) से 'र' प्रत्यय सहित निष्पन्न है। अत मन्त्रोच्चारण करते समय शारीरिक प्रकम्पन के कारण मेधावी ऋषियो का नाम 'विप्र' पड गया होगा। सायण ने इसे 'वप्' धा० (डुवप् बीजसताने) से 'रत्' प्रत्यय करके निष्पन्न किया है ('ऋज्रेन्द्रा-' उ० सू० २ १८६)। किन्तु 'विप्' धा० से निष्पन्न करना ही सगत प्रतीत होता है।

तर्पयन्त—'तृप्' धा० (तृप् प्रीणने) का विधिलिङ् (injunctive) प्र० पु० ब० व० का आत्मनेपदी रूप हो सकता है। अन्यथा 'अट्' रहित लङ् का रूप भी सभव है किन्तु अर्थ यहाँ 'विधि' का ही है। ऋ० मे यह रूप केवल यही पर आया है। 'अनुदात्त सर्वं' से सर्वानुदात्त है।

धामभि.—'धामन्' शब्द का तृ० ब० व० का रूप। सा० ने इसे 'धा' धा० से 'मनिन्' प्रत्यय करके निष्पन्न माना है।

या वः शर्म शशमानाय सन्ति त्रिधातूनि दाशुषे यच्छताधि।
अस्मभ्यं तानि मरुतो वि यन्त रयिं नो धत्त वृषणः सुवीरम् ॥ १२ ॥

पदपाठ

या। वः। शर्म। शशमानाय। सन्ति। त्रिऽधातूनि। दाशुषे। यच्छत। अधि। अस्मभ्यम्। तानि। मरुतः। वि। यन्त। रयिम्। नः। धत्त। वृषणः। सुऽवीरम्।

सायण—हे मरुतः वः युष्माकं सम्बन्धीनि या यानि शर्म शर्माणि सुखानि गृहाणि वा। कीदृशानि। त्रिधातूनि पृथिव्यादिषु त्रिषु स्थानेषु अवस्थितानि शशमानाय युष्मान् स्तुतिभिर्भजमानाय दातुं संपादितानि। पूर्वोक्तलक्षणानि शर्माणि यानि सन्ति यानि च दाशुषे हविर्दत्तवते यजमानाय अधि यच्छत अधिकं प्रयच्छथ हे मरुतः तानि सर्वाणि शर्माणि अस्मभ्यं वियन्त विशेषेण प्रयच्छत। किं च हे वृषणः कामानां वर्षितारो मरुतः न अस्मभ्यं सुवीरं शोभनैर्वीरैः पुत्रादिभिर्युक्तं रयिं धनं धत्त दत्त ॥

अनुवाद

हे मरुद्गण ! आप लोगो का जो सुख सेवक (स्तुतिकर्ता, पूजक) के लिये है उसे उदार व्यक्ति के लिए तिगुना करके प्रदान करे। हे मरुद्-गण ! उन (सुखो) को हमे भी प्रदान करे और हे वर्षक ! हमारे लिये वीर पुत्रा सहित धन धारण करे। (प्रदान करे)।

टिप्पणी

या—'यानि' का वैदिक रूप। 'शेश्छन्दसि बहुलम्' (पा० ६ १.७०) से 'शि' ('इ' प्रत्यय—प्र० और द्वि० ब० व० मे) का लोप हो गया है।

शर्म—निघ० (३ ४ २१) मे इसे 'गृह' का और निघ० (३ ६ ४) मे 'सुख' का पर्याय माना गया है जिसके आधार पर सायणादि व्याख्याकारो ने इसके दोनो अर्थ किये हैं। 'सुख' अर्थ मे इसे सा० ने 'शॄ हिसाया' (हिनस्ति दु.खमिति शर्म) धा० से निष्पन्न किया है। पाश्चात्त्य व्याख्याकारो ने इसे 'शरण' या 'गृह' अर्थ में स्वीकार किया है। इस स्थिति मे इसे 'शॄ आश्रयणे अथवा रक्षणे' से निष्पन्न करना उचित होगा। ऋग्वेद के अनेक सन्दर्भों से 'शर्म' का अर्थ 'आश्रय स्थान' या 'शरण' ही अधिक सगत प्रतीत होता है (द्र० ऋ० १ २२ ११;१ ११४.५,४.५३.६ ४६ ९;८ १८.२१ इत्यादि)। इसे 'शरण' और 'शरीर' से सम्बन्धित कर सकते है। इण्डो-यू० 'केल' (Kel to protect) और जरमन 'schirman' (रक्षा करना) भी इसी के समीप है।

शशमानाय—सा० ने इसे 'शश प्लुतगतौ' से निष्पन्न किया है 'शश्' धा० से 'चानश्' प्रत्यय करके 'शशमान' रूप बनेगा (पा० ३.२.१२९)। ग्रासमान ने इसे 'शम्' धा० (परिश्रम करना) से निष्पन्न मानकर इसका अर्थ कार्यशील (wirken), परिश्रमी (thatisein) किया है (द्र० wb. 1379) जिस अर्थ का अनुसरण मैक्डॉ०, गेल्ड० आदि सभी ने किया है। किन्तु 'शम्' धा० से 'शशमान' शब्द निष्पन्न करना उतना स्वाभाविक नही प्रतीत होता जितना 'शश' धा० से। यहाँ निष्पत्ति के आधार पर यही कहा जा सकता है कि जो 'तीव्रता से गमन करने वाला' या 'समीप पहुँचने वाला है' वह 'शशमान' है। 'शर्म' के साथ इसका अर्थ—'जो शरण के लिये शीघ्र गमन करने वाला है'—होगा। उदात्त स्वर प्रत्यय पर है।

त्रिधातूनि—सा० ने इसकी व्याख्या—'पृथिव्यादिषु त्रिषु स्थानेषु अव-स्थितानि'—की है जो विवादास्पद है। स्कन्द ने इसकी व्याख्या—'धीयन्ते

प्राणिनां देहेष्विति धातवः अन्तरस. तैः देवमनुष्योपभोग्यै. त्रिभिरप्युपेतानि त्रिधातूनि यच्छब्दात्तच्छब्दाध्याहार.'—रूप मे की है। किन्तु यह व्याख्या सा० की व्याख्या से भी अधिक खीचातानी वाली प्रतीत होती है। मंत्र मे 'अधि' पद के प्रयोग से यह स्पष्ट होता है कि जो कुछ है उससे और अधिक बढाकर प्रदान किया जाय। अत 'त्रिधातूनि' यहाँ पर केवल मात्रा का (शाब्दिक रूप मे तिगुना) द्योतक है। अथवा 'तीन प्रकारो' का द्योतक है, जैसा कि ऋ० ६.४६ ९ मे (इन्द्र त्रिधातु शरण) 'त्रिधातु' की व्याख्या सा० ने 'त्रिप्रकारं (शरणम्), व्याख्या की है। अन्यत्र भी (ऋ० ७.१०१ २) 'त्रिधातु शरणं शर्म यसत्' आया है। वहाँ पर भी यही भाव है। ऋ० ८ ४७.१० मे भी 'त्रिधातु' 'शरण' और 'शर्म' का विशेषण है जहाँ सायण ने 'त्रिगुण' व्याख्या की है। ऋ० मे 'त्रिधातु' शब्द एक सामान्य उक्ति के रूप मे अनेक स्थलो पर व्यवहृत है जिससे विभिन्न सन्दर्भो मे विभिन्न अर्थ किये जा सकते है।

यच्छत—सा० ने इसे अड्रहित लड् का रूप 'बहुल छन्दस्यमाड्योगेऽपि' (पा० ६ ४ ७५) के आधार पर माना है, किन्तु यह अनावश्यक प्रतीत होता है, क्योकि स्पष्टरूप से यह 'यम्' का लोट्, म० पु० ब० व० का रूप है।

यन्त—'यम्' का लोट्, म० पु० ब० व० का रूप है। 'बहुलं छन्दसि' से शप् का लोप और 'तप्तनप्त०' से उसका 'तबादेश' और फिर पित्त्व होने से ङित्त्वाभाव के कारण 'अनुदात्तोपदेश० (पा० ६ ४.३७)' से अनुनासिक लोप न होकर रूप बना है।

वृषण—'वा षपूर्वस्य निगमे' (पा० ६ ४.९) के कारण 'वृषाण' न होकर 'वृषण' रूप उपधा के दीर्घाभाव से बना है, अन्यथा 'वृषन्' शब्द का प्रथमा या सबो० के ब० व० मे 'वृषाण.' रूप होना चाहिये था, जैसा कि 'वृषाणम्' (ऋ० ९ ३४.३) से स्पष्ट है। सम्बो० होने से सर्वानुदात्त है ('आमन्त्रितस्य च'—पा० ८ १.१९)।

सुवीरम्—'वीरवीर्यौ च' (पा० ६ २ १२०) सूत्र से यहाँ 'सु' के पश्चात् उत्तर पद मे 'वीर' शब्द आद्युदात्त है। यह बहुव्री० समास में ही होता है।

ॐ

विष्णु

१.१५४ ऋषि—दीर्घतमस्; छन्द—त्रिष्टुभ् विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्र वोचं यः पार्थिवानि विममे रजांसि। यो अस्कभायदुत्तरं सधस्थं विचक्रमाणस्त्रेधोरुगायः॥ १॥

पदपाठ

विष्णोः। नु। कम्। वीर्याणि। प्र। वोचम्। यः। पार्थिवानि। विऽममे। रजांसि। यः। अस्कभायत्। उत्ऽतरम्। सधऽस्थम्। विऽचक्रमाणः। त्रेधा। उरुऽगायः॥ १॥

सायण—हे नरा· विष्णो व्यापनशीलस्य देवस्य वीर्याणि वीरकर्माणि नु कम् अतिशीघ्रम् प्र वोचम् प्रब्रवीमि। अत्र यद्यपि नु कम् इति पदद्वय तथापि यास्केन 'नवोत्तराणि पदानि' (नि० ३.१३) इत्युक्तत्वात् शाखान्तर एकत्वेन पाठाच्च नु इत्येतस्मिन्नेवार्थे नु कम् इति पदद्वयम्। कानि तानीति तत्राह—य विष्णु पार्थिवानि पृथिवीसम्बन्धीनि रजासि रञ्जनात्मकानि क्षित्यादिलोकत्रयाभिमानीनि अग्निवाय्वादित्यरूपाणि रजांसि विममे विशेषेण निर्ममे। अत्र त्रयो लोका अपि पृथिवीशब्दवाच्या.। तथा च मन्त्रान्तरं—'यदिन्द्राग्नी अवमस्यां पृथिव्यां मध्यमस्यां परमस्यामुत स्थ.' (ऋ० १.१०८.९) इति। तैत्तिरीयेऽपि 'योऽस्यां पृथिव्यामस्यायुषा इत्युपक्रम्य 'यो द्वितीयस्यां तृतीयस्यां पृथिव्याम्' (तै० स० १.२.१२.१) इति। तस्मात् लोकत्रयस्य पृथिवीशब्दवाच्यत्वम्। किं च य च विष्णु उत्तरम् उद्गततरम् अति विस्तीर्णं सधस्थं सहस्थानं लोकत्रयाश्रयभूतमन्तरिक्षम् अस्कभायत् तेषामाधारत्वेन स्तम्भितवान् निर्मितवानित्यर्थ। अनेन अन्तरिक्षाश्रित लोकत्रयमपि सृष्टवानित्युक्तं भवति। यद्वा यो विष्णु पार्थिवानि पृथिवीसम्बन्धीनि रजांसि पृथिव्या अधस्तनसप्तलोकान् विममे विविध निर्मितवान्। रज·शब्दो लोकवाची, 'लोका रजांस्युच्यन्ते' इति यास्केनोक्तत्वात्। किञ्च यश्चोत्तरम् उद्गततरम् उत्तरभाविनं सधस्थं सहस्थान पुण्यकृतां सहनिवासयोग्यं भूरादिलोकसप्तकम् अस्कभायत् स्कम्भितवान् सृष्टवानित्यर्थः। अथवा पार्थिवानि पृथिवीनिमित्तकानि रजांसि लोकान् विममे। भूरादिलोकत्रयमित्यर्थ.। भूम्याम् उपार्जितकर्मभोगार्थत्वात् इतरलोकानां तत्कारणत्वम्। किञ्च यश्चोत्तरम् उत्कृष्टतरं सर्वेषां लोकानामुपरिभूतम्। अपुनरावृत्ते तस्योत्कृष्टत्वम्। सधस्थमुपासकानां सहस्थानं सत्यलोकमस्कभायत्। स्कम्भितवान् ध्रुवं स्थापितवानित्यर्थ.। किं कुर्वन्। त्रेधा विचक्रमाण त्रिप्रकारं स्वसृष्टान् लोकान्विविधं क्रममाणः। विष्णोस्त्रेधा क्रमणम् 'इदं विष्णुर्विचक्रमे' (ऋ० १.२२.१७)। इत्यादि श्रुतिषु प्रसिद्धम्। अतएव उरुगायः उरुभि महद्भि. गीयमानः अति प्रभूतं गीयमानो वा। य एवं कृतवान् तादृशस्य विष्णोर्वीर्याणि प्र वोचम्।

अनुवाद

अब मै उस विष्णु के वीरतापूर्ण कार्यो को कहूँगा, जिसने पृथिवी सम्बन्धी लोको को नापा है (या रचना की है) और जिस विस्तीर्ण पादप्रक्षेपो वाले ने तीन बार परिक्रमा करते हुए सर्वोच्च निवास स्थान को स्तम्भित या प्रस्थापित किया है।

टिप्पणी

कम्— ऋ० मे यह अव्यय पद जहाँ भी आया है सर्वत्र 'नु' के पश्चात् ही आया है। इसका अर्थ 'नु कम्' रूप मे 'नूनम्' के समान 'अब' या 'शीघ्र' किया जा सकता है।

वीर्या॑णि—इसका पाठ सर्वत्र छन्द और स्वर की दृष्टि से 'वीरिआणि' रूप मे किया जाता है। इसमे स्वतन्त्र स्वरित के कारण प्रथम अक्षर पर अनुदात्त का चिह्न उसी प्रकार है जैसे कि उदात्त के पूर्व होता है। 'वीर्य' का अर्थ यहाँ 'वीरता पूर्वक कार्य' है। सभी व्याख्याकारो ने इसी के समान अर्थ माना है। 'तित्स्वरितम्' से स्वरित स्वर है।

प्र वोचम्—यह 'वच्' धा० (बोलना, कहना) का लुङ् लकार का रूप है जिसमे 'अस्यतिवक्तिख्यातिभ्योऽङ्' से 'च्लेः' को अङादेश होगा, किन्तु 'बहुल छन्दस्यमाङ् योगेऽपि' से 'अट्' का अभाव है। मैक्डॉ० ने इसे विधि० अर्थ मे ग्रहण किया है (वेदि० री० पृ० ३३२)।

विममे—'मा' (मापना, निर्माण करना) धा० का 'वि' उपसर्ग पूर्वक लिट् लकार का रूप है। यहाँ सम्भवत. सूर्य के द्वारा तीनो लोकों में परिक्रमण का सकेत है, क्योकि ऋ० मे विष्णु का तादात्म्य सूर्य के साथ स्थापित किया जा सकता है। वरुण के सम्बन्ध में भी यही बात कही गई है—'मानेनेव त॑स्थिवाँ अन्तरिक्षे वि यो ममे पृथिवीम् सूर्येण' (ऋ० ५ ८५ ५) 'जिसने अन्तरिक्ष मे स्थित होकर किसी माप के समान सूर्य के द्वारा पृथिवी को मापा है।'

रजां॑सि—'लोका रजांसि उच्यन्ते' (नि० ४.१९) के आधार पर इसके 'लोक' अर्थ सम्भव है, किन्तु अन्यत्र ज्योति, उदक, रक्तशिराएँ आदि अर्थ भी इसी आधार पर सम्भव है। ऐ० ब्रा० (१ २५) के अनुसार भी इसका अर्थ 'लोक' है और इसकी निष्पत्ति 'रज्' (गत्यर्थक) धा० से है (रजो लोको भवति रजतेर्गत्यर्थात्)। ऐ० ब्रा० द्वारा की गई निष्पत्ति की समानता इण्डो०

यूरो॰ 'रेग' (reg) 'गति देना' तथा लेटिन 'रेगो' (rego—गति देता हूँ) धातुओ से स्थापित की जा सकती है । इस आधार पर 'रजस्' का अर्थ 'गतिशील' हो सकता है । ऋग्वेद में 'रजस्' शब्द का अर्थ ए॰ व॰ मे 'अन्तरिक्ष', द्वि॰ व॰ मे 'द्यावापृथिवी' और ब॰ व॰ मे 'तीनो लोक' करना सगत है ।

अस्कभायत्—सा॰ के अनुसार यह 'स्कम्भ' धा॰ का 'स्कम्भित या स्थापित करने' अर्थ मे लङ् का रूप है । ऋ॰ मे लङ् का यह रूप केवल यही पर आया है । 'स्कभायत्' रूप अन्यत्र (५ २९ ४; ६ ४४ २४) आता है जिसकी तुलना प्रस्तुत स्थल से कर सकते है ।

उत्तरं सधस्थम्—यहाँ पर 'उत्तर सधस्थम्' का तात्पर्य 'स्वर्गलोक' या 'द्युलोक' से है । समस्त लोको को केवल दो भागो मे विभक्त कर 'ऊपर' और 'नीचे' रूप मे व्यक्त किया गया है । 'अधर' के लिये ऋ॰ २.१२ ४ (यो दासं वर्णम् अधर गुहाक —'जिस इन्द्र ने दस्युओ को अधर लोक मे गुफाओ मे कर दिया) के सन्दर्भ को देखा जा सकता है ।

विचक्रमाण —'वि' उपसर्ग पूर्वक 'क्रम्' (क्रमण करना) धा॰ से 'शानच्' प्रत्यय करके यह रूप निर्मित होगा । यह रूप ऋ॰ मे केवल यही पर आता है ।

उरुगाय—ऋ॰ मे यह पद १९ बार विष्णु, अग्नि, इन्द्र और सोम के विशेषण रूप मे प्रयुक्त हुआ है । यास्क (नि॰ २.७) ने इसकी व्याख्या 'महागतिवाला' रूप मे प्रस्तुत की है जिसका अनुसरण सायणादि व्याख्याकारो ने भी कभी-कभी किया है । सा॰ ने इसके अर्थ 'बहुत देशो मे जाने वाला', 'बहुतो के द्वारा गीयमान', 'अतिप्रभूतगीयमान' आदि किये है । गेल्ड॰ ने इसका अनुवाद 'विस्तृत पादप्रक्षेपो वाला (Weitschreiter) किया है (Der Rv. I, 212) । इन व्याख्याओ के आधार पर इसकी निष्पत्ति उरु + गा धा॰ (गमन करना या गान करना) से कर सकते है, जिससे इसका अर्थ 'विस्तृत गमनकर्ता' या 'विस्तृत रूप से गीयमान' किया जा सकता है । किन्तु विचक्रमाण विष्णु के लिये 'विस्तृत गमन करने वाला' विशेषण ही इस सन्दर्भ मे अधिक उपयुक्त होगा ।

प्र तद्विष्णुः स्तवते वीर्येण मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः ।
यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधि क्षियन्ति भुवनानि विश्वा ॥ २ ॥

पदपाठ

प्र । तत् । विष्णुः । स्तवते । वीर्येण । मृगः । न । भीमः । कुचरः । गिरिऽस्थाः । यस्य । उरुषु । त्रिषु । विऽक्रमणेषु । अधिऽक्षियन्ति । भुवनानि । विश्वा ॥ २ ॥

सायण—यस्येति वक्ष्यमाणत्वात् स इति अवगम्यते। स महानुभावः वीर्येण स्वकीयेन वीरकर्मणा पूर्वोक्तरूपेण स्तवते स्तूयते सर्वैः ॥ कर्मणि व्यत्ययेन शप् ॥ वीर्येण स्तूयमानत्वे दृष्टान्त.। मृगो न सिंहादिरिव। यथा स्वविरोधिनो मृगयिता सिंह भीम. भीतिजनक कुचरः कुत्सितहिंसादिकर्ता दुर्गमप्रदेशगन्ता वा गिरिष्ठाः पर्वताद्युन्नतप्रदेशस्थायी सर्वैस्तूयते। अस्मिन्नर्थे निरुक्त—'मृगो न भीम कुचरो गिरिष्ठा। मृग इव भीम. कुचरो गिरिष्ठा मृग मार्ष्टेर्गतिकर्मणो भीमो बिभ्यत्यस्माद्भीमोऽप्येतस्मादेव। कुचर इति चरतिकर्म कुत्सितमथ चेद्देवताभिधानं क्वाय न चरतीति वा। गिरिष्ठा गिरिस्थायी गिरिः पर्वतः समुद्गीर्णो भवति पर्ववान् पर्वत पर्व पुन· पृणाते प्रीणातेर्वा (नि० १.२०), इति। तद्वदयमपि मृगोऽन्वेष्टा शत्रूणां भीमो भयानक· सर्वेषां भीत्यपादानभूत·। परमेश्वराद्भीति। 'भीषास्माद्वातः पवते' (तै० आ० ८ ८.१) इत्यादि श्रुतिषु प्रसिद्धा। किच कुचर· शत्रुवधादिकुत्सितकर्मकर्ता कुषु सर्वासु भूमिषु लोकत्रये संचारी वा तथा गिरिष्ठा गिरिवत् उच्छ्रितलोकस्थायी। यद्वा। गिरिमन्त्रादिरूपायां वाचि सर्वदा वर्तमानः ईदृशोऽय स्वमहिम्ना स्तूयते। किंच यस्य विष्णो· उरुषु विस्तीर्णेषु त्रिसंख्याकेषु विक्रमणेषु पादप्रक्षेपेषु विश्वा सर्वाणि भुवनानि भूतजातानि अधिक्षियन्ति आश्रित्य निवसन्ति स विष्णुस्तूयते।

अनुवाद

वह विष्णु, जो वनचर जीव (सिह) के समान भयंकर, दुर्गम प्रदेशों मे विचरण करने वाला, गिरिपर निवास करने वाला है, अपने वीरतापूर्ण कार्यो के द्वारा प्रकृष्ट रूप से स्तुति किया जाता है। जिसके तीन विस्तृत पादप्रक्षेपो मे समस्त प्राणि जाति (या समस्त लोक) निवास करते है।

टिप्पणी

मृगो न भीम —इस पाद की तुलना हम ऋ० १०.१८० २ अ से कर सकते है जहाँ इन्द्र के लिये भी यही कहा गया है। अथवा ऋ० ४ १६ १४ (मृगो न हस्ती तविषीमुषाण. सिंहो न भीम ······) या ऋ० ९.९७ २८ (सिंहो न भीम) के साथ कर सकते हैं, जिससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि 'मृग' का अर्थ यहाँ साधारण 'मृग' नही वरन् 'सिंह' ही है जो भयङ्कर है तथा हस्तियो के बल का दलनकर्ता भी।

जहाँ तक 'मृग' शब्द के मूल अर्थ का प्रश्न है इसे इसकी निष्पत्ति के आधार पर समझा जा सकता है। यास्क ने इसे 'मृज्' या 'मृग' धा० (गतिकर्मणा) से

निष्पन्न माना है (नि० १ २०)। इसकी समानता इण्डो० यूरो० 'मृगु' धा० (विचरण करना) से स्थापित कर सकते है। साथ ही जब सिंह को 'मृगराज' कहा जाता है तो उसमे भी 'मृग' का अर्थ 'विचरण करने वाले वन्य पशु' ही है। इस प्रकार इसका मूल अर्थ 'वन्य पशु' है और जब 'भीम' विशेषण लग जाता है तो भयंकर 'वन्य पशु' हो जाता है जिसमे 'सिंह' अर्थ प्रबल है। रॉथ ने इसे कुछ स्थलो पर पक्षी अर्थ मे भी ग्रहण किया है (सेंट पीट० को०)।

कुचरः—ऋ० में यह शब्द दो बार ही आया है (१ १५४ २,१० १८० २)। यास्क द्वारा किये गये विश्लेषण के आधार पर इसे कु—√चर् से निष्पन्न कर सकते है जिसका अर्थ 'कुत्सितगतिवाला' या 'कहाँ न जाने वाला' हो सकता है। तै० ब्रा० (३.८.२.३) मे यह याज्ञिक अश्व का विशेषण बनकर आया है जो प्रस्तुत अर्थ की सगति मे सहायक है।

त्रिषु विक्रमणेषु—यहाँ तीन पाद प्रक्षेपो का तात्पर्य विष्णु के उस देवशास्त्रीय सन्दर्भ से है जिनके द्वारा उन्होने समस्त लोको का मापन किया। कुछ व्याख्याकारो के अनुसार विष्णु के तीन पादप्रक्षेपो से प्रत्येक दिन के तीन भागो—प्रात , मध्याह्न और सायं—से है, तात्पर्य जिनमे सूर्य अपने तीन पाद प्रक्षेपो के द्वारा समस्त लोको का मापन करता है, साथ ही विष्णु सूर्य का ही अन्य रूप है। अथवा ये 'तीन विक्रमण' तीन लोक—पृथिवी, अन्तरिक्ष और स्वर्ग या द्युलोक—हो सकते है जिनकी प्राप्ति के लिये यज्ञ मे यजमान 'विष्णुक्रम' को पूर्ण करता है (सुवर्गाय हि लोकाय 'विष्णुक्रमा ' तै० सं० १ ७. ६ १)। अत इनका सम्बन्ध सूर्य से है (विशेष द्रष्टव्य—R. N Dandekar : Visnu in the Veda, Prof P.V. Kane Felicitatian Vol. PP. 95–111)। किन्तु यह विचारधारा ओल्डेनवर्ग (Ral. des Veda) और बेरगेन्य (Religion de Vedique) के मत के विपरीत है, जिनका कथन है कि 'तीन पादप्रक्षेप केवल रहस्यात्मक अथवा देवशास्त्रीय सख्याओ के द्योतक हैं, उनसे कोई ठोस नैसर्गिक उपादान का सम्बन्ध नही स्थापित किया जा सकता।' गेल्ड० ने भी इन्ही का अनुसरण किया। किन्तु हिलेब्राड्ट (Vedische Mythologie) और हॉपकिन्स (J. A O. S XVI) ने विष्णु का तादात्म्य सूर्य के साथ स्थापित करने का प्रयत्न किया है जो संगत प्रतीत होता है। अतः 'तीन पादप्रक्षेपो' का मूलत सूर्य के तीन प्रहरो मे तीन लोको मे भ्रमण से ही तात्पर्य रहा होगा, किन्तु कालान्तर मे वह विष्णु के देवशास्त्रीय रूपो के विकास के साथ विकसित होकर बलि के साथ वामन अवतार की कथा तक बढता गया।

प्र विष्णवे शूषमेतु मन्म गिरिक्षित उरुगायाय वृष्णे ।
य इदं दीर्घं प्रयतं सधस्थमेको विममे त्रिभिरित्पदेभिः ॥ ३ ॥

पदपाठ

प्र । विष्णवे । शूषम् । एतु । मन्म । गिरिऽक्षिते । उरुऽगायाय । वृष्णे । यः । इदम् । दीर्घम् । प्रऽयतम् । सधऽस्थम् । एकः । विऽममे । त्रिऽभिः । इत् । पदेभिः ॥

सायण—विष्णवे सर्वव्यापकाय शूषम् अस्मत्कृत्यादिजन्यं बलं महत्त्वं मन्म मननं स्तोत्रं मननीयं शूषम् बलं वा विष्णुम् एतु प्राप्नोतु ॥ कर्मण सम्प्रदानत्वात् चतुर्थी ॥ कीदृशाय । गिरिक्षिते वाचि गिरिवत् उन्नतप्रदेशे वा तिष्ठते उरुगायाय बहुभिर्गीयमानाय वृष्णे वर्षित्रे कामानाम् । एव महानुभावं शूषं प्राप्नोतु । कोऽस्य विशेष इति उच्यते । यः विष्णु इदं प्रसिद्धं दृश्यमानं दीर्घम् अतिविस्तृत प्रयत नियत सधस्थ सहस्थान लोकत्रयम् एक. इत् एकस्याद्वितीय सन् त्रिभि. पदेभि. पादै विममे विशेषेग निर्मितवान् ॥

अनुवाद

हमारा शक्तिशाली मन्त्र पर्वत पर निवास करने वाले, विस्तृत गमन करने वाले या महागति वाले, बलशाली विष्णु के समीप प्रकर्ष रूप से गमन करे अर्थात् उन्हे प्राप्त हो । जिस विष्णु ने अकेले ही तीन पादप्रक्षेपो के द्वारा इस दीर्घ और प्रकर्ष रूप से सम्बद्ध निवास स्थान को (तीनों लोको को) नापा है ।

टिप्पणी

शूषम्—निघण्टु मे इसे 'बल' का पर्याय माना गया है जिसके आधार पर सभी ने इसका अर्थ 'बल' स्वीकार किया है । इसकी निष्पत्ति 'शूष् (प्रसवे) धा० से की जा सकती है । स्वर की दृष्टि से इसमे प्रातिपादिक स्वर है ।

एक अन्य मन्त्र मे (ऋ० १,६२,१) यह 'आङ्गूषम्' (शूषमाङ्गूषम्) का विशेषण बनकर आया है जहाँ सायण ने इसकी व्याख्या 'सुखहेतुभूतम्' की है । 'आङ्गूष' का अर्थ 'स्तोम' या 'आघोष' है (द्र० निरु० ६,१४) जो यहाँ 'मन्म' के साथ तादात्म्य रखता है । अत' प्रस्तुत स्थल पर भी 'शूषम्' का अर्थ 'सुखहेतुभूत' हो सकता है । अथवा धात्वर्थ के आधार पर इसका अर्थ 'उत्पन्न किया गया या रचा गया' भी सभव है जो मन्त्र मे 'मन्म' शब्द के सन्दर्भ मे अधिक उपयुक्त होगा ।

मन्म—इस शब्द की निष्पत्ति 'मन ज्ञाने' अथवा 'मनु अवबोधने' धा० से 'मनिन्' प्रत्यय करके (अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते) होगी। इसके कारण इसका अर्थ 'मनन किया जाने वाला' या 'अवबोधक' अर्थात् मन्त्र या 'स्तोत्र' होगा। 'नित्त्व' होने से इसमे आदि उदात्तत्व है ('ञ्नित्यादिर्नित्यम्'—पा० अ० ६,१,१९७)।

वृष्णे—'वृषन्' शब्द का चतु० का रूप है। सा० ने इसकी व्याख्या सर्वत्र 'कामाना वर्षित्रे' (कामनाओ को प्रदान करने वाला) की है। किन्तु पाश्चात्त्य व्याख्याकारो ने इसका अर्थ 'शक्तिशाली' माना है। इसकी निष्पत्ति 'वृष्' धा० से की जा सकती है जिसके ये अर्थ निहित हैं—

(१) सेचन करना, बौछार करना या उडेलना,
(२) प्रजनन सामर्थ्य होना या उत्पन्न करना,
(३) देना या कामना अर्पित करना, और
(४) शक्ति सम्पन्न होना।

ये समस्त अर्थ ऋ० मे सन्दर्भानुसार सगत हो सकते है। 'वृष' और 'वृषभ' दोनो प्रजनन सामर्थ्य के द्योतक है अत. उन्हे 'वर्षक' अथवा 'शक्तिशाली' दोनो अर्थो मे ग्रहण किया जा सकता है। पाश्चात्त्य व्याख्याकारो ने इसके 'बैल' अर्थ को ही ध्यान मे रखा है और उसके आधार पर ही केवल 'शक्तिशाली' अर्थ माना है, किन्तु अन्य अर्थो पर विचार करना और उन्हे भी ग्रहण करना व्याख्या के क्षेत्र मे उपादेय होगा।

प्रयतम्—सायण ने इसकी व्याख्या 'नियत' की है जिससे स्पष्ट है कि इसे उन्होंने 'यम उपरमे' धातु से निष्पन्न माना है जिसे अन्यत्र स्पष्ट रूप से कहा भी है (द्र० ऋ० भा० ३,३५,१०) मैक्डॉनेल ने 'दूर तक विस्तृत' अर्थ किया है (वे० री० पृ० ३४)। गेल्ड० ने भी यही अर्थ (derdiese lang ausgedehnte) किया है। इसकी निष्पत्ति के आधार पर इसके अर्थ का निर्धारण किया जा सकता है। इसे 'यम्' धा० के 'उपरमे' अर्थ से निष्पन्न न कर यदि वैदिक अर्थ मे 'उठाना', 'गमन करना', 'फैलाना' आदि अर्थो को ग्रहण कर निष्पन्न करें तो अधिक संगत होगा। इस प्रकार 'प्रयतम्' का अर्थ 'प्रकर्ष रूप से उच्च' या 'प्रकर्ष रूप में विस्तृत' होगा जो 'सधस्थम्' के साथ अधिक उपयुक्त होगा। इसके पूर्व 'उत्तर सधस्थं (१,१५४,१) भी इसी अर्थ की सगति सिद्ध करता है।

यस्य त्री पूर्णा मधुना पदान्यक्षीयमाणा स्वधया मदन्ति ।
य उ त्रिधातु पृथिवीमुत द्यामेको दाधार भुवनानि विश्वा ॥४॥

पदपाठ

यस्य । त्री । पूर्णा । मधुना । पदानि । अक्षीयमाणा । स्वधया । मदन्ति । यः । ऊँ इति । त्रिऽधातु । पृथिवीम् । उत । द्याम् । एकः । दाधार । भुवनानि । विश्वा ।

सायण—यस्य विष्णो मधुना मधुरेण दिव्येनामृतेन पूर्णा पूर्णानि त्रीणि पदानि पादप्रक्षेपणानि अक्षीयमाणा अक्षीयमाणानि स्वधया अन्नेन मदन्ति मादयन्ति तदाश्रितजनान् । य उ य एव पृथिवी प्रख्यातां भूमिं द्याम् उत द्योतनात्मकमन्तरिक्षं च विश्वा भुवनानि सर्वाणि भूतजातानि चतुर्दश लोकांश्च । यद्वा पृथिवीशब्देन अधोवर्तीनि अतलवितलादिसप्तभुवनान्युपात्तानि । द्युशब्देन तदुपरितनानि भूरादिसप्तभुवनानि । एवं चतुर्दशलोकान् विश्वा भुवनानि सर्वाण्यपि तत्रत्यानि भूतजातानि । त्रिधातु । त्रयाणां धातूनां समाहारस्त्रिधातु । पृथिव्यप्तेजोरूपधातुत्रयविशिष्टं यथा भवति तथा दाधार धृतवान् ॥ तुजादित्वात् अभ्यासस्य दीर्घत्वम् ॥ उत्पादितवानित्यर्थः । छान्दोग्यारण्यके—'तत्तेजोऽसृजत तदन्नमसृजत ता आप ऐक्षन्त' इति भूतत्रयसृष्टिमुक्त्वा 'हन्ताहमिमास्तिस्रो देवतास्तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणि' (छा० उ० ६,२,२-३) इत्यादिना त्रिवृत्करणसृष्टिरुपपादिता । यद्वा । त्रिधातु कालत्रयं गुणत्रयं वा दाधारेत्यन्वयः ॥

अनुवाद

जिस विष्णु के अमृत से पूर्ण अक्षीयमाण कभी क्षय को न प्राप्त होने वाले तीन पाद प्रक्षेप अन्न के द्वारा हर्षित होतेहै (तथा) जो तीन रूपो मे समाहित पृथिवी, द्यौ और अन्तरिक्ष को एव समस्त सृष्टि को अकेले ही धारण करता है (धारण किया है) (उस विष्णु की हम स्तुति करते है)।

टिप्पणी

स्वधया—'स्वधा' शब्द का तृतीया का ए० व० का रूप । 'स्वधा' के अर्थ पर व्याख्याकारो मे विवाद है । निघ० (१,१२) मे इसे 'जल' का पर्याय माना गया है, किन्तु निरु० (६,२५) मे 'अन्न' अर्थ मे यास्क ने ग्रहण किया है । राथ ने इसका अर्थ—'स्थान', 'नियम', 'विधि', रीति' आदि माना है (सेंट पी० को०)। मैक्सम्यूलर के अनुसार प्रथमत इसका अर्थ 'स्वय का

स्थान' और बाद में 'स्वय का स्वभाव' है। किन्तु इसे अवान्तरकालीन 'सुधा' के साथ समन्वित कर सकते हैं। ऋ० मे इसका अर्थ 'हवि' के रूप मे ग्रहण किया जा सकता है जो 'अन्न' का द्योतक है।

मदन्ति—'मदी हर्षे' धा० का वर्त० का परस्मै० प्रथम पुरु० ए० व० का रूप है जिसे सायण ने आत्म० अर्थ मे भी ग्रहण किया है। 'यस्य' के योग मे 'यदवृत्तान्नित्यम्' (पा० अ० ८,१,६६) सूत्र से क्रियापद उदात्त स्वर वाला है।

त्रिधातु—यहाँ 'त्रिधातु' से तात्पर्य तीनो लोकों—पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक से हैं। यद्यपि 'विश्वा भुवनानि' कहने मात्र से समस्त लोक आ जाते हैं, किन्तु यहाँ पर 'त्रिधातु' कहने से समस्त सृष्टि या लोको को 'तीन रूपो मे विभक्त' कर दिया गया है। साथ 'त्रिधा' या 'त्रिधातु' शब्द ऋग्वैदिक कवियो की शैली का एक विशेष गुण है, जैसे कि 'सप्त', 'नव', या 'शत' का प्रयोग बहुलता से किया गया है।

दाधार—'धा' धा० का लिट् का प्र० पु० ए० व० का रूप है। पा० ८, १,६६ के आधार पर प्रक्रिया पद उदात्त स्वर वाला है।

तदस्य प्रियमभि पाथो अश्यां नरो यत्र देवयवो मदन्ति।
उरुक्रमस्य स हि बन्धुरित्था विष्णोः पदे परमे मध्व उत्सः ॥५॥

पदपाठ

तत्। अस्य। प्रियम्। अभि। पाथः। अश्याम्। नरः। यत्र। देवऽयवः। मदन्ति। उरुऽक्रमस्य। सः। हि। बन्धुः। इत्था। विष्णोः। पदे। परमे। मध्वः। उत्सः॥

सायण—अस्य महतो विष्णो. प्रियं प्रियभूतं तत् सर्वैं सेव्यत्वेन प्रसिद्धं पाथ.। अन्तरिक्षनामैतत्, 'पाथोऽन्तरिक्षं यथा व्याख्यातम्' (नि० ६,७) इति यास्केनोक्तत्वात्। अविनश्वर ब्रह्मलोकमित्यर्थ। अश्याम् व्याप्नुयाम्। तदेव विशेष्यते। यत्र स्थाने देवयव देव द्योतनस्वभावं विष्णुमात्मन इच्छन्तो यज्ञदानादिभि प्राप्तुमिच्छन्त. नरः मदन्ति तृप्तिमनुभवन्ति। तदश्यामित्यन्वय.। पुनरपि तदेव विशेष्यते। उरुक्रमस्य अत्यधिक सर्वं जगदाक्रममाणस्य तत्तदात्मना अत एव विष्णोः व्यापकस्य परमेश्वरस्य परमे उत्कृष्टे निरतिशये केवलसुखात्मके पदे स्थाने मध्वः मधुरस्य उत्सः निष्यन्दो वर्तते। तदश्याम्। यत्र क्षुत्तृष्णाजरामरणपुनरावृत्त्यादिभय नास्ति सङ्कल्पमात्रेण अमृतकुल्यादिभोगा·

प्राप्यन्ते तादृशमित्यर्थ । ततोऽधिकं नास्तीत्याह । इत्था इत्थमुक्तप्रकारेण स हि बन्धु स खलु सर्वेषां सुकृतिनां बन्धुभूतो हितकर. वा तस्य पद प्राप्तवतां न पुनरावृत्ते. । 'न च पुनरावर्तते' इति श्रुतेस्तस्य बन्धुत्वम् । हिशब्द. सर्वश्रुतिस्मृतिपुराणादिप्रसिद्धिद्योतनार्थ. ॥

अनुवाद

मै इसके उस प्रिय मार्ग (स्थान) को प्राप्त करूँ जहाँ पर देवताओ की कामनावाले लोग हर्षित होते है । वही स्थान विस्तृत पादप्रक्षेपो वाले (विष्णु) का बन्धुभूत अथवा प्रिय है । विष्णु के सर्वोच्च स्थान मे (या सर्वोच्च पादक्रम मे) अमृत का उत्स है ।

टिप्पणी

(अभि) अश्याम्—'अभि' उपसर्ग पूर्वक 'अंश प्रापणे' अथवा 'अशू व्याप्तौ' धातु का यह उ० पु० ए० व० का विधिलिङ् (opt. root. aor) का रूप है । 'अनुदात्त सर्वमपादादौ' (पा० ८,१,१८) से सर्वानुदात्त स्वर है ।

पाथ —सा० ने यास्क के आधार पर इसका अर्थ 'अन्तरिक्ष' किया है, किन्तु यह अर्थ संगत नही प्रतीत होता । यहाँ 'पाथ' का प्रयोग सभवत प्रथम मन्त्र के 'उत्तर सधस्थ' अथवा इसी मन्त्र के 'परमे पदे' की ओर इगित करता है । अत. इसका अर्थ 'उस मार्ग से है जो विष्णु के परमपद की ओर ले जाता है ।'

देवयव —सा० के अनुसार इसका अर्थ 'यज्ञदानादिकर्मो के द्वारा द्योतन स्वभाव वाले विष्णु का अपने साथ तादात्म्य स्थापित करने वाले' लोग है, किन्तु इसका सीधा अर्थ 'देवकामा ' (देवो की कामना वाले) है जैसा कि वे० मा० ने अपनी ऋगर्थदीपिका मे दिया है । यह पद 'देवयु', शब्द का ब० व० का रूप है 'देवयु' की निष्पत्ति 'देव' शब्द मे 'क्यच्' प्रत्यय ('सुप आत्मन क्यच्'—पा० ३,१,८) करके और उसके पश्चात् 'असुन्' प्रत्यय के साथ होगी, जिससे इसका अर्थ 'देवताओ की कामना करने वाला' होगा ।

ता वां वास्तून्युश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः ।
अत्राह तदुरुगायस्य वृष्णः परमं पदमव भाति भूरि ॥ ६ ॥

पदपाठ

ता । वाम् । वास्तूनि । उश्मसि । गमध्यै । यत्र । गावः । भूरिऽशृङ्गाः । अयासः । अत्र । अह । तत् । उरुऽगायस्य । वृष्णः । परमम् । पदम् । अव । भाति । भूरि ॥ ६ ॥

सायण—हे पत्नीयजमानौ वां युष्मदर्थं ता तानि गन्तव्यत्वेन प्रसिद्धानि वास्तूनि सुखनिवासयोग्यानि स्थानानि गमध्यै युवयो गमनाय उश्मसि कामयामहे। तदर्थं विष्णुं प्रार्थयाम इत्यर्थ.। तानीत्युक्तं कानीत्याह। यत्र येषु वास्तुषु गावः रश्मय. भूरिशृङ्गा. अत्यन्तोन्नत्युपेता. बहुभिराश्रयणीया वा अयास. अयना गन्तारो अतिविस्तृता. यद्वा। यासो गन्तार। अनादृशा.। अत्यन्तप्रकाशयुक्ता इत्यर्थ। अत्राह अत्र खलु वास्त्वाधारभूते द्युलोके उरुगायस्य बहुभिर्महात्मभिर्गातव्यस्य स्तुत्यस्य वृष्ण' कामानां वर्षितुर्विष्णोस्तत्तादृशं सर्वत्र पुराणादिषु गन्तव्यत्वेन प्रसिद्ध परमं निरतिशयं पदं स्थान भूरि अतिप्रभूतम् अव भाति स्वमहिम्ना स्फुरति।

अनुवाद

हम तुम्हारे दोनों के उस स्थान तक जाने की कामना करते है जहाँ पर अनेक शृङ्गो वाली तीव्रगामी गाये (किरणे) है। यहाँ वस्तुत: उस शक्तिशाली, विस्तृत पादप्रक्षेपो वाले (विष्णु) का परम स्थान अत्यन्त प्रकाशित होता है (या शोभित होता है)।

टिप्पणी

वाम्—सा० ने 'वाम्' का अर्थ 'पत्नी-यजमानौ' किया है जो सगत नही प्रतीत होता, क्योकि इस सन्दर्भ मे इनका कही पर कोई कथन नही है। विष्णु के साथ इन्द्र की अधिक सगति होने के कारण हम यहाँ 'वाम्' का तात्पर्य 'विष्णु' और 'इन्द्र' से ही ग्रहण करना उचित समझेंगे।

उश्मसि—'वश कान्तौ' (कामना करना, प्रकाशित होना) धा० का उ० पु० ब० व० का लट् का रूप है। 'अनुदात्त…… ' से सर्वानुदात्त स्वर है।

गमध्यै—यह 'गम्' धा० के वैदिक तुमुनन्त रूप (Vedic Infinitive) 'ध्यै' प्रत्यय के साथ निष्पन्न किया गया है। इसी के समान 'तवे', 'असे' आदि प्रत्यय भी तुमुनर्थ मे प्रयुक्त हैं।

गाव —यहाँ इसका तात्पर्य गमन करने वाली सूर्यरश्मियो से है, जो अनेक रूपो मे अनेक शृगो वाली कही गयी है। सूर्यरश्मियाँ जब अनेक दिशाओ मे गमन करती है तो वे अनेक शृगो वाली गायो के समान प्रतीत होती है। यास्क ने भी इसका अर्थ 'रश्मियाँ' ही किया है। राथ ने इसका अर्थ 'नक्षत्रगण' किया है, किन्तु यह अर्थ सगत नही प्रतीत होता।

✓अयासः —इस शब्द की निष्पत्ति पर व्याख्याकारो मे मतभेद है। यास्क ने इसकी व्याख्या 'अयना' रूप मे की है, जिसका अनुसरण कर सा० ने 'गन्तार' अर्थ किया है जिससे स्पष्ट है कि उन्होने इसे 'अय गतौ' से निष्पन्न माना है। राथ ने इसकी निष्पत्ति अ + यस् धा० (परिश्रम करना) से की है जिसके आधार पर इसका अर्थ 'परिश्रम न करने वाली या न थकने वाली' होगा, अर्थात् वे रश्मियाँ जो बिना थके अर्थात् अपने आप जाती है। मैक्डॉनेल ने सभवत इसी आधार पर इसे 'अयस्' शब्द का रूप माना है। मैक्सम्यूलर ने भी इसका अर्थ 'अथक' किया है (SBE, Vol XXXII, P 107) इसके पूर्व कूह्न ने इसका अर्थ 'युद्ध मे विचरण करती हुई' (Zum Kampfe Wandelnd) किया था (द्र० Zeitschrift fur Vergleieende Sprachforschung, Vol iv, p. 19)। किन्तु यह अर्थ मरुतो के सन्दर्भ मे होने पर भी मान्य नही हो सकता।

इन्द्र २.१२ ऋषि—गृत्समद; छन्द—त्रिष्टुभ्

यो जात एव प्रथमो मनस्वान्देवो देवान्क्रतुना पर्यभूषत्।
यस्य शुष्माद्रोदसी अभ्यसेतां नृम्णस्य मह्ना स जनास इन्द्रः॥

पदपाठ

यः। जातः। एव। प्रथमः। मनस्वान्। देवः। देवान्। क्रतुना। परिऽअभूषत्। यस्य। शुष्मात्। रोदसी इति। अभ्यसेताम्। नृम्णस्य। मह्ना। सः। जनासः। इन्द्रः।

सायण—गृत्समदो ब्रूते। जनासः जना हे असुराः यो जात एव जायमान एव सन् प्रथमः देवानां प्रधानभूतः मनस्वान् मनस्विनामग्रगण्यः देवः द्योतमानः सन् क्रतुना वृत्रवधादिलक्षणेन स्वकीयेन कर्मणा देवान् सर्वान् यागदेवान् पर्यभूषत् रक्षकत्वेन पर्यग्रहीत्। यस्य इन्द्रस्य शुष्मात् शरीरात् बलात् रोदसी द्यावापृथिव्यौ अभ्यसेताम् अबिभीताम्। नृम्णस्य सेनालक्षणस्य बलस्य मह्ना महत्त्वेन युक्तः सः इन्द्रः नाहमिति।

अनुवाद

जिस प्रथम और मनस्वी (इन्द्र) ने जन्म लेते ही शक्ति के द्वारा मनस्वी देवताओ का अतिक्रमण किया (और) जिसके बल से द्यौ और पृथिवी कम्पित होते है, हे लोगो! बल की महानता से युक्त वही इन्द्र है।

टिप्पणी

प्रथमः—इसका अर्थ यहाँ 'प्रधान' या 'अग्रणी' है।

मनस्वान्—इसका अर्थ सभी व्याख्याकारो ने 'मनस्वी', 'बुद्धिमान्' या प्रतिभाशाली किया है।

क्रतुना—'क्रतु' शब्द का तृ० ए० व० का रूप। 'क्रतु' का अर्थ निघण्टु (२, १, ११) के अनुसार 'प्रज्ञा' या 'कर्म' है। किन्तु आधुनिक व्याख्याकारो ने इसका अर्थ 'शक्ति' माना है। इसका साम्य अवेस्ता के 'ख्रतुश्' (शक्ति) शब्द के साथ मान सकते है। प्रत्यय स्वर होने से आद्युदात्त है।

पर्यभूषत्—सायण की व्याख्या 'रक्षकत्वेन पर्यग्रहीत' मान्य नही हो सकती। क्योकि जहाँ 'भूप्' (अलकार) धा० का अर्थ 'अलकृत करना' है वही अन्य अर्थ भी सभव है। यास्क ने (निरु १०, १०) इसके चार अर्थ—(१) 'पराभूत किया, (२) चारो ओर से ग्रहण किया, (३) चारो ओर से रक्षा की और (४) अतिक्रमण किया—' दिये है जिनमे से सायण ने 'अतिक्रमण' अर्थ को विकल्प रूप से ग्रहण किया है, किन्तु यह वैकल्पिक अर्थ ही अधिक सगत है। क्योकि 'भूष्' धा० का 'अलंकृत करना' अर्थ केवल वैदिककाल के पश्चात् ही साहित्य मे आया। वैदिक साहित्य मे इसका अर्थ 'अभिचार शक्ति से परिवेष्टित करना' (to invest with magic power), 'शक्तिशाली बनाना', 'वर्धित करना' आदि है जैसा कि यॉन् खोदा ने इस पर विस्तृत विचार कर प्रदर्शित किया है (द्र० Four Studies in the Language of the Veda, The Hauge, 1959, 194)

अभ्यसेताम्—'भ्यस भयवेपनयो' धा० का लङ्, प्र० पु० द्वि व० का रूप है। लुङ्लङ् .. अट् उदात्त.' से 'अ' पर उदात्त स्वर है।

यः पृथिवीं व्यथमानामदृंहद्यः पर्वतान्प्रकुपिताँ अरम्णात्।
यो अन्तरिक्षं विममे वरीयो यो द्यामस्तभ्नात्स जनास इन्द्रः ॥ २ ॥

पदपाठ

यः। पृथिवीम्। व्यथमानाम्। अदृंहत्। यः। पर्वतान्। प्रऽकुपितान्। अरम्णात्। यः। अन्तरिक्षम्। विऽममे। वरीयः। यः। द्याम्। अस्तभ्नात्। सः। जनासः। इन्द्रः ॥ २ ॥

सायण—हे जनाः यः इन्द्र व्यथमानां चलन्तीं पृथिवीम् अदृंहत् शर्करादिभिर्दृढामकरोत् 'दृह दृहि वृद्धौ' ॥ यः च प्रकुपितान् इतस्ततश्चलितान्

पक्षयुक्तान् पर्वतान् अरम्णात् नियमितवान् स्वे स्वे स्थाने स्थापितवान् ॥ अरम्णात् । 'रमु क्रीडायाम्' । अन्तर्भावितण्यर्थस्य व्यत्ययेन श्नाप्रत्यय. ।। यः च वरीयः उरुतमम् अन्तरिक्षं विममे निर्ममे विस्तीर्णं चकारेत्यर्थ. । यः च द्या दिवम् अस्तभ्नात् तस्तम्भ निरुद्धामकरोत् ।। 'स्तम्भु रोधने' इति सौत्रो धातुः ॥ सः एव इन्द्र· नाहमिति ।

अनुवाद

जिसने व्यथित होती हुई पृथिवी को दृढ किया और जिसने प्रकुपित होते हुए पर्वतो को स्थिर किया तथा जिसने विस्तृत अन्तरिक्ष को नापा और द्यौ को जिसने स्तम्भित किया, हे लोगो, वही इन्द्र है ।

टिप्पणी

व्यथमानाम्—सा० और वें० मा० ने इसका अर्थ 'चलती हुई' किया है जो सगत नही है । इसका अर्थ 'व्यथित या कम्पित होती हुई' करना उचित होगा । ऋ० मे 'व्यथ्' 'प्रकुप्' और 'रम्' धा० का अर्थ उनके भौतिक पहलू के आधार पर ग्रहण करना चाहिये, मानसिक पहलू मे नही ।

इसी प्रकार 'प्रकुपितान्' का अर्थ भी 'इधर-उधर चलते हुए' न होकर 'उद्वेलित हुए' करना सगत होगा । गेल्डनर द्वारा किया गया अर्थ—'क्षुब्ध पर्वतो को शान्त किया' (der dıe toloenden Berge zur Ruhe brachte) अधिक सगत प्रतीत होता है (Der RV I, 290) ।

अरम्णात्—'रमु क्रीडाया' धा० का लङ्, प्र० पु० ए० व० का रूप है ।

अस्तभ्नात्—'स्तम्भु रोधने' धा० का लङ्, प्र० पु० ए० व० का रूप है । इन दोनो क्रियापदो के 'अ' पर उदात्त है जो 'अट्' के कारण है (लुङ् लृङ्-उदात्तः)

यो हत्वाहिमरिणात्सप्त सिन्धून्यो गा उदाजदपधा वलस्य ।

यो अश्मनोरन्तरग्निं जजान संवृक्समत्सु स जनास इन्द्रः ॥ ३ ॥

पदपाठ

यः । हत्वा । अहिम् । अरिणात् । सप्त । सिन्धून् । यः । गाः । उत्ऽआजत् । अपऽधा । वलस्य । यः । अश्मनोः । अन्तः । अग्निम् । जजान । सम्ऽवृक् । समत्ऽसु । सः । जनासः । इन्द्रः ॥ ३ ॥

सायण—यः अहिं मेघं हत्वा मेघहननं कृत्वा सप्त सर्पणशीलाः सिन्धून् स्यन्दनशीला अपः अरिणात् प्रैरयत् । यद्वा सप्त गङ्गायमुनाद्या मुख्या नदीररिणात् ॥

'रीङ् स्रवणे ।' क्र्यादिः ।। य. च वलस्य वलनामकस्यासुरस्य अपधा तत्कर्तृका-न्निरोधान्निरुद्धा गा उदाजत् निरगमयत् ।। अपधा । अपपूर्वाद्दधाते. 'आतश्चोपसर्गे' (पा० सू० ३,३,१०६) इति भावे अङ्प्रत्ययः । 'सुपां सुलुक्०' इति पञ्चम्या आकार. । य. च अश्मनो. । अश्नुते व्याप्नोत्यन्तरिक्षमित्यश्मा मेघ' । अत्यन्त-मृदुरूपयोर्मेघयो अन्त: मध्ये वैद्युतम् अग्निं जजान उत्पादयामास । यश्च समत्सु । संभक्षयन्ति योद्धृणामायूषीति समद संग्रामा । तेषु सवृक् भवति । वृणक्तेर्हिंसार्थस्य क्विपि रूपम् ।। सः इन्द्र नाहमिति ।।

अनुवाद

जिसने अहि (वृत्र) को मार कर सात नदियो को प्रवाहित किया तथा जिसने वल के अपधान से गायो को निष्कासित किया और दो चट्टानो के मध्य अग्नि को उत्पन्न किया, युद्धो मे भयङ्कर वह, हे लोगो इन्द्र है ।

टिप्पणी

अहिम्—ऋ० मे अहि, दानु, शम्बर, वल, वृत्र आदि सभी 'मेघो' के पर्याय रूप मे है जो वैदिक ऋषियो की कल्पना के सहारे देवशास्त्रीय मानवीयकरण की प्रक्रिया मे ढलकर राक्षसो के नाम रूप मे परिवर्तित हो गये । अवेस्ता का 'वॅरॅथ्र' और 'अजि (दहाक्)' ऋ० के 'वृत्र' और 'अहि' है जो प्राचीनतम संस्कृतियो मे आर्यो के द्वेषी रूप मे प्रतिष्ठित हुए । किन्तु इनके पूर्व कोई नैसर्गिक सरचना या प्राकृतिक उपादान ही इस देवशास्त्रीय मानवीयकरण का आधार रहा होगा । यहाँ 'अहि' का हनन मेघो के हनन का द्योतक है जिसके कारण वर्षा होकर नदियाँ प्रवाहित होती है ।

अरिणात्—'रीङ् प्रस्रवणे' धा० का लङ्, प्र० पु०, ए० व० का रूप ।

सप्त सिन्धून्—यहाँ इसका अर्थ 'सात नदियो को' या 'सर्पणशीला नदियो को' किया जा सकता है। जैसा कि अनेक सन्दर्भों से स्पष्ट है 'सप्त' शब्द एक विशेष शैली का द्योतक है। अनेक सख्याओ मे 'सप्त' भी है जिससे बहुलता से प्रयोग किया गया है । अत इसका अर्थ मात्र सख्या का द्योतक हो, ऐसा नही। साथ ही सात नदियो का नाम ऋ० मे केवल एक बार (८,२४,२७) आया है अत यहाँ 'सप्त' का अर्थ 'सर्पणशील' करना ही सगत होगा । अवान्तरकाल मे इसी के साम्य पर अवेस्ता मे 'हप्त हिन्दु' भी बना होगा । वैदिक 'सप्त', अवेस्तन 'हप्त' और लेटिन 'सेप्तस्' समान है । विशेष विवरण के लिए द्रष्टव्य कीथ-मैक्डॉनेल—वे० इण्डेक्स, भा० २, पृ० ४२४) ।

गाः—इसके अर्थ ऋ० मे वाक्, नदी, गौ, किरणे, जल सभी संभव है। देवशास्त्रीय तत्त्वो पर केवल चुरायी गयी गौओ का द्योतक है किन्तु उसका मूल रूप हमे अन्धकार मे निहित उषाओ के साथ ही देखने को मिलेगा जो कल्पना के द्वारा आच्छादित होकर गाये बन गयी और अन्तत पणियो द्वारा आहरण की जाने लगी, जिन्हे इन्द्र अंगिरस् आदि की सहायता से छुडाने के लिये बार-बार जाने लगे। ऋ० मे अनेक स्थलो पर इस प्रकार के कथन प्राप्त होते है।

उदाजत्—'उत्' उपसर्ग पूर्वक 'अज गतिक्षेपणयो' धा० का लङ्, प्र० पु०, ए० व० का रूप है।

अपधा—ऋ० मे यह शब्द केवल यही पर आया है। स्कन्द और दुर्गाचार्य ने इसे 'अपधानेन बिलोद्घाटनेन' रूप मे प्रस्तुत किया है, जिससे स्पष्ट है कि उन्होने इमे तृतीया ए० व० का रूप माना, जो सभयत- 'प्रतिधा' (एक या प्रतिधा—ऋ० ८,७७,४) के आधार पर स्वीकार किया गया है। वे० मा० ने इसकी व्याख्या 'विलान्तरपिहिता' रूप मे की है, जिससे ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होने इसे सप्त० ए० व० का रूप माना, जो 'गुहा' के आधार पर (दास वर्णमधरं गुहाक—ऋ० २,१२,४) हो सकता है। सा० ने इसे पचमी ए० व० के रूप मे स्वीकार किया है।

आधुनिक व्याख्याकारो मे रोठ, ग्रासमान, लुडविग्, लैनमैन, मैक्डॉ० और वेलणकर ने स्कन्द के समान इसे तृ० ए० व० का रूप मानकर ही इसका अर्थ 'उद्घाटन द्वारा' किया है। विल्सन, गेल्ड० और ग्रिफिथ ने सा० का अनुसरण किया है।

इस प्रकार 'अपधा' को तृ० ए० व० या पञ्च० ए० व० या सप्त० ए० व० का रूप मान सकते है। किन्तु ऋ० के अनेक समान सन्दर्भो (जैसे—ऋ० १, ३२,११, ११,५, ५२,५, तै० स० २,१,५,१) के द्वारा 'अपधा' कोई क्रिया न होकर 'स्थान' का द्योतन करता है जहाँ से इन्द्र 'गायो' या 'नदियो की धाराओ' को मुक्त करते है। अत इसे पचमी ए० व० का रूप मानना ही सगत है।

येने॒मा विश्वा॒ च्यव॑ना कृ॒तानि॒ यो दासं॒ वर्ण॒मध॑रं॒ गुहाकः॑।
श्व॒घ्नीव॒ यो जि॑गी॒वाँ ल॒क्षमाद॑द॒र्यः पु॒ष्टानि॒ स ज॑नास॒ इन्द्रः॑ ॥ ४ ॥

पदपाठ

येन॑। इ॒मा। विश्वा॑। च्यव॑ना। कृ॒तानि॑। यः। दास॑म्। वर्ण॑म् अध॑रम्। गुहा॑। अक॒रित्यकः॑। श्व॒घ्नीऽइ॑व। यः। जि॒गी॒वान्। ल॒क्षम्। आद॑त्। अ॒र्यः। पु॒ष्टानि॑। सः। ज॒ना॒सः॒। इन्द्रः॑ ॥ ४ ॥

सायण—येन इन्द्रेण इमा इमानि विश्वा च्यवना नश्वराणि भुवनानि कृतानि स्थिरीकृतानि। य. च दास वर्ण शूद्रादिकम्। यद्वा दासमुपक्षपयितारम्। अधरं निकृष्टमसुर गुहा गुहायां गूढस्थाने नरके अक. अकार्षीत्। लक्ष लक्ष्य जिगीवान्। जितवान्। य अर्य. अरे शत्रोः सम्बन्धीनि पुष्टानि समृद्धानि आदत् आदत्ते। तत्र दृष्टान्तः। श्वघ्नीव। श्वभिर्मृगान् हन्तीति श्वघ्नो व्याध। यथा व्याधो जिघृक्षित मृग परिगृह्णाति तद्वत्।

अनुवाद

जिसके द्वारा यह समस्त सृष्टि कम्पित की गई है और जिसने नीच दास-वर्णो को गुहा (गुप्त स्थान) मे किया है (भगा दिया है) तथा जो विजयी जुआरी के लक्ष्य के समान शत्रु की सम्पत्ति का आहरण करता है, हे लोगो, वही इन्द्र है।

टिप्पणी

च्यवना कृतानि—अन्यत्र (२, १२, ९) भी इन्द्र को 'अच्युतच्युत्' कहा गया है, जिससे स्पष्ट होता है कि इन्द्र के भय से सभी लोग कम्पित होते है। ऋ० ४, ३०, २२ मे इन्द्र को—'यस्ता विश्वानि चिच्युषे' (जो उन समस्त को कम्पित करता है)—कहा गया है। अत सायण का अर्थ 'स्थिरीकृतानि' असगत प्रतीत होता है। साथ ही स्थिर करने के लिये इसके पूर्व (दूसरे मत्र मे) 'अदृहत्', 'अरम्णात्' और 'अस्तभ्नात्' आदि क्रियापदो का प्रयोग हो चुका है।

दासम् वर्णम्—आर्यों के जो शत्रु थे उन्हे 'दास-वर्ण' (दासो के रगवाला या जातिवाला) कहा गया है। इसके विपरीत 'आर्यम् वर्णम्' (ऋ० ३, ३४, ९) का प्रयोग आर्यों के लिये हुआ है। अन्त्योदात्त 'दास' का अर्थ इस अर्थ से भिन्न हो कर 'सेवक' अर्थ मे ऋ० मे प्रयुक्त है।

गुहा—यह 'गुहा' शब्द का वैदिक सप्त० ए० व० का रूप है। इससे गुफाओ या जगलो आदि का बोध होता है।

अकः—'कृ' धा० का लुङ्, प्र० पु० ए० व० का रूप है। अन्त्य विसर्ग को, जो मूल रूप में 'र्' है, पदपाठ मे 'इति' द्वारा प्रदर्शित किया गया है।

श्वघ्नीव—सा० ने 'श्वघ्नी' का अर्थ 'व्याध' माना है। किन्तु अन्य व्याख्याकारो, जैसे—गेल्ड० Glucksspieler—'जुआ खेलने वाला'—(Der Rv I, 290), मैक्डॉ० ('gambler' Ved Reader, P 48) और वेलण्कर (RV. M. II, P. 34)—ने इसके 'जुआरी' अर्थ को ग्रहण किया

है। यही अर्थ उपयुक्त प्रतीत होता है (विशेष द्रष्टव्य—ABORI, Vol. 31, PP 165-68' मे वा० म० आप्टे का 'श्वघ्निन्' पर लेख)। सायण ने भी अन्यत्र 'कितव' अर्थ ग्रहण किया है (द्र० ऋ० भा० ८, ४५, ३८; १०, ४२, ९, ४३, ५।

जिगीवान्—यह 'श्वघ्नी' का विशेषण है। इसे 'जि जये' धा० से 'क्वसु' प्रत्यय करके निष्पन्न करेंगे। 'कित्' होने से अन्तोदात्त स्वर है ('कित.—पा० ६, १, १६५)।

आदत्—'आङ्' पूर्वक 'दा' धा० का लङ्, प्र० पु० ए० व० का रूप है।

अर्य—'अरि' शब्द का ष० ए० व० का रूप है। 'अर्य. पुष्टानि' की तुलना ऋ० १०, ८६, १ (अर्य पुष्टेषु मत्सरवा) से कर सकते है। उपमा (श्वघ्नीव) की तुलना ऋ० १, ९२, १० और १०, ४३, ५ से कर सकते है।

लक्षम्—इसे 'लग्' (दाँव लगाना) से निष्पन्न कर सकते है।

यं स्मा पृच्छन्ति कुह सेति घोरमुतेमाहुर्नैषो अस्तीत्येनम्।
सो अर्यः पुष्टीर्विज इवा मिनाति श्रदस्मै धत्त स जनास इन्द्रः॥ ५॥

पदपाठ

यम्। स्म। पृच्छन्ति। कुह। स.। इति। घोरम्। उत। ईम्। आहुः। न। एषः। अस्ति। इति। एनम्। सः। अर्यः। पुष्टीः। विजःऽइव। आ। मिनाति। श्रत्। अस्मै। धत्त। सः। जनासः। इन्द्रः॥ ५॥

सायण—अपश्यन्तो जना. घोर शत्रूणां घातक य पृच्छन्ति स्म कुह सेति। स इन्द्रः कुत्र वर्तते इति। न क्वचिदसौ तिष्ठतीति मन्यमाना जनाः एनम् इन्द्रम् आहु एष इन्द्र न अस्तीति। तथा च मन्त्र.—'नेन्द्रो अस्तीति नेम उ त्व आह' (ऋ० ८,१००,३) इति। ईम् इति पूरण। सः इन्द्रः विजइव। इवशब्द एवार्थे। उद्वेजक एव सन् अर्य. अरेः सम्बन्धीनि पुष्टी पोषकाणि गवाश्वादीनि धनानि आ मिनाति सर्वतो हिनस्ति। तस्मात् श्रदस्मै इन्द्राय धत्त। स इन्द्रोऽस्तीति विश्वासमत्र कुरुत। यद्यप्यसौ विशेषतोऽस्माभिर्न दृश्यते तथापि अस्तीति विश्वास कुरुत। एव निर्धारणीयमहिमोपेत. स इन्द्रः नाहमिति।

अनुवाद

जिसको लोग पूछते है, 'वह घोर (भयङ्कर) कहाँ है?' तथा जिसे कहते है कि 'यह नही है'; वही (इन्द्र) शत्रु की सम्पत्ति को जुआरी के समान नष्ट करता है (लूटता है), उसमे विश्वास करो, हे लोगो, वही इन्द्र है।

टिप्पणी

मन्त्र के प्रथम दो पादो मे ऐसे लोगो की ओर संकेत है, जो इन्द्र की सत्ता पर विश्वास नही करते है और विश्वास करने वालो के समक्ष उसकी सत्ता पर प्रश्न चिह्न लगाते है ।

विजं इव—'विज' की निष्पत्ति 'विज्' धा० (उद्वेजन करना; भयभीत होना) से कर सकते है, जिससे इसका अर्थ—'उद्वेजित या भयभीत करने वाला या होने वाला' अर्थात् जुआरी जो स्वयं उद्वेजित होता है और दूसरे को करता है'—होगा । इसकी तुलना ऋ० १,९२,१० से कर सकते है (श्वघ्नीवं कृत्नुर्विजं आमिनाना) ।

आमिनाति—'आ' उपसर्ग पूर्वक 'मीड्' (हिसा करना) धा० का लट्, प्र० पु० ए० व० का रूप जो यहाँ नष्ट करने या लूटने अर्थ मे है ।

यो रध्रस्य चोदिता यः कृशस्य यो ब्रह्मणो नाधमानस्य कीरेः ।
युक्तग्राव्णो योऽविता सुशिप्रः सुतसोमस्य स जनास इन्द्रः ॥ ६ ॥

पदपाठ

यः । रध्रस्य । चोदिता । यः । कृशस्य । यः । ब्रह्मणः । नाधमानस्य । कीरेः । युक्तऽग्राव्णः । यः । अविता । सुऽशिप्रः । सुतऽसोमस्य । सः । जनासः । इन्द्रः ॥ ६ ॥

सायण—यो रध्रस्य ॥ 'रध हिंसा संराद्धयोः' ॥ समृद्धस्य चोदिता धनानां प्रेरयिता भवति । यः च कृशस्य च दरिद्रस्य च य. च नाधमानस्य ॥ याचमानस्य कीरे. ॥ स्तोतुः ब्रह्मण ब्राह्मणस्य च धनाना प्रेरयिता । य. च सुशिप्र. शोभनहनु सुशीर्षको वा सन् युक्तग्राव्णः अभिषवार्थमुद्यतग्राव्ण· सुतसोमस्य अभिषुत-सोमस्य यजमानस्य अविता रक्षिता भवति सः एव इन्द्र नाहमिति । ब्रह्म-शब्दस्य त्वन्नपरत्वे ह्याद्युदात्तता स्यात् यथा 'ब्रह्म बन्वानो अजरं सुवीरम्' (ऋ० ३,८,२) इति । अयं त्वन्तोदात्त पठ्यत इति नान्नपरः ।

अनुवाद

जो दानशील का और गरीब का भी प्रेरक है तथा जो गायक और याचक ब्राह्मण का प्रेरक है, सोमाभिषव करने वाले दो पत्थरो से युक्त, सोमाभिषव करने वाले का जो सुन्दर केशो वाला (इन्द्र) रक्षक है, हे लोगो, वही इन्द्र है ।

टिप्पणी

प्रथम और द्वितीय पाद मे सभी षष्ठ्यन्त पदो की अन्विति 'ब्रह्मण ' पद के साथ है और इसके पश्चात् इसकी अन्विति 'चोदिता' पद के साथ होगी ।

रध्रस्य—'रध्र' शब्द की निष्पत्ति 'रध हिंसा सराद्धयो ' धा० से होगी और इसका अर्थ 'उदार, बलवान, सज्जन, समर्पित (भक्त)' आदि हो सकता है । गेल्डनर ने इसका अर्थ 'विनीत या सौम्य' (Schwachen) किया है । अत 'आराधक' अर्थ कर सकते है । 'रध्रस्य चोदिता' की तुलना 'रध्र चोदन ' (ऋ० ६,४४,१०,८,८०,३) से और 'चोदिता-कीरे.' की तुलना 'कीरि चोदनम्' (ऋ० ६,४५,१९) से कर सकते है ।

ब्रह्मणं —यहाँ यह पु० 'ब्रह्मन्' शब्द का षष्ठी ए० व० का रूप है जिससे इसका अर्थ 'ब्राह्मण या पुरोहित' है, अन्यथा नपुं० लिङ्ग मे सदैव यह 'मन्त्र' अर्थ का द्योतक है और आद्युदात्त होगा ।

नाधमानस्य—'नाधमान' शब्द की निष्पत्ति 'नाधृ याच्ञायाम्' धा० से होगी जिसके कारण इसका अर्थ 'याचना करने वाला' होगा ।

कीरे —'कीरिन्' शब्द का ष० ए० व० का रूप है । 'कीरिन्' को निष्पत्ति 'कॄत संशब्दने' धा० से 'ण्यन्त' करके (जिसमे 'अच इ' से 'इ' तथा 'णि' का लोप और छान्दस् दीर्घभाव होता है) होगा । प्रत्यय पर उदात्त स्वर है (प्रत्यय , आद्युदात्त) ।

सुऽशिप्रः—व्याख्याकारो ने इसका अर्थ 'सुहनु' या 'सुन्दर ओष्ठवाला' माना है । किन्तु अन्य सन्दर्भों के विवेचन पर यह सिद्ध होता है कि यह अर्थ संगत नही है । इस पर विस्तृत विवेचन के लिये द्रष्टव्य यालमान फ़िस्क का 'शिप्र' पर 'ल मॉंद ओरियन्ताल', ३०, पृ० ८०-८९ मे लेख जिसमे उन्होने 'सुशिप्र' का अर्थ 'सुन्दर मूछो वाला या दाढी वाला' माना है और 'शिप्र' का अर्थ 'मूँछ' (schnurrbart) किया है । किन्तु मेरी दृष्टि मे यह अर्थ भी संगत नही है; क्योकि 'शिप्राः शीर्षषु वितता हिरण्ययी ' जैसे अनेक सन्दर्भ इस अर्थ के बाधक है और 'शृङ्ग' अर्थ का सकेत देते है ।

यस्याश्वांसः प्रदिशि यस्य गावो यस्य ग्रामा यस्य विश्वे रथासः ।
यः सूर्यं य उषसं जजान यो अपां नेता स जनास इन्द्रः ॥ ७ ॥

पदपाठ

यस्य॑ । अश्वा॑सः । प्र॒ऽदिशि॑ । यस्य॑ । गाव॑ः । यस्य॑ । ग्रामा॑ः । यस्य॑ । विश्वे॑ । रथा॑सः । यः । सूर्य॑म् । यः । उ॒षस॑म् । ज॒जान॑ । यः । अ॒पाम् । ने॒ता । सः । ज॒ना॒स॒ः । इन्द्र॑ः ॥ ७ ॥

सायण—यस्य सर्वान्तर्यामितया वर्तमानस्य प्रदिशि प्रदेशनेऽनुशासने अश्वास अश्वा वर्तन्ते । यस्य अनुशासने गावः । यस्य अनुशासने ग्रामा· । ग्रसन्तेऽत्रेति ग्रामा जनपदा । यस्य आज्ञाया विश्वे सर्वे रथासः रथा वर्तन्ते । यः च वृत्रं हत्वा सूर्यं जजान जनयामास । यः च उषसम् । तथा मन्त्र —'जजान सूर्यमुषसं सुदंसा ' (ऋ० ३,३२,८) इति । य च मेघभेदनद्वारा अपां नेता प्रेरकः स· इन्द्र ।

अनुवाद

जिसके आदेश के अन्तर्गत अश्व और गाये है, सभी ग्राम और रथ है; और जिसने सूर्य और उषस् को उत्पन्न किया तथा जो जल का नेता है, हे लोगो वही इन्द्र है ।

टिप्पणी

ज॒जान॑—'जनी प्रादुर्भावे' धा० का लिट्, प्र० पु० ए० व० का रूप । इन्द्र के आदेश मे अश्व और गाये है, इसकी तुलना ऋ० ७,१८,१ से कर सकते है (त्वे गाव सुदुघास्त्वे ह्यश्वास्...) ।

तृतीय पाद का सम्बन्ध 'वल' की देवशास्त्रीय कथा से है, जिसने सूर्य और उषस् को रोका । चतुर्थ पाद वृत्र की कथा से सम्बन्धित है, जिसका हनन कर इन्द्र ने नदियो का नेतृत्व किया अर्थात् प्रवाहित किया ।

यं क्रन्द॑सी सं॒यती॒ वि॒ह्वये॑ते॒ परेऽव॑र उ॒भया॑ अ॒मित्रा॑ः ।
स॒मा॒नं चि॒द्रथ॑मातस्थि॒वांसा॒ नाना॑ हवेते स ज॑नास॒ इन्द्र॑ः ॥ ८ ॥

पदपाठ

यम् । क्रन्द॑सी॒ इति॑ । सं॒यती॒ इति॑ स॒म्ऽय॒ती । वि॒ह्वये॑ते॒ इति॑ वि॒ऽह्वये॑ते । परे॑ । अव॑रे । उ॒भया॑ः । अ॒मित्रा॑ः । स॒मा॒नम् । चि॒त् । रथ॑म् । आ॒त॒स्थि॒ऽवांसा॑ । नाना॑ । ह॒वे॒ते॒ इति॑ । सः । ज॒ना॒स॒ः । इन्द्र॑ः ।

सायण—यं क्रन्दसी रोदसी शब्दं कुर्वाणे मानुषी दैवी च द्वे सेने वा संयती परस्पर संगच्छन्त्यौ यमिन्द्रं विह्वयेते स्वरक्षार्थं विविधमाह्वयत: । परे उत्कृष्टा अवरे अधमाश्च उभया· उभयविधाः अमित्रा· शत्रव: यमाह्वयन्ति ।

समानम् इन्द्ररथसदृग रथम् आतस्थिवांसा आस्थितौ द्वौ रथिनौ तमेवेन्द्र नाना पृथक् पृथक् हवेते आह्वयेते । यद्वा समानमेकरथमारूढाविन्द्राग्नी हवेते यज्ञार्थं यजमानै पृथगाहूयेते तयोरन्यतर. स. इन्द्र नाहमिति ।

अनुवाद

जिसे युद्ध के लिये सगमन करती हुई क्रन्दन करती हुई दो सेनाएँ तथा समीप और दूर के दोनो शत्रुगण बुलाते हे, और समान (एक ही) रथ पर बैठे हुए दोनो जिसका अनेक प्रकार से आह्वान करते है, हे लोगो, वही इन्द्र है ।

टिप्पणी

क्रन्दसी—'क्रन्दस्' (नपुं०) का प्र० द्वि० व० का रूप है । दो सेनायें जो शोर मचाता हुई इन्द्र का आह्वान करतो है ।

संयती—'सम्' उपसर्ग पूर्वक 'इ' (जाना) धा० का वत' प्रत्ययान्त रूप 'संयत्' और उसका नपु०, प्र० द्वि० व० का रूप 'सयती' (साथ गमन करती हुई) होगा ।

यस्मान्न ऋते विजयन्ते जनासो यं युध्यमाना अवसे हवन्ते ।
यो विश्वस्य प्रतिमानं बभूव यो अच्युतच्युत्स जनास इन्द्रः ॥ ९ ॥

पदपाठ

यस्मात् । न । ऋते । विऽजयन्ते । जनासः । यम् । युध्यमानाः । अवसे । हवन्ते । यः । विश्वस्य । प्रतिऽमानम् । बभूव । यः । अच्युतऽच्युत् । सः । जनास. । इन्द्रः ॥ ९ ॥

सायण—यस्मात् ऋते जनासः जना: न विजयन्ते विजयं न प्राप्नुवन्ति । अत' युध्यमाना युद्ध कुर्वाणा जनाः अवसे स्वरक्षणाय यम् इन्द्र हवन्ते आह्वयन्ति । यः च विश्वस्य सर्वस्य जगत प्रतिमान प्रतिनिधि. बभूव । य. च अच्युतच्युत् अच्युतानां क्षयरहितानां पर्वतादीनां च्यावयिता स' इन्द्रः इत्यादि प्रासङ्गम् ॥

अनुवाद

जिसके बिना लोग विजय नही प्राप्त करते है और युद्ध करते हुए लोग सहायता के लिये जिसका आह्वान करते है तथा जो समस्त सृष्टि

का प्रतिमान है और अच्युत को भी च्युत करने वाला है, हे लोगो, वही इन्द्र है।

टिप्पणी

अवसे—यह 'अवस्' (रक्षा) शब्द का चतु० ए० व० का रूप हो सकता है अन्यथा वैदिक तुमुनर्थ 'असे' प्रत्यय के साथ 'अव रक्षणे' धा० का रूप हो सकता है।

अच्युतऽच्युत—ऋ० ३,३०,४ में इन्द्र को अच्युत को भी चलाते या गिराते हुए कहा गया है—त्व च्यावयन्नच्युतानि·· ···चरसि (तुम अचल को भी हिलाते हुए चलते हो)। प्रस्तुत सूक्त के चौथे मन्त्र मे भी इन्द्र को सभी को चलायमान करने वाला कहा गया है (येनेमा विश्वा च्यवना कृतानि)।

यः शश्वतो मह्येनो दधानानमन्यमानाञ्छर्वा जघान।
यः शर्धते नानुददाति शृध्यां यो दस्योर्हन्ता स जनास इन्द्रः ॥ १० ॥

पदपाठ

यः। शश्वतः। महि। एनः। दधानान्। अमन्यमानान्। शर्वा। जघान। यः। शर्धते। न।अनुऽददाति। शृध्याम्। यः। दस्योः। हन्ता। सः। जनासः। इन्द्रः ॥ १० ॥

सायण—य. महि महत् एन. पापं दधानान् शश्वत. बहून् अमन्यमानान् आत्मानमजानत इन्द्रमपूजयतो वा जनान् शर्वा। शृणाति शत्रूननेनेति शरुर्वज्रः। तेनायुधेन जघान। य च शर्धते उत्साहं कुर्वते अनात्मज्ञाय जनाय शृध्याम् उत्साहनीय कर्म नानुददाति न प्रयच्छति। य· च दस्यो. उपक्षपयितु शत्रो. हन्ता घातक सः इन्द्र. इत्यादि पूर्ववत्।

अनुवाद

जो महान् पाप को धारण करने वाले और उसको (इन्द्र) न मानने वाले अनेक लोगो को बाण से (या वज्र से) हनन करता है तथा जो बल दिखलाने वाले को क्षमा नही करता एव जो दस्यु का संहारक है, हे लोगो. वही इन्द्र है।

टिप्पणी

शश्वतः—'शश्वत्' (बहुत) शब्द का द्वितीया ब० व० का रूप।

एनः.—ऋ० २,२८,७ मे 'एन कृण्वन्तम्' आता है जिन्हे वरुण अपने आयुध से मारता है। 'एनस्' (नपु०) शब्द की निष्पत्ति 'इ' धा० मे उणादि प्रत्यय 'असुन्' और 'नुट्' (आगम करके) जोडकर होगी ('इण आगसि'—उ० सू० ४,१९७) जिसका अर्थ पाप होगा। नित्व ('न्' का लोप) होने के कारण यह सदैव आद्युदात्त होगा। इस प्रकार इण् + नुट् + असुन् = एनस्—'पाप' होगा। अवेस्ता मे इसी के समान 'अएनङ्ह्' (पाप) और ग्रीक मे 'अइनोस्' (अपराध) शब्द भी है। रोठ ने इसे 'इन्' धा० से निष्पन्न माना है।

दधानान्—'धा' धा० से 'शानच्' प्रत्यय के साथ निष्पन्न होगा। 'चित्' होने से अन्तोदात्त होना चाहिये किन्तु अभ्यास के कारण आद्युदात्त स्वर है (अभ्यस्तानामादि —पा० सू० ६,१,१८९)।

अमन्यमानान्—जो इन्द्र की पूजा नही करते अथवा जो यह नही समझते कि इन्द्र उन्हे मार डालेगा।

शर्वा— शॄ' (हिंसा करना) धा० से 'वनिप्' प्रत्यय (अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते) करके 'शर्व' शब्द और 'सुपा सुलुक्०' से तृतीया मे 'अ' का आदेश होकर 'शर्वा' रूप तृ० ए० व० मे बनेगा। ऋ० मे इस शब्द का केवल यही रूप पाँच बार आया है (ऋ० १,१००,१८, २,१२,१०, ४,२८,३, ७,८५,२, १०,८७,६)। शरेण हिंसकेन वज्रेण वज्रेण शर्वा

जघान—'हन्' (मारना) धा० का लिट्, प्र० पु० ए० व० का रूप। यहाँ वर्तमान काल के अर्थ मे ग्रहण करना चाहिये।

शर्धते—'शृध्' (उद्दण्ड होना) धा० से 'शर्ध' बल का पर्याय है, उसी से 'शर्धन्' शब्द का चतु० ए० व० का रूप 'शर्धते' होगा। जो बल दिखलाता या अभिमान करता है इन्द्र उसे क्षमा नही करता।

अनुऽददाति—अनु + दा (क्षमा करना) धा० का लट्, प्र० पु०, एक व० का रूप है।

शृध्याम—ऋ० मे यह शब्द केवल यही पर आया है। यह 'शृध्' धा० से निष्पन्न है 'शृध्या' (उद्दण्डता, अभिमान) का द्वितीया ए० व० का रूप है।

य. शम्बरं पर्वतेषु क्षियन्तं चत्वारिंश्यां शरद्यन्वविन्दत्।
ओजायमानं यो अहिं जघान दानुं शयानं स जनास इन्द्रः ॥ ११॥

पदपाठ

यः । शम्बरम् । पर्वतेषु । क्षियन्तम् । चत्वारिंश्याम् । शरदि । अनुऽअविन्दत् । ओजायमानम् । यः । अहिम् । जघान । दानुम् । शयानम् । सः । जनासः । इन्द्रः ॥ ११ ॥

सायण—यः पर्वतेषु क्षियन्तम् इन्द्रभिया बहून् संवत्सरान् प्रच्छन्नो भूत्वा पर्वतगुहासु निवसन्तं शम्बरम् एतन्नामकं मायाविनमसुरं चत्वारिंश्यां शरदि चत्वारिंशे संवत्सरे अन्वविन्दत् अन्विष्यालभत । लब्ध्वा च य ओजायमानम् ॥ बलमाचरन्तम् अहिम् आहन्तार दानु दानव शयानं शम्बरमसुर जघान हतवान् सः इन्द्र नाहमिति ॥

अनुवाद

जिसने पर्वत पर निवास करते हुए शम्बर को चालीसवे शरद (वर्ष) मे खोज निकाला, बल प्रदर्शित करते हुए 'अहि', दनु के शयन करते हुए पुत्र का जिसने सहार किया, हे लोगो, वही इन्द्र है।

टिप्पणी

शम्बरम्—वृत्र, वल, शुष्म आदि राक्षसो की श्रेणी मे आने वाले एक राक्षस का नाम है जिसे इन्द्र ने पर्वत पर से मार गिराया।

अहिम्—यह वृत्र, मेघ, जलधारा का पर्याय है। अपनी न चलने वाली स्थिति के कारण अथवा 'हनन' करने वाली प्रक्रिया के कारण 'अहि' कहा जाता है। ऋग्वेद के प्राचीन मन्त्रो में यह दनु का पुत्र, जलो मे उत्पन्न होने वाला और वृत्रादि का प्रतिनिधि रूप है। अवान्तर काल मे यह 'सर्प' अर्थ का द्योतक है, जैसे—'अहिर्न जूर्णामति सर्पति त्वचम्' (ऋ० ९,८६,४४)—वह, (साम सर्प के समान अपनी जीर्ण त्वचा को छोडता है)। इस शब्द पर विशेष विवेचन के लिये द्रष्टव्य—'ऋग्वैदिक अहि और अवेस्तन अज़ि'।

यः सप्तरश्मिर्वृषभस्तुविष्मानवासृजत्सर्तवे सप्त सिन्धून् ।
यो रौहिणमस्फुरद्वज्रबाहुर्द्यामारोहन्तं स जनास इन्द्रः ॥ १२ ॥

पदपाठ

यः । सप्तऽरश्मिः । वृषभः । तुविष्मान् । अवऽअसृजत् । सर्तवे । सप्त । सिन्धून् । यः । रौहिणम् । अस्फुरत् । वज्रऽबाहुः । द्याम् । आऽरोहन्तम् । सः । जनासः । इन्द्रः ॥ १२ ॥

सायण—यः सप्तरश्मिः सप्तसंख्याका पर्जन्या रश्मयो यस्य। ते च रश्मयः, वृषभः वर्षकः तुविष्मान् वृद्धिमान् बलवान् वा सप्त सर्पणस्वभावान् सिन्धून् अपः सर्तवे सरणाय अवासृजत् अवसृष्टवान्। यद्वा गङ्गाद्या सप्त मुख्या नदीरसृजत्। य च वज्रबाहुः सन् द्यां दिवम् आरोहन्तं रौहिणम् असुरम् अस्फुरत् जघान।

अनुवाद

सात रश्मियो (डोरियो) वाले जिस शक्तिशाली वृषभ ने सप्त-सिन्धुओ को प्रभावित होने के लिये विसर्जित किया, जिस वज्रबाहु ने द्युलोक मे आरोहण करते हुए रौहिण नामक असुर का हनन किया, हे लोगो, वही इन्द्र है।

टिप्पणी

सप्तऽरश्मि —यहाँ इसके ये अर्थ हो सकते हैं—(१) ऐसा वृषभ जिसे नियन्त्रित करने के लिये सात रश्मियो की आवश्यकता पडे, (२) सात रगो वाली रश्मियो से युक्त शक्तिशाली इन्द्र यहाँ सूर्य का प्रतिनिधित्व करते हुए, (३) सात या सर्पणशील मेघमालाओ या पर्जन्य से युक्त इन्द्र।

तुविंष्मान्—इसकी निष्पत्ति 'तु' (शक्तिशाली होना) धा० से होगी जिससे इसका अर्थ 'बलवान्, शक्तिशाली' होगा।

(अव)ऽअसृंजत्—'सृज' (विमोचन करना, छोड़ना) धा० का लङ् का रूप है। पाद के प्रारम्भ मे होने से उदात्त स्वर है।

सर्तवे—'सृ' धा० (प्रवाहित होना) का वैदिक तुमुनर्थ रूप है जिसे अग्रेजी मे Dative infinitive कहा जाता है।

अस्फुरत्—'स्फुर्' (सचिलित होना, मारना) धा० का लङ् का रूप है। 'अट' पर उदात्त स्वर है (लुङ् लङ्‌……क्ष्वडुदात्तः —पा० सू० ६,४,७१)।

द्यावा चिदस्मै पृथिवी नमेते शुष्माच्चिदस्य पर्वता भयन्ते।
यः सोमपा निचितो वज्रबाहुर्यो वज्रहस्तः स जनास इन्द्रः॥ १३॥

पदपाठ

द्यावा। चित्। अस्मै। पृथिवी इति। नमेते इति। शुष्मात्। चित्। अस्य। पर्वताः। भयन्ते। यः। सोमऽपाः। निऽचितः। वज्रऽबाहुः। यः। वज्रऽहस्तः। सः। जनासः। इन्द्रः॥ १३॥

सायण—अस्मै इन्द्राय द्यावा पृथिवी ॥ नमेते स्वयमेव प्रह्वीभवत. । चित् अपि च अस्य इन्द्रस्य शुष्मात् बलात् पर्वताः भयन्ते बिभ्यति । य. सोमपा सोमस्य पाता निचित. सर्वै. । यद्वा अन्येभ्योऽपि देवेभ्यो दृढाङ्गः । वज्रबाहु वज्रसदृशबाहुः । यः च वज्रहस्तः वज्रयुक्त स इन्द्र इत्यादि प्रसिद्धम् ॥

अनुवाद

द्युलोक और पृथिवी भी जिसके समक्ष नमित होते है और जिसके बल से पर्वत भी भयभीत होते है, जो वज्र के समान बाहुवाला सोमपायी के रूप मे विख्यात है, हे लोगो, हाथ मे वज्र धारण करने वाला वही इन्द्र है।

टिप्पणी

द्यावा पृथिवी—यहाँ ये दोनो शब्द देवता द्वन्द्व समास मे है जिन्हे अन्य शब्दो से अलग किया गया है।

निचित —ऋ० मे यह शब्द केवल यही पर आया है। इसे 'नि' उपसर्ग पूर्वक 'चित्' (प्रज्ञाने) धा० से निष्पन्न करेंगे।

यः सुन्वन्तमवति यः पचन्तं यः शंसन्तं यः शशमानमूती ।
यस्य ब्रह्म वर्धनं यस्य सोमो यस्येदं राधः स जनास इन्द्रः ॥ १४ ॥

पदपाठ

यः । सुन्वन्तम् । अवति । यः । पचन्तम् । यः । शंसन्तम् । यः । शशमानम् । ऊती । यस्य । ब्रह्म । वर्धनम् । यस्य । सोमः । यस्य । इदम् । राधः । सः । जनासः । इन्द्रः ॥ १४ ॥

सायण—यः सुन्वन्तं सोमाभिषवं कुर्वन्तं यजमानम् अवति रक्षति । यः च पुरोडाशादीनि हवींषि पचन्त य. च ऊती ऊतये । स्वरक्षायै शस्त्राणि शसन्त य. च शशमानम् अवति स्तोत्रम् कुर्वाणं रक्षति । ब्रह्म परिवृढं स्तोत्र यस्य वर्धनं वृद्धिकरं भवति । तथा यस्य सोम. वृद्धिहेतुर्भवति । यस्य च इदम् अस्मदीय राध. पुरोडाशादिलक्षणमन्नं वृद्धिकर भवति । स. इन्द्रः इत्यादि प्रसिद्धम् ॥

अनुवाद

जो सोमाभिषव करने वाले, जो पकाने वाले, जो स्तुति करने वाले और जो शसन (यज्ञ मे परिश्रम) करने वाले की रक्षा करता है, मन्त्र

जिसका वर्धक है, सोम जिसे प्रवृद्ध करता है और यह हवि जिसे (शक्ति देती है) हे लोगो, वही इन्द्र है।

टिप्पणी

सुन्वन्तम्, पचन्तम्—प्रथम और द्वितीय पाद मे आने वाले सभी कृदन्त रूप किसी न किसी यज्ञ-क्रिया का बोध कराते है।

शशमानम्—निघ० ३,१४ मे इसे 'गान' (अर्चन्तम्) अर्थ में और निरुक्त ६,८ मे 'स्तुति करने' अर्थ मे ग्रहण किया गया है जिसका अनुसरण सा० ने 'स्तुति कुर्वाणम्' रूप मे किया है। इसे 'शश्' (कर्म करना, परिश्रम करना) धा० से निष्पन्न करने पर इसका अर्थ (यज्ञ मे) 'परिश्रम करने वाले को' किया जा सकता है।

ऊती—यह 'ऊति' शब्द का तृतीया ए० व० का रूप है।

वर्धनम्—इसकी अन्विति ब्रह्म, सोम, राध के साथ विधेय रूप मे की जायगी। ये तीनो जिसके वर्धक है।

यः सुन्वते पचते दुध्र आ चिद्वाजं दर्दर्षि स किलासि सत्यः।
वयं त इन्द्र विश्वह प्रियासः सुवीरासो विदथमा वदेम ॥ १५ ॥

पदपाठ

यः। सुन्वते। पचते। दुध्रः। आ। चित्। वाजम्। दर्दर्षि। सः। किल। असि। सत्यः। वयम्। ते। इन्द्र। विश्वह। प्रियासः। सुऽवीरासः। विदथम्। आ। वदेम ॥ १५ ॥

सायण—इदानीमृषिः साक्षात्कृतमिन्द्रं प्रति ब्रूते। हे इन्द्र यः दुध्र दुर्धर सन् सुन्वते सोमाभिषवं कुर्वते पुरोडाशादिहवींषि पचते यजमानाय वाजम् अन्नं बलं वा आ दर्दर्षि भृशं प्रापयसि सः तादृशस्त्वं सत्य यथार्थभूतः असि न पुनर्नास्तीति बुद्धियोग्योऽसि। किल इति प्रसिद्धौ। ते तव प्रियास सुवीरासः कल्याणपुत्रपौत्राः सन्तः वयं विश्वह सर्वेष्वहःसु विदथं स्तोत्रम् आ वदेम ब्रूयाम् ॥

अनुवाद

जो दुर्धर्ष (इन्द्र) सोमाभिषव करने वाले एवं उसे पकाने वाले के लिये धन (या भोजन) लाकर तोडता है वह (इन्द्र) निश्चय ही सत्य है। हे इन्द्र, हम सदैव तुम्हारे प्रिय बने तथा वीर पुत्रो सहित यज्ञ सभा मे तुम्हारी स्तुति करे।

टिप्पणी

दर्दर्षि—'दृ' (विदारणे—तोडना) धा० का अभ्यस्त यङ्लुगन्त लट् का रूप है ।

आ चित्—'दुध्र' पर जोर देने के लिये इसकी अन्विति 'दुध्रः' के साथ की जा सकती है ।

स. किलासि सत्य —(वह तुम निश्चय ही सत्य हो)—इसमे इन्द्र को यहाँ प्रथम पुरुष के रूप मे प्रदर्शित किया गया है जब कि इसके ठीक पूर्व 'दर्दर्षि' क्रियापद से मध्यम पु० का बोध होता है ।

विदथम्—वहाँ पर दैवी यज्ञ अथवा सभा के अर्थ मे है ।

रुद्र

ऋ० २,३३—ऋषि-गृत्समद; छन्द-त्रिष्टुभ्

आ ते पितर्मरुतां सुम्नमेतु मा नः सूर्यस्य संदृशो युयोथाः ।
अभि नो वीरो अर्वति क्षमेत प्र जायेमहि रुद्र प्रजाभिः ॥ १ ॥

पदपाठ

आ । ते । पितः । मरुताम् । सुम्नम् । एतु । मा । नः । सूर्यस्य । सम्ऽदृशः । युयोथाः । अभि । नः । वीरः । अर्वति । क्षमेत । प्र । जायेमहि । रुद्र । प्रऽजाभिः ॥ १ ॥

सायण—हे मरुतां पित मरुत्संज्ञाना देवानामुत्पादक रुद्र ॥ 'परमपि छन्दसि' इति षष्ठ्यन्तस्य पूर्वामन्त्रिताङ्गवद्भावात् सर्वानुदात्तत्वम् ॥ ते त्वदीयमस्मभ्यम् दातव्य सुम्न सुखम् आ एतु आगच्छतु । रुद्रस्य च मरुता पितृत्वम् 'इद पित्रे मरुताम्' (ऋ० १,११४,६) इत्यत्राख्यायिकामुखेनावादिष्म । तथा त्व न. अस्मान् सूर्यस्य सदृश सदर्शनात् मा युयोथा मा पृथक्कार्षी ॥ 'यु मिश्रणामिश्रणयोः' । लङि छान्दस शप श्लु. । 'छन्दस्युभयथा' इत्यार्धधातुकत्वेन ङित्वाभावात् गुण ॥ अर्वति शत्रौ । 'भ्रातृव्यो वा अर्वा' (तै० सं० ६,३,८,४) इति श्रुते. । न अस्माकं वीर: वीर्यवान् पुत्रादिः अभि क्षमेत अभिभवतु । यद्वा वीरस्त्वं नोऽस्मानभिक्षमेथाः अस्मान् कृतापराधानभिक्षमस्व । हे रुद्र प्रजाभि: पुत्रपौत्रादिभि. प्र जायेमहि प्रभूता. स्याम ॥

अनुवाद

हे मरुतो के पिता, तुम्हारी कृपापूर्ण बुद्धि हमारे पास आवे; हमे सूर्य के सदर्शन से पृथक् मत करो। वीर रुद्र हमे अश्वो मे समर्थ बनावे, और हे रुद्र, हम प्रजाओ के द्वारा प्रवर्धित हो।

टिप्पणी

ते पितर्मरुताम्—यहाँ सभी अक्षरो पर अनुदात्त स्वर होने का कारण समस्त का सम्बोधन रूप से सामासिक पद होना है। इसे 'आमन्त्रितस्य च' (पा० ८,१,१९) और 'परमपि छन्दसि' के द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है।

सं॒ऽदृशः —सम् + दृश् (देखना) धा० से निष्पन्न 'सदृश्' शब्दका पंचमी ए० व० का रूप है।

युयोथाः —'यु' (अलग करना) धा० का विधिलिङ् (injunctive) आत्मने०, म० पु० एकव० का रूप है, जिसे सा० ने 'लङ्' का रूप माना है।

अर्वति—'अर्वा' शब्द 'अश्व' अथवा 'शत्रु' अर्थ मे ग्रहण किया जा सकता है। इसे 'अर्व्' (अर्वति गच्छति इति अर्वा) धा० से 'वनिप्' प्रत्यय के साथ निष्पन्न करेंगे, जिसमे 'पित्त्व' (प् के लोप) के कारण धातु पर उदात्त स्वर होगा।

(अभि) क्षमेत—'क्षम्' (सक्षम होना) धा० का विधिलिङ्, म० पु० ए० व० के लिये प्रयुक्त है।

त्वादत्तेभी रुद्र शंतमेभिः शतं हिमा अशीय भेषजेभिः।
व्य१स्मद्द्वेषो वितरं व्यंहो व्यमीवाश्चातयस्वा विषूचीः ॥ २ ॥

पदपाठ

त्वाऽदत्तेभिः। रुद्र। शम्ऽतमेभिः। शतम्। हिमाः। अशीय। भेषजेभिः। वि। अस्मत्। द्वेषः। विऽतरम्। वि। अंहः। वि। अमीवाः। चातयस्व। विषूचीः ॥ २ ॥

सायण—हे रुद्र त्वादत्तेभिः त्वया दत्तैः शंतमेभि अतिशयेन सुखकरै. भेषजेभि. भेषजैरौषधैः शतं हिमाः शतं हेमन्तान् शतसंवत्सरान् अशीय व्याप्नुयाम् ॥ अश्नोतेर्लिङि छान्दसो विकरणस्य लुक् ॥ अपि च अस्मत् अस्मत्त. द्वेषः द्वेष्टॄन् वि चातयस्व विनाशय। तथा अंहः पापम् वितरम् अत्यन्तं विचातयस्व। अमीवाः रोगान् विषूची· विषु नाना अञ्चती. कृत्स्नशरीरव्यापकान् रोगान् विचातयस्व अस्मत्तः पृथक्कृत्य विनाशय ॥

अनुवाद

हे रुद्र, तुम्हारे द्वारा प्रदत्त शमनकारी ओषधियो के द्वारा हम लोग सौ वर्षो को प्राप्त करे (शतायु हो)। हमसे द्वेष करने वालो को और संकीर्णताओ को दूर करो तथा रोगो को विभिन्न दिशाओ मे प्रेरित करो।

टिप्पणी

हिमाः —यहाँ 'हिमा' का तात्पर्य हेमन्त ऋतु से है जिससे उस समय वर्ष का प्रारम्भ माना जाता था। यह सभवत 'शरद्' के पूर्व की स्वीकृति है। परवर्ती काल मे 'हिमा' के स्थान पर 'शरद्' का वर्ष के अर्थ मे ग्रहण है, जैसे—'जीवेम शरद शतम्, शृणुयाम शरद शतम्' इत्यादि।

अशीय—'अश्' (प्राप्त करना, व्याप्त होना) का विधिलिङ् का आत्मने० रूप है जिसे सा० ने लङ् का रूप माना है।

विऽतरम्—'दूर' अर्थ मे क्रिया विशेषण है।

चातयस्व—'चत्' (छिपाना, डराकर भगाना) धा० का लोट्, म० पु० ए० व० का आत्मनेपद रूप है। यहाँ यह णिजन्त अर्थ मे प्रयुक्त है। सहिता पाठ मे अन्तिम स्वर को छन्द की दृष्टि से दीर्घ कर दिया है।

विषूचीः —'विष्वञ्च' (अनेक दिशाओ मे गमन करने वाला) शब्द का प्रयोग यहाँ क्रिया विशेषण के रूप मे हुआ है।

श्रेष्ठो जातस्य रुद्र श्रियासि तवस्तमस्तवसां वज्रबाहो।
पर्षि णः पारमंहसः स्वस्ति विश्वा अभीती रपसो युयोधि ॥ ३ ॥

पदपाठ

श्रेष्ठः। जातस्य। रुद्र। श्रिया। असि। तवःऽतमः। तवसाम्। वज्रबाहो इति वज्रऽबाहो। पर्षि। नः। पारम्। अंहसः। स्वस्ति। विश्वाः। अभिऽइतीः। रपसः। युयोधि ॥ ३ ॥

सायण—हे रुद्र जातस्य उत्पन्नस्य सर्वस्य जगतो मध्ये श्रिया ऐश्वर्येण श्रेष्ठः प्रशस्यतमः असि भवसि। तथा हे वज्रबाहो आयुधहस्त रुद्र तवसां प्रवृद्धानां मध्ये तवस्तमः अतिशयेन प्रवृद्धोऽसि। स त्वं नः अस्मान् अंहसः पापस्य पारं तीरं स्वस्ति क्षेमेण पर्षि पारय। तथा रपसः पापस्य विश्वाः सर्वाः अभीतीः अभिगमनानि युयोधि पृथक्कुरु ॥ यौतेश्छान्दसः शपः श्लुः। 'वा छन्दसि' इति अपित्त्वस्य विकल्पनात् ङित्त्वाभावे 'अङितश्च' इति हेर्धिः ॥

अनुवाद

हे रुद्र, अपनी श्री (यश) के कारण तुम सभी प्राणियों मे श्रेष्ठ हो, बलशालियो मे अत्यन्त बलवान्, हे हाथ मे वज्र धारण करने वाले, तुम हो। सकीर्णता (दु ख) से हमे पार करो (और) कल्याण करो। समस्त प्रकार के शारीरिक आक्रमणो को हमसे अलग करो (दूर करो)।

टिप्पणी

वज्रबाहो—'वज्रबाहु' विशेषण सदैव इन्द्र के लिये आया है। केवल यही पर रुद्र के लिये प्रयुक्त है। पदपाठ मे 'इति करण' इसे प्रगृह्य मान कर हुआ है। उकारान्त सभी सम्बोधन शब्दो को प्रगृह्य माना जाता है और उन्हे पदपाठ मे 'इति' के साथ दिखाया जाता है।

पर्षि—'पृ' (पार करना) धा० का म० पु०, ए० व०, लट् का रूप है, जो लोडर्थ मे प्रयुक्त है।

अंहस —'अहस्' शब्द का ष० ए० व० का रूप है। यह अवेस्ता के 'अंहुस्' (narrowness) के समान है।

अभीतीः—अभि + इती की निष्पत्ति 'अभि' उपसर्ग पूर्वक 'इ' धा० (जाना) से होगी। किसी की ओर तेजी से गमन करना अर्थात् 'आक्रमण' इसका शाब्दिक अर्थ है। ऋ० मे यह शब्द केवल दो बार (२,३३,३, ७,२१, ९) आया है। अन्यत्र यह 'शत्रु की अभीति' के रूप मे (अभीतिमर्य) है। 'उपसर्गाश्चाभिवर्जम्' (फिट् सू० ४,१३) के अनुसार 'अभि' पर उदात्त स्वर है।

रपस. —यह रूप ऋ० मे केवल यही पर आया है। यह 'रपस्' शब्द का षष्ठी ए० व० का रूप है। निरु० ४ २१ मे कहा गया है—'रिप्रमिति पापनामनी भवत' जिसके आधार पर इसका अर्थ 'पाप' है। इसे 'रप्' या 'रफ्' धा० (चोट पहुँचाना) से निष्पन्न करेंगे।

युयोधि—'यु' (अलग करना) धा० का लोट्, म० पु० ए० व० का रूप है।

मा त्वा रुद्र चुक्रुधामा नमोभिर्मा दुष्टुती वृषभ मा सहूती।
उन्नो वीरॉ अर्पय भेषजेभिर्भिषक्तमं त्वा भिषजां शृणोमि ॥ ४ ॥

पदपाठ

मा । त्वा । रुद्र । चुक्रुधाम । नमःऽभिः । मा । दुःऽस्तुती । वृषभ । मा । सऽहूती । उत् । नः । वीरान् । अर्पय । भेषजेभिः । भिषक्ऽतमम् । त्वा । भिषजाम् । शृणोमि ।

सायण—हे रुद्र त्वा त्वां नमोभिः अयथाक्रियमाणैर्नमस्कारैर्हविर्भिर्वा मा चुक्रुधाम मा क्रोधयाम क्रुद्धं मा कार्ष्म ॥ 'क्रुध कोपे' । अस्माण्ण्यन्तात् लुङि चङि रूपम् ॥ हे वृषभ कामानां वर्षित. दुष्टुती दुःस्तुत्या अशोभनया स्तुत्या मा चुक्रुधामेत्येव । तथा सहूती सहूत्या विसदृशैरन्यैर्देवैः सहाह्वानेन मा क्रोधयाम । श्रेष्ठो हि स्वस्मान्न्यूनेन सहाह्वाने क्रुद्धो भवति । स त्वं नः अस्माकं वीरान् पुत्रान् भेषजेभिः त्वदीयैर्भेषजैरौषधैः उत् अर्पय उत्कृष्टं सयोजय । हे रुद्र त्वा त्वां भिषजा चिकित्साभिज्ञानां मध्ये भिषक्तमम् अतिशयेन भैषज्यस्य कर्तारं शृणोमि । 'प्रथमो दैव्यो भिषक्' (तै० स० ४,५,१,२, वा० स० १६,५) इति च मन्त्रान्तरेऽप्युक्तम् ॥

अनुवाद

हे रुद्र, हम अपने नमस्कारो द्वारा तुम्हे क्रोधित न करे और न तो हे वृषभ, दुष्प्रशसा तथा एक साथ आह्वान द्वारा ही (तुम्हे क्रोधित करे)। हमारे वीरो को अपनी ओषधियों द्वारा शक्ति प्रदान करो। तुम्हे मै चिकित्सको मे श्रेष्ठ चिकित्सक सुनता हूँ।

टिप्पणी

चुक्रुधाम—इसे 'मा' (नकारार्थ) के योग मे लुङ् (माङि लुङि०—पा० ३,३,१७५) लकार का रूप होना चाहिये, किन्तु यहाँ यह विधिलिङ् (उ० पु० ब० व०) अथवा लेट् का रूप प्रतीत होता है।

✓ नमोभिः —यहाँ अनुचित रूप से प्रयुक्त नमस्कारो का भाव है जो 'दु स्तुति' और 'सहूती' में भी है। रुद्र के साथ अन्य देवताओ का आह्वान नही किया गया है (ऋ० ६,७४—सोमारुद्रा धारयेथामसुर्यम् ·· ···)।

(उत्) अर्पय—यहाँ वीरो को उत्थान करने के लिये प्रेरित करने का भाव है। इससे विपरीत 'नि अर्पय' (७,१०४,१) है। ऋ० मे 'अर्पय' शब्द केवल यहाँ पर आया है। यह 'ऋ गतौ' धा० का प्रेरणार्थक लोट्, म० पु० ए० व० का रूप है।

हवी॑मभि॒र्हव॑ते॒ यो ह॒विर्भि॒रव॒ स्तोमे॑भी रु॒द्रं दि॑षीय ।
ऋ॒दू॒दर॑: सु॒हवो॒ मा नो॑ अ॒स्यै ब॒भ्रुः सु॒शिप्रो॑ रीरधन्म॒नायै॑ ॥ ५ ॥

पदपाठ

हवी॑मऽभिः । हव॑ते । यः । ह॒विःऽभि॑ः । अव॑ । स्तोमे॑भिः । रु॒द्रम् दि॒षी॒य । ऋ॒दू॒ दर॑ः । सु॒ऽहव॑ः । मा । न॒ः । अ॒स्यै । बभ्रु॑ः । सु॒ऽशिप्र॑ः री॒र॒ध॒त् । म॒नायै॑ ॥ ५ ॥

सायण—य. रुद्र हविर्भि॑ चरुपुरोडाशादिभिः सहितैः हवीमभि. आह्वानै स्तुतिलक्षणै हवते आहूयते स्तूयते ॥ व्यत्ययेन कर्मणि कर्तृप्रत्यय । 'बहुल छन्दसि' इति ह्वयते सम्प्रसारणम् । तं रुद्रं स्तोमेभि. स्तोत्रै: अव दिषीय अवखण्डयामि पृथक्करोमि । अपगतक्रोध करोमीति यावत ॥ 'दो अवखण्डने' व्यत्ययेनात्मनेपदम् । 'बहुल छन्दसि' इतीत्वम् ॥ ऋदूदर: । 'ऋदूदरो मृदूदरः (निरु० ६,४) इति यास्कः । सुहव शोभन आह्वान. बभ्रुः भर्ता सर्वस्य बभ्रुवर्णो वा । सुशिप्रः । शिप्रे हनू नासिके वा । शोभनशिप्रः । एवंगुण· विशिष्टः स रुद्र. अस्यै मनायै । हन्मीति मन्यमाना बुद्धिर्मना । तस्यै नः अस्मान मा रीरधत् मा वशं नैषीत् ॥ 'रध हिंसासंराद्ध्यो.' । अस्माण्ण्यन्तात् लुङि चङि रूपम् । 'रध्यतिर्वशगमने' इति यास्क: ॥

अनुवाद

जो आह्वानो और हवियो द्वारा आहूत होता है (बुलाया जाता है) उस रुद्र को स्तुतियो के द्वारा मै शान्त करूँगा । दयावान्, सुन्दर रूप मे आह्वान किया जाने वाला, भूरे वर्ण वाला, सुन्दर केशो वाला वह (रुद्र) अपनी ईर्ष्या का पात्र हमे न बनाये ।

टिप्पणी

हवी॑मऽभिः —'हवीमन्' शब्द का तृ० ब० व० का रूप है। इसे 'हू' (आह्वान करना) धा० से निष्पन्न करेंगे ।

ह॒विर्भि॑. —'हविष्' शब्द का तृ० ब० व० का रूप है । इसे 'हु' (हवन करना, हवि प्रदान करना) धा० से निष्पन्न करेंगे ।

(अव॑) दि॒षी॒य—'दा' (देना) या 'दो' (खण्डन करना) धा० का यह लेट्, आत्मने० का रूप है । 'अव' उपसर्ग के द्वारा धात्वर्थ के हट जाने का भाव है: अतः यहाँ इसका अर्थ 'रुद्र के क्रोध के खण्डन या हटाने' के साथ सम्बन्धित है ।

ऋदूदरः —'ऋदु' (ऋद् धा०—कोमल होना) और 'उदर से निष्पन्न यह शब्द कोमल स्वभाव अर्थात् दयालु अर्थ का द्योतक है।

रीरधत्—'रन्ध्' धा० का लुङ् (विध्यर्थ), प्र० पु० ए० व० का रूप है।

उन्मा॑ ममन्द वृष॒भो म॒रुत्वा॒न्त्वक्षी॑यसा॒ वय॑सा॒ नाध॑मानम् ।
घृ॒णी॑व च्छा॒याम॑र॒पा अ॑शी॒या वि॑वासेयं रु॒द्रस्य॑ सु॒म्नम् ॥ ६ ॥

पदपाठ

उत् । मा । म॒म॒न्द॒ । वृ॒ष॒भः । म॒रुत्वा॑न् । त्वक्षी॑यसा । वय॑सा । नाध॑मानम् । घृ॒णि॑ऽइव । छा॒याम् । अ॒र॒पाः । अ॒शी॒य॒ । आ । वि॒वा॒से॒य॒म् । रु॒द्रस्य॑ । सु॒म्नम् ॥ ६ ॥

सायण—वृषभ कामानां वर्षिता मरुत्वान् मरुद्भिः पुत्रैर्युक्तो रुद्रः नाधमानं याचमानं मा मां त्वक्षीयसा दीप्तेन वयसा अन्नेन उत् ममन्द उत्कर्षेण तर्पयतु। अपि चाह घृणीव छायां यथा सूर्यकिरणसंतप्तः छाया प्रविशति एव रुद्रस्य सुम्नं सुखम् अरपाः अपापः सन् अशीय व्याप्नुयाम्। तदर्थं तं रुद्रम् आ विवासेयं परिचरेयम्। विवासतिः परिचरणकर्मा ॥

अनुवाद

मरुतो से युक्त शक्तिशाली (रुद्र) ने अपनी दीप्त शक्ति (प्रदान करने) के द्वारा मुझ याचक को अति आनन्दित किया है। घर्म से पीड़ित व्यक्ति जैसे छाया को प्राप्त करे (वैसे ही) मैने (उसकी) क्षति रहित कृपा प्राप्त की है। रुद्र की कृपा (सुख) को मै अपनी सेवाभावना द्वारा प्राप्त करू ।

टिप्पणी

(उत्) म॒म॒न्द—'मदी हर्षे' धा० का लिट्, उ० पु० ए० व० का रूप है।

म॒रुत्वा॑न्—रुद्र मरुतो का पिता है, अत यहाँ उसे 'मरुत्वान्' कहा गया है। अन्यथा यह विशेषण प्राय इन्द्र के साथ ही ऋ० मे प्रयुक्त हुआ है।

त्वक्षी॑यसा॒ वय॑सा—यहाँ इसका तात्पर्य 'वह रुद्र मुझे उपहार स्वरूप अपनी तीक्ष्ण शक्ति, को प्रदान करने के द्वारा' (हर्षित किया) है।

घृणि॑—'घृण्' शब्द का सप्त० ए० व० का रूप है। यहाँ यह 'उष्णता' का बोधक है।

अ॒र॒पा —'रप्' (हिसा करना, चोट पहुँचाना) धा० से नञ् समास के साथ यह शब्द निष्पन्न होगा।

अशीय—'अश्' (प्राप्त करना) धा० का विधिलिङ् का रूप है।

(आ) विवासेयम्—'वन्' (जीतना, प्राप्त करना) धा० का सन्नन्त (इच्छात्मक) विधिलिङ् उ० पु० ए० व० का रूप है।

क्व१ स्य ते रुद्र मृळयाकुर्हस्तो यो अस्ति भेषजो जलाषः।
अपभर्ता रपसो दैव्यस्याभी नु मा वृषभ चक्षमीथाः ॥ ७ ॥

पदपाठ

क्व । स्यः । ते । रुद्र । मृळयाकुः । हस्तः । यः । अस्ति । भेषजः । जलाषः । अपऽभर्ता । रपसः । दैव्यस्य । अभि । नु । मा । वृषभ । चक्षमीथाः ॥ ७ ॥

सायण—हे रुद्र ते तव मृळयाकुः सुखयिता स्यः सः हस्तः क्व कुत्र वर्तते। य हस्त भेषज भैषज्यकृत् जलाष सर्वेषां सुखकरः अस्ति भवति। स हस्तो विद्यते एव। तेन हस्तेन मां रक्षेति भाव:। अपि च हे वृषभ कामानां वर्षित दैव्यस्य देवकृतस्य रपस· पापस्य अपभर्ता अपहर्ता विनाशयिता भूत्वा कृपापराध मा मां नु क्षिप्रम् अभि चक्षमीथा. अभिक्षमस्व ॥ 'क्षमूष् सहने'। लङि छान्दस शपः श्लुः। 'बहुलं छन्दसि' इतीडागम ॥

अनुवाद

हे रुद्र, तुम्हारा वह दयाल हाथ कहाँ है जो निरोग करने वाला और शीतल है ? दैवी क्षतियो का अपहरण करने वाले हे बलवान्, तुम अब मेरे प्रति क्षमाशील बनो (मुझे क्षमा करो)।

टिप्पणी

मृळयाकु—यह शब्द 'मृड सुखने' धा० से निष्पन्न होगा। 'मृड' से णिजन्त (प्रेरणार्थक) 'मृडय' करके उसमे 'आकु' प्रत्यय के सहित 'मृडयाकु' या 'मृळयाकु' बनेगा। प्रत्यय पर उदात्त स्वर होगा (प्रत्यय , आद्युदात्तश्च)।

भेषजः—यहाँ यह विशेषण रूप मे प्रयुक्त है। अन्यत्र (ऋ० १०,१३७, ६) मे जल को 'भेषजी.' कहा गया है। अन्य स्थानो मे यह सर्वथा सज्ञा रूप मे 'दवा' अर्थ मे ही है।

अपऽभर्ता—यह शब्द ऋ० मे केवल यही पर प्रयुक्त है। अप + भृ (भरण करना) धा० के सयोग से निष्पन्न इसका अर्थ 'हटाने वाला' या 'अपहरण करने

वाला' है। इसमे उपपद समास होने के कारण तथा 'भू' के साथ 'क्त' प्रत्यय होने से 'थाथयञ्क्ताजबित्रकाणाम्' (पा० सू० ६,२,१४४) सूत्र से उत्तर पद पर अन्तोदात्त स्वर है।

चक्षमीथा —'क्षम्' धा० का लङ् रूप है जो विधिलिङ् के अर्थ मे म० पु० ए० व० के रूप मे प्रयुक्त है। 'तिङ्ङतिङः' (पा० सू० ८,१,२८) से सर्वानुदात्त है।

प्र बभ्रवे वृषभाय श्वितीचे महो महीं सुष्टुतिमीरयामि।
नमस्या कल्मलीकिनं नमोभिर्गृणीमसि त्वेषं रुद्रस्य नाम॥ ८॥

पदपाठ

प्र। बभ्रवे। वृषभाय। श्वितीचे। महः। महीम्। सुऽस्तुतिम्। ईरयामि। नमस्य। कल्मलीकिनम्। नमःऽभिः। गृणीमसि। त्वेषम्। रुद्रस्य। नाम॥ ८॥

सायण—बभ्रवे विश्वस्य भर्त्रे बभ्रुवर्णाय वा वृषभाय कामानां वर्षित्रे तद्वत्प्रसह्यकारिणे वा श्वितीचे श्वैत्यमञ्चते॥ 'श्विता वर्णे।' औणादिक इन् प्रत्यय। श्वितिमञ्चतीत्यञ्चते. 'ऋत्विक्०' इत्यादिना क्विन्। चतुर्थ्येकवचने 'अचः' इत्यकारलोपे 'चौ' इति दीर्घत्वम्। उदात्तनिवृत्तिस्वरेण विभक्तेरुदात्तत्वम्॥ एवंगुणविशिष्टाय रुद्राय महो मही महतोऽपि महतीम् सुष्टुतिं शोभनस्तुतिं प्र ईरयामि प्रकर्षेणोच्चारयामि। हे स्तोत. कल्मलीकिनम्। ज्वलतो नामधेयमेतत् (नि० १,१७)। ज्वलन्तम्। कलयति अपगमयति मलमिति कल्मलीकं तेज॰। तद्वन्तं रुद्रं नमोमि नमस्कारैः हविर्भिर्वा नमस्य पूजय। वयं च रुद्रस्य महादेवस्य त्वेषं दीप्तं नाम गृणीमसि गृणीम. संकीर्तयाम॥ 'गॄ शब्दे'। क्रैयादिक। इदन्तो मसिः। 'प्वादीनां ह्रस्वः'॥

अनुवाद

भूरे रंग वाले, श्वेत (प्रकाशवान्) एव शक्तिशाली (रुद्र) के लिये मै बड़ी से बड़ी शोभन स्तुति को प्रेरित करता हूँ। मै नमस्कारो द्वारा उस तेजस्वी को प्रणाम करूँगा और रुद्र के दीप्तिमान् नाम का हम उच्चारण (आह्वान) करते है।

टिप्पणी

श्वितीचे—श्वेत रग का तात्पर्य यहाँ सम्भवत रुद्र के श्वेत वस्त्रों से है। अन्यथा यह 'प्रकाश' का द्योतक है। ऋ० १०,४६,७ मे अग्नि के लिये 'श्वितीचय.

······भुरण्यव (पावकाः) आया है जो प्रस्तुत मन्त्र मे 'बभ्रवे श्वितीचे' के समान है। ऋ० १,१२३,९ मे उषा को 'श्वितीची' कहा गया है। इन दोनो सन्दर्भों से 'प्रकाशवान्' अर्थ ही निकलता है। अन्यथा 'भूरे रग वाला' के साथ पुन. 'श्वेत रगवाला' अर्थ (या विशेषण) असंगत प्रतीत होता है। अत इसका भाव 'प्रकाशवान्' मानना उचित होगा।

महो महीम्—यहाँ इसका अर्थ 'महान्' की महान् (स्तुति) भी हो सकता है, यदि 'मह ' को षष्ठ्यन्त पद माना जाय।

नमस्या—यह लोट् का 'नमस्य' रूप छन्द की दृष्टि से दीर्घ होने के कार' हो सकता है। अन्यथा यह लेट्, उ० पु० ए० व० का रूप है।

स्थिरेभिरङ्गैः पुरुरूप उग्रो बभ्रुः शुक्रेभिः पिपिशे हिरण्यैः।
ईशानादस्य भुवनस्य भूरेर्न वा उ योषद्रुद्रादसुर्यम् ॥ ९ ॥

पदपाठ

स्थिरेभिः। अङ्गैः। पुरुऽरूपः। उग्रः। बभ्रुः। शुक्रेभिः। पिपिशे। हिरण्यैः। ईशानात्। अस्य। भुवनस्य। भूरेः। न। वै। ऊँ इति। योषत्। रुद्रात्। असुर्यम् ॥ ९ ॥

सायण—स्थिरेभि स्थिरैः दृढै अङ्गैः अवयवैर्युक्तः पुरुरूपः अष्टमूर्त्यात्मकै-र्बहुभी रूपैरुपेत. उग्र. उद्गूर्णस्तेजस्वी बभ्रु भर्ता बभ्रुवर्णो वा रुद्र. शुक्रेभि. दीप्तै. हिरण्यैः हिरण्मयैर्हितरमणीयैर्वालङ्कारैः पिपिशे दीप्यते ॥ 'पिश अवयवे'। कर्मणि लिट् ॥ ईशानात् ईश्वरात् अस्य भुवनस्य भूतजातस्य भूरेः भर्तुः रुद्रात् असुर्यम् ॥ 'असु क्षेपणे'। असेरुरन्। असुर. क्षेप्ता। 'तत्र साधु'॥ असुर्यम् बलं न वा उ योषत् नैव पृथक् भवति। यौतेर्लेट्यडागम। 'सिब्बहुलं लेटि' इति सिप्॥

अनुवाद

सुदृढ अङ्गो से युक्त अनेक रूपो वाले उग्र और भूरे रंग वाले (रुद्र) ने (अपने को) स्वर्णिम अलङ्कारो से अलकृत किया है। इस विश्व का भरण करने वाले महान् शासक रुद्र से इसकी महानता (बल) कभी पृथक् न होगी।

टिप्पणी

पिपिशे—'पिश्' (अलकृत करना) धा० का लिट्, प्र० पु०, ए० व० का रूप है।

भूरे॑ः—इसकी अन्विति या तो 'भुवनस्य' के साथ होगी अन्यथा 'ईशानात्' के साथ होनी चाहिये। इसका अर्थ 'भरण कर्ता' या 'पोषक' होगा, क्योकि यह 'भृञ् भरणे' से निष्पन्न है।

य॒ोषत्—यह लुङ् का रूप हो सकता है, किन्तु यहाँ इसे लेट् अर्थ मे ग्रहण करना अधिक उचित होगा।

अ॒सु॒र्य॑म्—इसे 'असुर' (महान् देवता) से निष्पन्न करना उचित होगा। यहाँ सायण ने 'असु क्षेपणे' से 'उरन्' प्रत्यय करके निष्पन्न किया है और 'बल' अर्थ माना है। किन्तु इसे 'महानता' अर्थ मे ग्रहण करना उचित होगा, क्योकि रुद्र 'असुर' है और उसका 'असुरत्व' ही 'असुर्यम्' के रूप मे यहाँ प्रयुक्त है। 'असुर' जब विशेषण रूप मे हो तो इसका उच्चारण 'असुरिअ' होता है, अतः 'असुर्यम्' का उच्चारण भी 'असुरिअम्' हो सकता है।

अर्ह॑न्बिभर्षि॒ साय॑कानि॒ धन्वार्ह॑न्नि॒ष्कं य॑ज॒तं वि॒श्वरू॑पम्।
अर्ह॑न्नि॒दं द॑यसे॒ विश्व॒मभ्वं॒ न वा ओजी॑यो रुद्र॒ त्वद॑स्ति ॥ १० ॥

पदपाठ

अर्ह॑न्। बि॒भ॒र्षि॒। साय॑कानि। धन्व॑। अर्ह॑न्। नि॒ष्कम्। य॒ज॒तम्। वि॒श्वऽरू॑पम्। अर्ह॑न्। इ॒दम्। द॒य॒से॒। विश्व॑म्। अभ्व॑म्। न। वै। ओजी॑यः। रु॒द्र॒। त्वत्। अ॒स्ति॒ ॥ १० ॥

सायण—हे रुद्र त्वम् अर्हन् अर्हो योग्य एव सन् सायकानि शरान् धन्व धनुश्च बिभर्षि धारयसि। तथा अर्हन् एव यजतं यजनीयं पूजनीयं विश्वरूपं बहुविधरूपयुक्तं निष्कं हारं बिभर्षि। तथा अर्हन् एव इदं विश्वं सर्वम् अभ्वम्। महन्नामैतत्। अतिविस्तृतं जगत् दयसे रक्षसि। 'देङ् रक्षणे'। हे रुद्र त्वत् त्वत्तोऽन्यत् किञ्चित् ओजीय. ओजस्वितरं बलवत्तरं न वै अस्ति न खलु विद्यते। अतस्त्वमेव उक्तव्यापारेषु योज्य इत्यर्थः॥ ओज. शब्दात् मत्वर्थीयो विनिः। ततः आतिशायनिकः इष्ठन्। 'विन्मतोर्लुक्'। 'टे॰' इति टिलोपः॥

अनुवाद

(हे रुद्र) योग्य तुम बाण और धनुष धारण करते हो। योग्य तुम्हारा अनेक रूपो वाला प्रशसनीय हार है। योग्य तुम (अपने समस्त पूजको मे) अपनी समस्त शक्ति को वितरित करते हो। हे रुद्र, तुमसे अधिक ओजस्वी और कोई नही है।

टिप्पणी

बिभर्षि—'भृ' (भरण करना, धारण करना) धा० का लट्, म० पु०, ए० व० का रूप है।

दयसे—सा० ने इसे 'दे' (रक्षण करना) धा० का रूप माना है, किन्तु यह 'दा' (विभक्त करना) धा० का लट्, म० पु०, ए० व०, आत्मने० का रूप हो सकता है।

अभ्वम्—यह शब्द 'भयकर शक्ति' या 'विचित्र रूप' के अर्थ मे प्रयुक्त हो सकता है। यह प्राय 'महान् अन्धकार' के साथ ऋ० मे आया है। इसके अनेक अर्थों मे—सृष्टि, प्राणिमात्र, समस्त विश्व, तत्त्व, पैशाचिक जीव, दुष्ट प्राणी, शक्ति, भावमय जगत् आदि है। विशेष विवेचन के लिये द्रष्टव्य—वेकट सुब्बैया, वेदिक स्टडीज, भा० १, पृ० १९७-२०१।

स्तुहि श्रुतं गर्तसदं युवानं मृगं न भीममुपहत्नुमुग्रम्।
मृळा जरित्रे रुद्र स्तवानोऽन्यं ते अस्मन्नि वपन्तु सेनाः ॥११॥

पदपाठ

स्तुहि। श्रुतम्। गर्तऽसदम्। युवानम्। मृगम्। न। भीमम्। उपऽहत्नुम्। उग्रम्। मृळ। जरित्रे। रुद्र। स्तवानः। अन्यम्। ते। अस्मत्। नि। वपन्तु। सेनाः ॥११॥

सायण—हे स्तोत श्रुतं विश्रुत प्रख्यातं रुद्रं स्तुहि। कीदृशम् गर्तसदं गर्तो रथ। तत्र सीदन्तं युवान नित्यतरुण मृगं न भीमं मृगं सिहमिव भयङ्करम्। उपहत्नुम् उपहन्तारं शत्रूणाम् उग्रम् उद्गूर्ण हे रुद्र त्वं स्तवानः अस्माभिः स्तूयमानः सन् जरित्रे स्तोत्रे मह्यं मृळ सुखय। ते त्वदीयाः सेनाः अस्मत् अन्यम् अस्मद्व्यतिरिक्तं पुरुषं नि वपन्तु निघ्नन्तु॥

अनुवाद

(हे ऋत्विजो) उस विख्यात, रथ मे आसीन, तरुण, सिह के समान भयकर, शत्रुओं के सहारक एव उग्र रुद्र की स्तुति करो। हे रुद्र, स्तुति किये जाते हुए तुम अपने स्तोता पर दया करो। तुम्हारी सेनाये हमे छोड़-कर अन्य लोगों (हमारे शत्रुओ) का सहार करे।

टिप्पणी

मन्त्र के प्रथम दो पाद स्तुति करने वाले के प्रति कहे गये है। द्वितीय पाद (मृग न भीमम्) की तुलना ऋ० २,३४,१ मे मरुतो के साथ कर सकते है जहाँ उन्हे 'मृगा न भीमा ....' कहा गया है। ऋ० १,१५४,२ मे विष्णु के सन्दर्भ मे इसकी विवेचना की जा चुकी है। ऋ० ७,१९,१ मे 'वृषभो न भीम' और ऋ० ४,१६,१४ मे 'सिंहो न भीम' इन्द्र के लिए आये है जिसकी तुलना यहाँ कर सकते है।

मृळ—'मृड्' (सुख देना, कृपा करना) धा० का लोट्, म० पु०, ए० व० का रूप है। पाद के प्रारम्भ मे होने के कारण उदात्त स्वर है।

सेनाः—रोठ ने इसका अर्थ 'आयुध' (Wurfwaffen'=missiles) किया है जिसे वा० सं० १६,५२ मे 'हेतय.' (यास्ते सहस्र हेतयोऽन्यमस्मन्निवपन्तु ता) कहा गया है। किन्तु वा० स० १७,३३ मे 'वृषभ के समान भयकर' इन्द्र को सौ सेनायें जीतते हुए कहा गया है (शत सेना अजयत्साकमिन्द्र)। अत यह सभव है कि 'हेतय' भी 'सेना' अर्थ मे ही वाजसनेयि संहिता के ऋषि ने ग्रहण कर लिया हो अथवा सेना के स्थान पर 'हेतय' को ही रुद्र के साथ अधिक उपयुक्त माना हो। इस आधार पर रोठ (जिसका अनुसरण मैक्डॉनेल ने किया—वे० री० पृ० ६४) का मत समीचीन नही प्रतीत होता।

कुमारश्चित् पितरं वन्दमानं प्रति नानाम रुद्रोपयन्तम्।
भूरेर्दातारं सत्पतिं गृणीषे स्तुतस्त्वं भेषजा रास्यस्मे ॥१२॥

पदपाठ

कुमारः। चित्। पितरम्। वन्दमानम्। प्रति। ननाम। रुद्र। उपऽयन्तम्। भूरेः। दातारम्। सत्ऽपतिम्। गृणीषे। स्तुतः। त्वम्। भेषजा। रासि। अस्मे इति ॥१२॥

सायण—वन्दमानम् आयुष्मान् भव सौम्य इति स्तुवन्त पितरं कुमारश्चित् यथा कुमार.॥ चिदित्येतदुपमार्थे॥ हे रुद्र उपयन्तम् अस्मत्समीपे गच्छन्त त्वां प्रति ननाम प्रतिनतोऽस्मि। अपि च भूरे. बहुनो धनस्य दातारं सत्पतिं सतां पालयितारं॥ 'पत्यावैश्वर्ये' इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम्॥ हे रुद्र एवंभूतं त्वां गृणीषे स्तौमि॥ मिप 'तिङां तिङो भवन्ति' इति सेआदेशः॥ स्तुतः च त्वम् अस्मे अस्मभ्यं भेषजा भेषजानि रासि देहि॥

अनुवाद

हे रुद्र, वन्दना के हेतु समीप जाते हुए पिता के प्रति जिस प्रकार पुत्र नमित होता है (वैसे मै तुम्हारे सामने नमित हूँ)। बहुत देने वाले, सच्चे स्वामी के लिए मै स्तुति करता हूँ। स्तुति किये जाने पर तुम हमे ओषधियाँ प्रदान करो।

टिप्पणी

कुमारश्चित् पितरं वन्दमानम्—जब पिता पुत्र को देखता है तो उसकी ओर स्नेह से बढता है और उसकी वन्दना को स्वीकार करता है। वैसे ही रुद्र अपने स्तोता के प्रति बढता है और उसे आशिष् देता है अथवा बच्चे को सिखाने के लिये पिता स्वय झुकता हे।

ननाम—'नम्' (नमस्कार करना) धा० का लट्, प्र० पु० ए० व० का रूप है जिसे सा० ने उ० पु० का रूप माना है।

चित्—सा० ने इसे 'इव' अर्थ मे लिया है जिसका अनुसरण गेल्डनर ने भी किया है।

गृणीषे—'गृ' (गाना) धा० का उ० पु० ए० व० का अनियमित आत्मनेपदी रूप है।

रासि—'रा दाने' धा० का लट्, म० पु०, ए० व० का रूप है जो यहाँ लोट् अर्थ मे प्रयुक्त है।

या वो भेषजा मरुतः शुचीनि या शंतमा वृषणो या मयोभु।
यानि मनुरवृणीता पिता नस्ता शं च योश्च रुद्रस्य वश्मि ॥१३॥

पदपाठ

या। वः। भेषजा। मरुतः। शुचीनि। या। शम्ऽतमा। वृषणः। या। मयःऽभु। यानि। मनुः। अवृणीत। पिता। नः। ता। शम्। च। योः। च। रुद्रस्य। वश्मि ॥१३॥

सायण—हे मरुत. रुद्रपुत्रा व युष्माकं या यानि भेषजा भेषजान्यस्मदारोग्यहेतुभूतान्यौषधानि शुचीनि शुद्धानि निर्मलानि सन्ति। हे वृषण: कामानां वर्षितारो मरुतः या यानि च युष्मदीयानि भेषजानि शंतमा अतिशयेन सुखकराणि। या यानि च भेषजानि मयोभु मयोभूनि मयसः सुखस्य भावयितॄणि नः अस्मत् पिता मनुः यानि भेषजानि युष्मदीयानि अवृणीत वृतवान् ता तानि

भेषजानि रुद्रस्य महादेवस्य सम्बन्धि शं च योश्च यच्छमनीयानां रोगाणामुपशमनं यावनीयानां भयानां यद्यावनमस्मत्त. पृथक्करणं तदुभयं च वश्मि कामये ॥ 'वश कान्तौ'। आदादिक ॥

अनुवाद

हे मरुतो, तुम्हारी जो ओपधियाँ पवित्र और जो (रोगो का) शमन करने वाली तथा जो, हे शक्तिशाली, सुख प्रदान करने वाली है, एव जिन्हे हमारे पिता मनु ने वरण किया (चुना) मै उनके लिये और रुद्र की शमन करने वाली एव रोगो को अलग करने वाली (शक्ति की) कामना करता हूँ।

टिप्पणी

मरुतो को रुद्र का पुत्र कहा गया है इस लिए वे भी 'भेषजा' (ओषधियो) के प्रदाता है।

मयोऽभु—यहाँ यह प्रथमा ब० व० के रूप मे है।

मनुः—मानवो के जनक रूप मे विख्यात ऋषि है।

अवृणीत—'वृञ् वरणे' धा० का लङ्, प्र० पु० ए० व० का आत्मने० रूप है। छन्द की दृष्टि से दीर्घत्व है। लङ् के 'अट्' के प्रारम्भ मे होने से 'अ' पर उदात्त स्वर है (लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्त —पा० सू० ६,४,७१)।

परि णो हेती रुद्रस्य वृज्याः परि त्वेषस्य दुर्मतिर्मही गात्।
अव स्थिरा मघवद्भ्यस्तनुष्व मीढ्वस्तोकाय तनयाय मृळ ॥ १४ ॥

पदपाठ

परि। नः। हेतिः। रुद्रस्य। वृज्याः। परि। त्वेषस्य। दुःऽमतिः। मही। गात्। अव। स्थिरा। मघवत्ऽभ्यः। तनुष्व। मीढ्वः। तोकाय। तनयाय। मृळ ॥ १४ ॥

सायण—रुद्रस्य महादेवस्य हेति आयुधं नः अस्मान् परि वृज्या परिवर्जयतु। तथा त्वेषस्य दीप्तस्य रुद्रस्य मही महती दुर्मति. दुःखकारिणी बुद्धिश्च परि गात् अस्मान् वर्जयित्वा अन्यत्र गच्छतु ॥ 'अपपरी वर्जने' (पा० सू० १,४,८८) ॥ हे मीढ्व. सेचनसमर्थ रुद्र स्थिरा स्थिराणि त्वदीयानि धनूंषि मघवद्भ्य हविर्लक्षणधनयुक्तेभ्यो यजमानेभ्यः अव तनुष्व अवततज्यानि कुरु। तथा तोकाय अस्मत्पुत्राय तनयाय तत्पुत्राय च मृळ सुखं कुरु ॥

अनुवाद

रुद्र का अस्त्र हमे छोड दे। उस भीषण देवता की महती दुर्भावना हमसे दूर चली जाय। हमारे उदार दाताओ के लिए (अपने) दृढ अस्त्र को शिथिल करो। हे उदार (देवता), हमारे पुत्रो एव वशजो के प्रति कृपालु बनो।

टिप्पणी

(परि॑) वृ॒ज्या॒.—'वृजी वर्जने' धा० का मध्य० पु०, ए० व०, विधिलिङ् का रूप है जो यहाँ प्र० पु० के अर्थ मे प्रयुक्त है। इसका सम्बन्ध 'हेति.' से है। 'परि' उपसर्ग पूर्वक 'वृज्' धा० का अर्थ 'छोडना' है।

(परि॑) गा॒त्—'गा' (जाना) धा० का विधिलिङ् का रूप है।

अव॑ त॒नु॒ष्व॒ स्थि॒रा—यहाँ रुद्र के धनुष के शिथिल करने का तात्पर्य है।

मीढ्व॑.—'मीढ्वस्' शब्द का सम्बो० ए० व० का रूप है।

मृ॒ळ—'मृड्' धा० का लोट्, म० पु०, ए० व० का रूप है।

एवा ब॑भ्रो वृषभ चेकिता॒न यथा॑ देव॒ न हृ॑णी॒षे न हंसि॑।
ह॒व॒न॒श्रुन्नो॑ रुद्रे॒ह बो॑धि बृ॒हद्व॑देम वि॒दथे॑ सु॒वीरा॑ः॥ १५॥

पदपाठ

ए॒व। ब॒भ्रो॒ इति॑। वृ॒ष॒भ॒। चे॒कि॒ता॒न॒। यथा॑। दे॒व॒। न। हृ॒णी॒षे। न। हंसि॑। ह॒व॒न॒ऽश्रु॒त्। न॒ः। रु॒द्र॒। इ॒ह। बो॒धि॒। बृ॒हत्। व॒दे॒म॒। वि॒दथे॑। सु॒ऽवीरा॑ः॥ १५॥

सायण—हे बभ्रो जगतो भर्तर्बभ्रुवर्ण वा वृषभ कामानां वर्षित· चेकितान सर्वं जानन् हे देव द्योतमान रुद्र यथा येन प्रकारेण न हृणीषे न क्रुध्यसि न च हंसि॥ 'हृणीङ् लज्जायाम्'। अय क्रुध्यतिकर्मा च॥ एवं हवनश्रुत अस्मदीयमाह्वान शृण्वन् न अस्मान् हे रुद्र इह अस्मिन् देशे बोधि बुध्यस्व। विदथे यज्ञे गृहे वा सुवीरा· शोभनपुत्राः सन्त बृहत्प्रौढं त्वदीय स्तोत्रं वदेम उच्चारयाम॥

अनुवाद

इसलिए हे बभ्रुवर्ण वाले, ज्ञानवान्, शक्तिशाली देव, जिस प्रकार न तुम क्रुद्ध हो और न मारो (वैसा ही मै करूँ)। आह्वान को सुनने

वाले हे रुद्र, यहाँ हमारा आह्वान सुनो। यज्ञ सभा मे सुन्दर पुत्रों से युक्त हम लोग तुम्हारी महती प्रशसा करे।

टिप्पणी

चेकितान—'कित प्रज्ञाने' धातु से यङन्त लट् से (अभ्यास या द्वित्व से) 'शानच्' प्रत्यय के साथ 'छन्दस्युभयथा' (पा० ३,४,११७) से 'य' का लोप (आर्ध धातुक होने से) और 'अत्' का लोप होकर 'चेकितान' शब्द निष्पन्न होगा। अभ्यास (द्वित्व) के कारण आद्युदात्त होना चाहिये (अभ्यस्तानामादि — पा० सू० ६,१,१८९) किन्तु यहाँ यह सम्बोधन पद होने के कारण सर्वानुदात्त स्वर वाला है जिसका स्पष्टीकरण 'आमन्त्रितस्य च' (पा० सू० ८,१,१९) से किया जा सकता है।

हृणीषे—'हृ' (लज्जा या क्रोध करना) धा० का लट्, म० पु०, ए० व० आत्मने० रूप है। मुख्य क्रिया न होने के कारण यहाँ अन्तोदात्त है। उदात्त स्वर वाला यह रूप ऋ० मे केवल यही पर आया है।

हसि—'हन्' धा० का लट्, म० पु० ए० व० का रूप है।

बोधि—बुध्' धा० का लोट्, म० पु० ए० व० का रूप है।

सवितृ

ऋ० २.३८—ऋषि-गृत्समद ; छन्द-त्रिष्टुभ्

उदु ष्य देवः सविता सवाय शश्वत्तमं तदपा वह्निरस्थात्।
नूनं देवेभ्यो वि हि धाति रत्नमथाभजद्वीतिहोत्रं स्वस्तौ ॥ १ ॥

पदपाठ

उत्। ऊँ इति। स्यः। देवः। सविता। सवाय। शश्वत्ऽतमम्। तत्ऽअपाः। वह्निः। अस्थात्। नूनम्। देवेभ्यः। वि। हि। धाति। रत्नम्। अथ। आ। अभजत्। वीतिऽहोत्रम्। स्वस्तौ ॥ १ ॥

सायण—स्य. सः देव. द्योतमान. सविता सवाय लोकानां प्रसवाय अनुज्ञायै शश्वत्तमं प्रतिदिनम् उत् अस्थात् उत्तिष्ठति। कीदृशः सविता। तदपाः तत्प्रसवकर्मा ॥ 'अप. अप्नः' (निरु० २,१,१) इति कर्मनामसु पाठात् ॥ वह्निः वोढा जगताम्। किञ्च नूनं सम्प्रति देवेभ्यः स्तोतृभ्य· रत्न धनं वि हि धाति प्रयच्छति। हि इति पूरणे। अथ अपि च वीतिहोत्रं कान्तयज्ञं यजमानं

स्वस्तौ अविनाशे क्षेमे अभजत् भागिनं करोतु । यद्यपि स्वस्तिशब्दः विभक्त्यन्तनिर्दिष्ट शब्दपर. तथापि अपर्यवसानादर्थपरो भवति ॥

अनुवाद

वह सवितृ देवता (सबको) प्रेरणा देने के लिये शाश्वत् रूप से सबका वाहक (नेता), स्वकर्म मे युक्त होता हुआ उदित हुआ। शीघ्रता से वह देवताओ को सुन्दर उपहार प्रदान करता है और अपने कल्याणपूर्ण कार्यो मे यज्ञ करने वाले को हिस्सा देता है।

टिप्पणी

सवाय—'सव' शब्द 'षूङ् प्राणिप्रसवे' (प्रसव करना, प्रेरित करना, नेतृत्व करना) धातु से 'अच्' प्रत्यय ('छन्दसि जवसवौ वक्तव्यौ'—पा० सू० ३,३,५६,४) करके निष्पन्न होगा। 'चित्' (चितोऽन्तोदात्त —'चित.'—पा० सू० ६,१,१६३) होने से अन्तोदात्त होगा।

तदपा —'उसका अपना कर्म'— से यहाँ 'सीधा मार्ग निर्देशन करने का सवितृ का कार्य' अभिप्रेत है।

वह्नि.—यहाँ 'वाहक' का तात्पर्य 'नेतृत्व करने' से है।

वीतिऽहोत्रम्—यह अग्नि का विशेषण है, किन्तु यहाँ पर 'यज्ञ कर्ता' के लिये प्रयुक्त है। ऋ० १,८४,१८ और ८,३१,९ की तुलना इससे की जा सकती है।

विश्वस्य हि श्रुष्टये देव ऊर्ध्वः प्र बाहवा पृथुपाणिः सिसर्ति ।
आपश्चिदस्य व्रत आ निमृग्रा अयं चिद्वातो रमते परिज्मन् ॥ २ ॥

पदपाठ

विश्वस्य । हि । श्रुष्टये । देवः । ऊर्ध्वः । प्र । बाहवा । पृथुऽपाणिः । सिसर्ति । आपः । चित् । अस्य । व्रते । आ । निऽमृग्राः । अयम् । चित् । वातः । रमते । परिऽज्मन् ॥ २ ॥

सायण—देव. द्योतमानः सविता पृथुपाणिः महत्करः विश्वस्य श्रुष्टये जगत. सुखाय ऊर्ध्वः उद्गत. सन् बाहवा बाहू प्र सिसर्ति प्रसारयति । आपश्चित् आपोऽपि अस्य व्रते प्रसवाख्ये कर्मणि सति । 'व्रतं कर्वरम्' (नि० २,१,७) इति तन्नामसु पाठात् । आ स्यन्दन्त इति शेष । ताश्च निमृग्राः नितरां शोध-

थिभ्यो गङ्गादिरूपेण जगत्पावयन्तीत्यर्थः । अयं चिद्वात अयमपि वायु परिज्मन् परितो गते व्याप्तेऽन्तरिक्षे रमते ॥

अनुवाद

उर्ध्व स्थित देवता सूर्य, विस्तृत हाथ वाला वह अपने दोनो बाहुओ को समस्त सृष्टि के अनुज्ञार्थ प्रसारित करता है। जल भी इसके आदेश मे निम्नगामी है और यह वायु भी इसके परिभ्रमण मे रमण करता है (इसके आदेश का पालन करता है)।

टिप्पणी

श्रु ष्टये—'श्रुष्टि' शब्द का चतु० ए० व० का रूप है। सा० ने 'श्रुष्टि' का अर्थ 'सुख' किया है। किन्तु इसका अर्थ 'जो सुना जाय' अर्थात् 'आदेश' करना अधिक उचित होगा। सायण ने भी कहा है 'श्रुष्टि प्रेरणार्थ' (ऋ० भा० १, ४५,२)। भाव अर्थ मे 'क्तिन्' प्रत्यय के साथ 'श्रु' (सुनना) धा० से यह शब्द निष्पन्न होगा।

ऋ० १,६९ ४ मे 'नकिष्ट एता व्रतामिनन्ति नृभ्यो यदेभ्य' श्रुष्टि चकर्थ' मे 'व्रत' और 'श्रुष्टि' का अर्थ प्रस्तुत मन्त्र के साथ साम्य रखता है।

बाहवा'—'बाहव' (बाहु) शब्द का द्वितीया द्विवचन का रूप है।

निऽमृग्रा'—'नि + मृज्' (नीचे आना) धातु से 'रक्' प्रत्यय के साथ यह शब्द निष्पन्न किया जा सकता है। ऋ० मे यह शब्द केवल यही पर आया है।

परि'ऽज्मन्—यहाँ पर सप्तमी ए० व० के रूप मे है। इसे 'परि' उपसर्ग पूर्वक 'जममतिर्गतिकर्मा' या 'अजगतिक्षेपणयो' धा० से 'श्वन्नुक्षन्पूषन्० (उ० सू० १,१६०) से 'कनिन्' प्रत्यय करके निष्पन्न किया जा सकता है। 'सुपा सुलुक्०' से सप्तमी के प्रत्यय का लोप होगा। 'नित्' (ञ्नित्यादिर्नित्यम्) होने से आद्युदात्त स्वर हे।

आशुभि॑श्चि॒द्यान्वि मु॒चाति॒ नू॒नमरी॑रम॒दत॑मानं चि॒देतो॑ः ।
अ॒ह्यर्षू॑णां चि॒न्न्यया॑ँ अवि॒ष्यामनु॑ व्र॒तं स॑वि॒तुर्मोक्या॑गा॑त् ॥ ३ ॥

पदपाठ

आशुऽभि॑ः । चि॒त् । यान् । वि । मु॒चाति॑ । नू॒नम् । अरी॑रमत् । अत॑मानम् चि॒त् । एतो॑ः । अ॒ह्यर्षू॑णाम् । चि॒त् । नि । अ॒यान् । अ॒वि॒ष्याम् । अनु॑ । व्र॒तम् । स॒वि॒तुः । मोकी॑ । आ । अ॒गा॒त् ॥ ३ ॥

सायण—यान् गच्छन् सविता आशुभिश्चित् शीघ्रगामिभिरपि रश्मिभिः वि मुचाति विमुच्यते। नूनम् इति पूरणः। अतमानं चित् सततं गच्छन्तमपि जनम् एतो. गमनात् अरीरमत् उपरमयति। किंच अह्यर्षूणाम्। अहिमाहन्तारं शत्रुमर्षन्त्यभिगच्छन्तीत्यह्यर्षव। तेषामपि अविष्यां गमनेच्छां न्ययान् नियच्छति। सवितुः प्रेरकस्य सूर्यस्य व्रत कर्म अनु पश्चात् मोकी रात्रिः। 'मोकी शोकी' (नि० १,७,१८) इति रात्रिनामसु पाठात्। आगात् आगच्छति। सवितुश्चेष्टोपरतौ रात्रिरागच्छतीति यावत्॥

अनुवाद

गमन करता हुआ सवितृ शीघ्रगामी रश्मियों के द्वारा छोड़ दिया जाता है और उसने (सवितृ ने) यात्री को भी उसके गमन से रोक दिया है। उसने (शत्रु के प्रति) तीव्र गमन करने वालों की बुभुक्षा को भी रोक दिया है, क्योंकि अब रात्रि सवितृ के व्रत का अनुसरण करती आ गयी है।

टिप्पणी

आशुऽभिः —यहाँ शीघ्रगामी रश्मियाँ सवितृ को छोड रही है अर्थात् सायकाल हो रहा है।

यान्—'या' (गमन करना) धा० का शतृ प्रत्ययान्त रूप है।

(वि) मुचाति —'मुच्' (छोडना) धा० का लट् का रूप है।

अरीरमत्—'रम्' (रमण करना) धा० का लङ् का रूप है। 'रमण करवा' देने के अर्थ मे प्रयुक्त है।

अह्यर्षूणाम्—'अहि + अर्षु' से यह रूप बनेगा। 'अर्षु' शब्द 'ऋष् गतौ' धा० से निष्पन्न होगा। 'अह्यर्षु' का अर्थ 'तेजी से गमन करनेवाला वीर या बाजपक्षी' होगा। 'अहि' के कारण इसका अर्थ—'जो आहन्ता या मारने वाले की ओर तेजी से झपटता है'—होगा। ऋ० मे यह शब्द केवल यही पर आया है।

अयान्—'यम्' (गमन करना) धा० का लुङ्, प्र० पु० ए० व० का रूप है।

मोकी—मुच् (छोडना) धा० से यह शब्द निष्पन्न होगा। जो सभी प्राणियो को दिन के कार्यो से छुटकारा दिलाती है वह 'मोकी' (रात्रि) है।

अविष्याम्—यह 'अविष्यतिरत्तिकर्मा' (अविष्य् धा० लालच या भूखे

होने के अर्थ मे) धा० मे निष्पन्न होगा जिसका अर्थ 'लालच' या 'खा जाने' की इच्छा (बुभुक्षा) होगा ।

पुनः समव्यद्विततं वयन्ती मध्या कर्तोर्न्यधाच्छक्म धीरः ।
उत्संहायास्थाद्व्यृ[१]तूंरदर्धरमतिः सविता देव आगात् ॥ ४ ॥

पदपाठ

पुनरिति । सम् । अव्यत् । विऽततम् । वयन्ती । मध्या । कर्तोः । नि । अधात् । शक्म । धीरः । उत् । सम्ऽहाय । अस्थात् । वि । ऋतून् । अदर्धः । अरमतिः । सविता । देवः । आ । अगात् ॥ ४ ॥

सायण—वयन्ती वस्त्रं वयन्ती नारीव रात्रि विततम् आलोकं पुनः समव्यत् संवेष्टयते । पुन शब्द. पूर्वेद्युरप्येवमकार्षीदिति द्योतयति । धीर. प्रज्ञोऽपि सर्वो लोकः कर्तो. क्रियमाणं कर्म ॥ 'कर्तो कर्तवै' (नि० २,१,१८) इति तन्नामसु पाठात् । शक्म कर्तु शक्यमपि मध्या मध्ये उपक्रान्त कर्मापरिसमाप्येत्यर्थ. । न्यधात् निहितवान् । सवितर्युपरते इति शेष । सर्वो लोक. संहाय शय्यां विहाय उत् अस्थात् । अवशिष्ट कर्म कर्तु पुनरुत्तिष्ठति ॥ संपूर्वो जहाति शय्यापरित्यागे वर्तते । तथा च श्रूयते—'कलिः शयानो भवति सजिहानस्तु द्वापर'' (ऐ० ब्रा० ७,१५) इति । तावता सर्वस्य प्रसविता सूर्य अरमतिः अनुपरतिः देवः द्योतमान. आगात् आगच्छति । उदेतीति यावत् । ऋतून् कालविशेषांश्च वि अदर्द. विदारयति ॥

अनुवाद

(सृष्टि के ऊपर) अपने विस्तृत तार को बुनती हुई (रात्रि ने) पुनः उसे विस्तृत किया है । धीर (प्रतिभाशाली) पुरुष ने कर्म के मध्य ही सक्षम होने पर भी काम बन्द कर दिया है । कुछ क्षणो के विश्राम के पश्चात् वह उठ गया है और उसने ऋतुओ का विभाजन किया है । क्षिप्रबुद्धिवाला सवितृ देवता आ गया है ।

टिप्पणी

(सम्) अव्यत्—सम् उपसर्ग पूर्वक 'वि' या 'व्ये' धा० का अर्थ सम्यक् प्रकार से बुनना है, जिसका लङ्, प्र० पु० ए० व० का रूप 'समव्यत्' है । रात्रि यहाँ 'बुनकर नारी' के रूप मे प्रस्तुत की गई है । इसकी तुलना ऋ० १,११५,४ से कर सकते है ।

धीरं—यहाँ दक्ष पुरुष के लिए आया है जो सायकाल होने पर अपना कार्य बीच मे ही बन्द कर देता है।

सहाय—'हा' (छोडना) धा० का ल्यप् प्रत्ययान्त रूप है। यहाँ सवितृ के 'विश्राम' के लिये प्रयुक्त है।

नानौकांसि दुर्यो विश्वमायुर्वि तिष्ठते प्रभवः शोको अग्नेः।
ज्येष्ठं माता सूनवे भागमाधादन्वस्य केतमिषितं सवित्रा ॥ ५ ॥

पदपाठ

नाना। ओकांसि। दुर्यः। विश्वम्। आयुः। वि। तिष्ठते। प्रऽभवः। शोकः। अग्नेः। ज्येष्ठम्। माता। सूनवे। भागम्। आ। अधात्। अनु। अस्य। केतम्। इषितम्। सवित्रा ॥ ५ ॥

सायण—प्रभव: प्रभूत. अग्ने शोकः तेजः दुर्य गृह्यो गृहे भव नानौकासि यजमानानां पृथग्भूतान् गृहान् वि तिष्ठते अधितिष्ठति। विश्वमायु. सर्वमन्न चाधितिष्ठति ॥ 'आयुः सूनृता' (नि० २, ७, २३) इत्यन्ननामसु पाठात् ॥ माता उषा. सवित्रा अनु इषितं प्रेषितम् अस्य केतं प्रज्ञापकमग्नेः ज्येष्ठ प्रथममग्निहोत्राख्य भागं सूनवे अग्नये आधात् आदधाति ॥

अनुवाद

अग्नि का प्रभावशाली तेज और गृहपति पृथक् रूप से विभिन्न गृहो मे समस्त जीवन भर स्थित रहते है। माता ने अपने पुत्र के लिये श्रेष्ठ भाग को निहित किया है। सवितृ के द्वारा वाछित इसका चिह्न उसका अनुसरण करता है।

टिप्पणी

ओकांसि—'ओकस्' (गृह) शब्द का द्वि०, ब० व० का रूप है, जो यहाँ सप्तमी के अर्थ मे प्रयुक्त है। 'अधि' पूर्वक 'स्था' (अधि शीङ्स्थासा कर्म) के स्थान पर यहाँ 'वि' पूर्वक 'स्था' (तिष्ठते) धा० होने से कर्म है।

'ओकस्' शब्द 'उच समवाये' (एक साथ रहना, आनन्दित होना) धा० से निष्पन्न है। लियुआनियन 'उकिस्' (खेत) इसके समान है।

दुर्यः—'दुर' (द्वार) शब्द से 'भवे छन्दसि' (पा० ४, ४, ११०) से 'यत्' प्रत्यय करके 'दुर्य' (दुरे भवो दुर्य.) शब्द बनेगा। 'यतोऽनावः' (पा० ६, १, २१३) से आद्युदात्त है।

लोगो के घर मे रहने के कारण अग्नि को यह 'दुर्य' (गृहपति) कहा गया है। वह सर्वदा गृहो मे वर्तमान रहता है।

शोकः —'शुच्' (जलना, प्रदीप्त होना, जलाना, प्रकाशित करना) धा० से यह शब्द से 'असुन्' प्रत्यय के द्वारा निष्पन्न होगा जिसमे 'लघूपधगुण.' (पा० ७, ३, ८३) से गुण होकर 'शोक' बनेगा और 'नित्व' होने से (ञ्नित्यादिर्नित्यम्—पा० सू० ६, १, १९७) आद्युदात्त स्वर होगा।

माता—यहाँ 'उषस्' के लिये प्रयुक्त है जो अग्नि और सवितृ की माता कही गई है। 'सूनु' और माता क्रमश अग्नि एव रात्रि के लिये भी हो सकते है।

अधात् –'धा' (धारणपोषणयो) धा० का लङ्, प्र० पु० ए० व० का रूप है॥

समावंवर्ति विष्ठितो जिगीषुर्विश्वेषां कामश्चरंताममाभूत्।
शश्वाँ अपो विकृंतं हित्व्यागादनुं व्रतं संवितुर्दैव्यस्य॥ ६॥

पदपाठ

सम्ऽआवंवर्ति। विऽस्थितः। जिगीषुः। विश्वेषाम्। कार्मः। चरंताम्। अमा। अभूत्। शश्वान्। अपः। विऽकृतम्। हित्वी। आ। अगात्। अनु। व्रतम्। सवितुः। दैव्यस्य॥ ६॥

सायण—जिगीषु. विजयेच्छु योद्धा विष्ठित युद्धार्थ प्रस्थितः समाववर्ति समावर्तयति। विश्वेषां सर्वेषां चरतां जङ्गमानाम् अमा। 'अमा दमे' (नि ३, ४, १५) इति गृहनामसु पाठात्। गृहं प्रति कामः अभूत् भवति। शश्वान् नित्य कर्मरत. अपः कर्म विकृतम् अर्धकृतम् हित्वी हित्वा आगात् गृहमागच्छति। एतत्सर्व दैव्यस्य दिवि भवस्य सवितुः प्रेरकस्य सूर्यस्य व्रतम् अस्तमयाख्य कर्म अनु जायते इत्यर्थ.॥

अनुवाद

प्रत्येक व्यक्ति, जो विभिन्न स्थानो मे जीतने की इच्छाओ से गये थे, अब लौट आये है। सभी विचरण करने वालो की कामनाये घर की ओर आ गई है। सवितृ के आदेश के अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति (सभी लोग) अपना अधूरा काम छोड़कर घर आ गया है।

टिप्पणी

आववर्ति—'वृत्' (घूमना) धा० का लट् का प्र० पु० ए० व० का रूप है जिसमे 'आङ्' उपसर्ग होने से लौटना, मुडना आदि अर्थ है ।

जिगीषुः—इसका शाब्दिक अर्थ है 'विजयेच्छा वाला'। यहाँ 'किसी भी कार्य की पूर्ति की कामना वाला' भाव ह ।

अमा अभूत्—'अमा' का अर्थ गृह है। 'घर मे हुए' अर्थात् 'घर लौट आये ।' इसी के समान 'अमासते' (ऋ० १, १२४, १२) है ।

हित्वी—'हा' (त्यागना) धा० से वैदिक 'क्त्वा' प्रत्यय के समान 'त्वी' प्रत्ययान्त रूप है ।

अगात्—'इण्' धा० से 'इणो गा लुङि' (पा० २, ४, ४५) से 'गा' आदेश होकर 'गातिस्थाघुपाभूभ्य. सिच परस्मैपदेषु' (पा० २, ४, ७७) से 'सिच्' का लोप होकर प्र० पु० ए० व० मे यह रूप बनेगा ।

त्वया हितमप्यमप्सु भागं धन्वान्वा मृगयसो वि तस्थुः ।
वनानि विभ्यो नकिरस्य तानि व्रता देवस्य सवितुर्मिनन्ति ॥ ७ ॥

पदपाठ

त्वया । हितम् । अप्यम् । अप्ऽसु । भागम् । धन्व । अनु । आ । मृगयसः । वि । तस्थुः । वनानि । विऽभ्यः । नकिः । अस्य । तानि । व्रता । देवस्य । सवितुः । मिनन्ति ॥ ७ ॥

सायण—हे सवित त्वया अप्सु अन्तरिक्षे । 'आप· पृथिवी' (नि० १,३,८) इत्यन्तरिक्षनामसु पाठात् । जलाधारे वा हितं निहितम् अप्यम् अपा सम्बन्धित भागं धन्वानु निर्जल प्रदेशेष्वरण्येषु मृगयस· मृगयमाणा मृगा: आ समन्तात् वि तस्थु अधितिष्ठन्ति । किंच वनानि वृक्षा विभ्य पक्षिभ्य आवासादिरूपेण त्वया भागो दत्त । अस्य देवस्य सवितु तानि तादृशानि व्रता व्रतानि कर्माणि नकि मिनन्ति केऽपि न हिंसन्ति ॥

अनुवाद

तुम्हारे द्वारा विहित जल सम्बन्धी (सृष्टि का) भाग जल मे (या अन्तरिक्ष मे) चला गया है और जगली जीवो (मृगादि) अपने को मरुस्थल (या सूखे) प्रदेशो मे स्थित किया है । वृक्षो को पक्षियो के लिये (विहित किया गया है) । इस सवितृ देवता के उन आदेशो का कोई उल्लंघन नही करता ।

टिप्पणी

अप्यम्—जल सम्बन्धी भाग अर्थात् जल मे जन्म लेने वाले सभी प्राणी जल मे रहते है ।

वितस्थुः —उपर्युक्त मन्त्र के 'वि तिष्ठते' के समान ही यहाँ इसका प्रयोग है । 'स्था' धा० का लुङ्, प्र० पु०, ब० व० का रूप है ।

विभ्यः —'वी' (पक्षी) का चतु० ब० व० का रूप है ।

मिनन्ति—'मीङ् हिंसायां' (मारना, नष्ट करना) धा० का लट् का रूप है । यहाँ आदेश (व्रत) के उल्लघन करने का भाव है ।

मृगयसः —'मृगयस्' (पशु हिंसक) का प्र० ब० वचनान्त रूप है । जंगली हिंस्र पशुओ का द्योतक है ।

याद्राध्यं१ वरुणो योनिमप्यमनिशितं निमिषि जर्भुराणः ।

विश्वो मार्ताण्डो व्रजमा पशुर्गात्स्थशो जन्मानि सविता व्याकः ॥ ८ ॥

पदपाठ

यात्ऽराध्यम् । वरुणः । योनिम् । अप्यम् । अनिऽशितम् । निऽमिषि । जर्भुराणः । विश्वः । मार्ताण्डः । व्रजम् । आ । पशुः । गात् । स्थऽशः । जन्मानि । सविता । वि । आ । अकरित्यकः ॥ ८ ॥

सायण—वरुण याद्राध्य यातां गच्छतां राध्यं सराधनीयम् अप्यम् आप्तुं योग्यम् अनिशितम् अतीक्ष्णम् । सुखकरमिति यावत् । योनि स्थान निमिषि निमेषे सवितुरस्तमये सति विश्रमार्थं प्राणिभ्य. प्रयच्छति । वरुणस्य रात्रेर्निर्वाहकत्वात् । जर्भुराण भृश गच्छन् विश्वः सर्वः मार्ताण्ड मृताज्जिन्नात् अण्डादुत्पद्यमान. पक्षा आ गात् आगच्छति । विश्वः पशुः अपि व्रजं गोष्ठमागात् सविता प्रेरकः स्थशः स्थाने स्थाने जन्मानि जातानि भूतानि व्याकः पृथगकार्षीत् ॥

अनुवाद

सोते समय भी जाग्रत वरुण अपने आनन्द दायक और कोमल जल-सम्बन्धी शय्या (स्थान) पर गमन करता है । सभी पक्षीगण (अपने नीड़ो मे) और पशुगण गोष्ठो की ओर गमन करते है । सवितृ देवता ने सभी प्राणियो के (विश्राम हेतु) स्थल का निर्माण किया है ।

टिप्पणी

याद्राध्यम्—यात्—राध्यम्—('राध्'—आनन्द या सुख लेना) का अर्थ—'संभाव्य आनन्द या सुख देनेवाला' है अर्थात् 'ऐसा स्थान जिसकी ओर गमन करना ही सुखकर हो'—का अभिप्राय इस सामासिक शब्द मे निहित है। ऋ० मे यह केवल यही पर प्रयुक्त है (इसके समान ही दूसरा समास 'यात् श्रेष्ठाभि.' एक बार (ऋ० ३, ५३, २१) आया है, जो 'ऊतिभि' (रक्षण) का विशेषण है।

अनिंशितम्—'तीक्ष्णता' रहित स्थान (योनिम्) का अर्थ यहाँ 'अत्यन्त कोमल' (जल) से है, जो वरुण का स्थान है।

निमिषि जर्भुराणः —नेत्रो को बन्द किये हुए भी जो निरन्तर गतिशील है। अर्थात् वरुण प्रतिक्षण जाग्रत अवस्था मे है। मित्र-वरुण के सम्बन्ध मे कहा गया है कि वे नेत्र बन्द किये हुए भी लोगो के कार्यों को ध्यान से देखते रहते है (ऋ० ८, २५, ९)।

मार्तण्डः —'मृताद् अण्डात् जायत इति' अर्थात् अण्डे से पैदा होने वाले पक्षीगण।

न यस्येन्द्रो वरुणो न मित्रो व्रतमर्यमा न मिनन्ति रुद्रः।
नारातयस्तमिदं स्वस्ति हुवे देवं सवितारं नमोभिः ॥ ९ ॥

पदपाठ

न। यस्य। इन्द्रः। वरुणः। न। मित्रः। व्रतम्। अर्यमा। न। मिनन्ति। रुद्रः। न। अरातयः। तम्। इदम्। स्वस्ति। हुवे। देवम्। सवितारम्। नमःऽभिः ॥ ९ ॥

सायण—यस्य सवितुर्देवस्य व्रतं प्रसवाख्यं कर्म इन्द्रः न मिनाति न हिनस्ति। वरुणः च न मिनाति। मित्रः च अर्यमा च न मिनाति। रुद्र. च न मिनाति। अरातयः असुराश्च न मिनन्ति ॥ मिनातीति श्रुतमाख्यातं यथायोगं विपरिणामेन प्रत्येकमभिसंबध्यते ॥ तं सवितारं सर्वस्य प्रेरकं देवं द्योतमानम् इदम् इदानीं नमोभि. अन्नरूपैर्हविर्भि सह। 'नमः आयुः' (नि० २,७,२२) इत्यन्ननामसु पाठात्। स्वस्ति क्षेमाय हुवे स्तौमि ॥

१०

अनुवाद

जिसके आदेश का उल्लंघन न इन्द्र, न वरुण, न मित्र, न अर्यमन्, न रुद्र और न उनके (देवताओ के) शत्रु ही करते है, मै उस सवितृ देवता का अब कल्याण के लिए नमस्कारो के द्वारा आह्वान करता हूँ।

टिप्पणी

'इदम्' और 'स्वस्ति' का प्रयोग यहाँ क्रिया विशेषण के रूप मे किया गया है।

अरातयः—दान न देने वाले असुरो का वाचक है।

भगं धियं वाजयन्तः पुरंधिं नराशंसो ग्नास्पतिर्नो अव्याः।
आये वामस्य संगथे रयीणां प्रिया देवस्य सवितुः स्याम॥ १०॥

पदपाठ

भगम्। धियम्। वाजयन्तः। पुरम्ऽधिम्। नराशंसः। ग्नाःपतिः। नः। अव्याः। आऽअये। वामस्य। सम्ऽगथे। रयीणाम्। प्रियाः। देवस्य। सवितुः स्याम॥ १०॥

सायण—भग भजनीय धियं ध्यातव्यं पुरंधि धारयितारं बहुप्रज्ञं वा सवितारम्॥ 'पुरंधिर्बहुधीः' (निरु० ६,१३) इति यास्कः॥ वाजयन्त· वाजिनं बलिनं कुर्वत.॥ विभक्तिव्यत्ययः॥ नः स्तुवतोऽस्मान् नराशस: नरै शंसनीयः ग्नास्पतिः देवपत्नीनां पति: छन्दसां पतिर्वा। तथा च श्रूयते—'छन्दांसि वै ग्ना.' इति, 'उत ग्ना व्यन्तु देवपत्नी.' (ऋ० सं० ५,४६,८) इति च। सविता अव्या. अव्यात्। किंच वामस्य धनस्य रयीणां पशूनां च। तथा च श्रूयते—'पशवो वै रयि:' इति। आये आगमने संगथे संगमने च निमित्ते देवस्य द्योतमानस्य सवितु प्रेरकस्य वयं प्रिया स्याम भवेम॥

अनुवाद

भग, धी, पुरन्धि का यशगान करते समय देवपत्नियो का स्वामी नराशंस (अग्नि) हमारी रक्षा करे। धन की प्राप्ति और कोषो के संग्रह मे हम लोग सवितृ देवता के प्रिय (कृपापात्र) बने।

टिप्पणी

प्रथम पाद मे भग, धी और पुरन्धि यहाँ देवता विशेष के रूप में प्रतिष्ठित हैं। नराशंस और 'ग्नास्पति' अग्नि के लिये हो सकते हैं अथवा इन्हें दो भिन्न

देवता के रूप मे भी ग्रहण किया जा सकता है। उस स्थिति मे ये क्रमश. अग्नि और त्वष्टृ देवता के द्योतक होगे।

अव्याः —'अव रक्षणे' धा० का विधिलिङ्, प्र० पु० ए० व० का रूप है।

सगथे रयीणाम्—इसकी तुलना 'वाजस्य संगथे' (ऋ० १,९१,१६ ; ९, ३१,४) से कर सकते है। 'सगथे' की निष्पत्ति सम् + गम् + थक् + डि से होगी। 'थाथघञ्' (पा० ६,२,१४४) उत्तरपद अन्तोदात्त होगा।

अस्मभ्यं तद्दिवो अद्भ्यः पृथिव्यास्त्वया दत्तं काम्यं राध आ गात्।
शं यत्स्तोतृभ्य आपये भवात्युरुशंसाय सवितर्जरित्रे ॥ ११ ॥

पदपाठ

अस्मभ्यम् । तत् । दिवः । अत्ऽभ्यः । पृथिव्याः । त्वया । दत्तम् । काम्यम् । राधः । आ । गात् । शम् । यत् । स्तोतृऽभ्यः । आपये । भवाति । उरुऽशंसाय । सवितः । जरित्रे ॥ ११ ॥

सायण—हे सवित: अस्मभ्य त्वया दत्तं तत् प्रसिद्धं काम्य कमनीयं राध. धन दिव. द्युलोकात् अद्भ्यः अन्तरिक्षलोकात् पृथिव्याः भूमेश्च आ गात् आगच्छतु। किंच स्तोतृभ्य स्तोतॄणाम् आपये बन्धवे तद्धशजाय यत् धनं शं सुखकरं भवाति भवेत् उरुशसाय बहुस्तुतये जरित्रे स्तोत्रे मह्यम्। 'जरिता कारुः' (नि० ३,१६,२) इति स्तोतृनामसु पाठात्। हे सवित तत्प्रयच्छ ॥

अनुवाद

तुम्हारे द्वारा प्रदत्त कमनीय वह धन (उपहार) हमारे लिये स्वर्ग से, जल से (अन्तरिक्ष से), पृथिवी से आवे। यह स्तोताओं के लिये एवं सम्बन्धियो के लिये कल्याणकारी हो और हे सवितृ, यह तुम्हारे गान करने वाले विस्तृत स्तुतियो वाले के लिए भी कल्याणमय हो।

टिप्पणी

भवाति— भू धा० का लेट्, प्र० पु० ए० व० का रूप है।

मित्र

ऋ० ३.५९ ऋषि-विश्वामित्र, छन्द—त्रिष्टुभ् गायत्री

मित्रो जनान्यातयति ब्रुवाणो मित्रो दाधार पृथिवीमुत द्याम्।
मित्रः कृष्टीरनिमिषाभि चष्टे मित्राय हव्यं घृतवज्जुहोत ॥ १ ॥

मि॒त्रः । जना॑न् । या॒त॒य॒ति॒ । ब्रु॒वा॒णः । मि॒त्रः । दा॒धा॒र॒ । पृ॒थि॒वीम् । उ॒त । द्याम् । मि॒त्रः । कृ॒ष्टीः । अनि॑ऽमिषा । अ॒भि । च॒ष्टे॒ । मि॒त्राय॑ । ह॒व्यम् । घृ॒तऽव॑त् । जु॒हो॒त॒ ॥ १ ॥

सायण—ब्रुवाण. स्तूयमानः शब्दं कुर्वाणो वा मित्र । प्रकर्षेण सर्वैर्मीयते ज्ञायते तथा सर्वान् वृष्टिप्रदानेन त्रायत इति वा मित्र सूर्यः । जनान् कर्षकादिजनान् यातयति । कृष्यादिकर्मसु प्रयत्नं कारयति तथा मित्रः एव पृथिवीमुत अपि च द्याम् एतावुभौ लोकौ वृष्टिद्वारा अन्न यागांश्च जनयन् दाधार धारयति । तथा स्तुति मित्रः अनिमिषा अनिमिषेणानुग्रहदृष्ट्या कृष्टी कर्मवतो मनुष्यान् अभिचष्टे सर्वतः पश्यति । एतत् सर्व ज्ञात्वा हे ऋत्विजः घृतवत् उपस्तरणाभिधारणयुक्त हव्यं हवनयोग्यं पुरोडाशादिकं तस्मै मित्राय देवाय जुहोत जुहुत प्रयच्छतेत्यर्थ. ॥

अनुवाद

शब्द करता हुआ मित्र लोगो को कर्म के लिये प्रेरित करता है। मित्र ने पृथिवी और द्युलोक को धारण किया है। प्राणियो को मित्र निर्निमेष दृष्टि से देखता है। उस मित्र के लिये घृतयुक्त हव्य का हवन करो।

टिप्पणी

या॒त॒य॒ति॒—'यत्' (प्रयत्न करना) धा० का प्रेरणार्थक वर्तमान काल का रूप। 'अनुदात्त'……(पा० ८, १, १८) अनुसार सर्वानुदात्त है।

ब्रु॒वा॒णः —'ब्रू' (बोलना) धा० से 'शानच्' प्रत्यय करके रूप बना है। इसका अर्थ 'स्वय बोलता हुआ' या 'अपने शब्द द्वारा दूसरों को सुनने के लिये बाधित करता हुआ' अथवा 'स्तुति किया जाता हुआ' सभव है। किन्तु मित्र की सगति सूर्य के साथ होने से ऐसा प्रतीत होता है कि जब प्रातःकाल मे चारो ओर विहगो का कलरव होता है तो जैसे स्वय मित्र शब्द करता हुआ लोगो को कर्म के लिये जागृत या प्रेरित करता है। कुछ विद्वानों ने इसका अर्थ 'स्वयं को मित्र कहता हुआ' भी किया है (द्र० गेल्डनर और पिशेल—वेदिशे स्टुडीन, भा० ३, पृ० ११-२६), किन्तु यह अर्थ सगत नही प्रतीत होता। क्योकि मित्र के लिये 'ब्रुवाण.' मात्र विशेषण रूप मे है जिसकी संगति ऋ० के अन्य सन्दर्भों (ऋ० ६, ३८, २, ७, ३६, २, ९, ९७, ७; १०, ८, ७) से भी है। सोम

के सन्दर्भ मे (ऋ०९, ९७, ७) आया हुआ यह पद इस बात की और पुष्टि करता है कि इसका अर्थ केवल 'बोलता हुआ' या 'उच्चारण' करता हुआ है।

कृष्टी —ऋ० मे 'कृष्टि' शब्द का अर्थ विवादास्पद है। 'पञ्चकृष्टय', 'पञ्चजना' और 'पञ्चमानुषी.' जैसे सामासिक पद किसी विशिष्ट भाव के द्योतक हैं। इसी प्रकार 'चर्षणी' पद भी 'कृष्टि' के अर्थ का द्योतक है। निष्पत्ति की दृष्टि से इसे 'कृष्' धा० से निष्पन्न कर इसका अर्थ 'खेती करने वाले' या 'कर्षण करने वाले' किया जा सकता है। किन्तु ऋ० के समस्त सन्दर्भो पर विचार करने से ऐसा प्रतीत होता है कि 'कृष्टि' शब्द समस्त प्राणिजात का बोधक है जिसमे स्वर्ग, पृथिवी और अन्तरिक्ष के समस्त प्राणी सम्मिलित है। वैसे जब 'राजा कृष्टीनामसि मानुषीणाम्' (ऋ० १, ५९, ५) जैसे सन्दर्भो को देखते है तो 'कृष्टि' का सम्बन्ध 'मनुष्यजाति' तक ही सीमित करना पडता है।

✓अभिचष्टे —'अभि' उपसर्ग पूर्वक 'चक्ष्' (देखना, निरीक्षण करना) धा० का लट्, प्रथम पु० ए० व० का रूप है। 'चक्षिङ् व्यक्तायां वाचि' के आधार पर इसका अर्थ 'बोलता है' भी किया जा सकता है, किन्तु अन्य सन्दर्भो के आधार पर इसका अर्थ 'निरीक्षण करना' ही सगत है। 'अभि' के साथ इसका विशेष भाव यह है कि मित्र या सूर्य समस्त प्राणियो के कार्य-कलापो का प्रतिक्षण निरीक्षण करता है। इसी के समान दूसरे सन्दर्भ भी ऋ० मे देखे जा सकते है (द्र० ऋ० १, ९८, १; १०८, १, १६४, ४४)।

जुहोत—'हु' धा० (हवन करना) का लोट्, म० पु०, ब० व० का रूप है। गुण होने से सर्वानुदात्त स्वर है।

प्र स मि॑त्र॒ मर्तो॑ अस्तु॒ प्रय॑स्वा॒न्यस्त॑ आदित्य॒ शिक्ष॑ति व्र॒तेन॑।
न ह॑न्यते॒ न जी॑यते॒ त्वोतो॒ नैन॒मंहो॑ अश्नो॒त्यन्ति॑तो॒ न दू॒रात्॥ २॥

पदपाठ

प्र। सः। मि॒त्र॒। मर्तः॑। अ॒स्तु॒। प्रय॑स्वान्। यः। ते॒। आ॒दि॒त्य॒। शिक्ष॑ति। व्र॒तेन॑। न। ह॒न्य॒ते॒। न। जी॒य॒ते॒। त्वाऽऊ॑तः। न। ए॒न॒म्। अंहः॑। अ॒श्नो॒ति॒। अन्ति॑तः। न। दू॒रात्॥ २॥

सायण—हे आदित्य व्रतेन यज्ञेन युक्तः यः मनुष्यः ते तुभ्यं शिक्षति हविर्लक्षणमन्नं ददाति हे मित्र सः मर्तः मनुष्यः प्रयस्वान् अन्नवान् प्र अस्तु प्रभवतु। त्वोतः त्वया रक्षितः सः मनुष्यः केनापि न हन्यते न बाध्यते। न

जीयते नाभिभूयते च। एनं तुभ्यं हविर्दत्तवन्त पुरुषं अंहः पापम् अन्तितः समीपात् न अश्नोति न प्राप्नोति। दूरात् अपि न प्राप्नोति ॥

अनुवाद

हे आदित्य! जो मनुष्य तुम्हारे आदेशो के द्वारा तुम्हारी सेवा करता है वह मनुष्य, हे मित्र! प्रकृष्ट रूप से अन्नवान् होवे। तुम्हारे द्वारा रक्षित व्यक्ति न तो मारा जाता है और न अभिभूत होता है। इसे दुःख (या पाप) न तो समीप से, न दूर से ही व्याप्त करता है।

टिप्पणी

प्रयस्वान्—ऋ०मे 'प्रयस्' शब्द की आवृति अनेक बार हुई है और व्याख्याकारो ने इसके अनेक अर्थ किये हैं। दुर्गाचार्य, वें० मा० और सायण ने इसका अर्थ 'अन्न' किया है, जिसके आधार पर 'प्रयस्वान्' का अर्थ 'अन्नवान्' किया गया है। रोठ, विल्सन, ग्रिफि० गेल्ड० आदि ने भी इसी अर्थ का अनुसरण किया है। ग्रासमान और ओल्डे० ने इसका अर्थ 'उपहारवान्' किया है।

सा० ने 'प्रयस्' की निष्पत्ति 'प्रीङ् तर्पणे' से की है। इसके अनुसार 'प्रयस्' का मूल अर्थ 'जो प्रीतिकर या तृप्तिकर हो' किया जा सकता है जो 'अन्न', 'रस' या 'जल' कुछ भी हो सकता है। ऋ० के अनेक सन्दर्भों मे 'प्रयासि च नदीना (२,१९,२), 'प्रयासि च वीतये' (६, १६,४४), 'श्येनभृत प्रयासि' (९,८७,६) आदि सन्दर्भ इस बात की पुष्टि करते है कि 'प्रयस्' शब्द या तो 'सोम' का वाचक है अथवा 'जल' का। ऋ० मे सोमरस की अधिक चर्चा होने के कारण तथा देवताओ को उसी के द्वारा तृप्त किये जाने के कारण प्रत्येक वैदिक आर्य इससे समृद्ध होने की कामना करता रहा होगा, इसी हेतु प्रस्तुत सन्दर्भ मे भी 'प्रयस्वान्' होने की कामना की गई है।

शिक्षति—सा० ने 'शिक्षति' को 'शिक्षतिर्दानकर्मा' का रूप मानकर इसका अर्थ 'हविर्लक्षणमन्न ददाति' किया है। किन्तु 'शिक्षति' को 'दान' अर्थ मे ग्रहण करने की कोई आवश्यकता नही प्रतीत होती। 'शिक्ष्' धा० के अनेक अर्थों में इसे यहाँ 'सेवा मे युक्त होना' अर्थ मे ग्रहण किया जा सकता है। क्योकि 'व्रत' के सन्दर्भ मे यही उपयुक्त प्रतीत होता।

व्रतेन—'व्रत' शब्द के व्याख्याकारो द्वारा अनेक अर्थ दिये गये है जिनमे कुछ ये है—(१) इच्छा, आदेश, विधि, नियमित आज्ञा, (२) सेवा,

आज्ञापालन, अनुसेवन, (३) भू-सम्पदा, (४) आदेश, नियमित अनुक्रम, (५) कर्म, रुढिकर्म, (६) धार्मिक कर्तव्य, पूजा, अनुग्रह, (७) कर्म निरत होना, धार्मिक कार्य करना, नियम, प्रतिज्ञा, सामान्य प्रतिज्ञा, निश्चित उद्देश्य आदि (द्र० रोठ, से० पी० स० को०) ।

रोठ ने इसे 'वृ' (वरण करना) धा० से निष्पन्न माना है जब कि कुछ अन्य व्याख्याकारो (जैसे—मैक्डॉ०) ने इसे 'वृत्' धा० से निष्पन्न स्वीकार किया है । ऋ० में इस शब्द की आवृत्ति २२० बार हुई है, और अनेक सन्दर्भों मे अनेक अर्थ किये जा सकते है । इस शब्द पर विस्तृत विवेचन ऋ० के लिये वी० एस० आप्टे द्वारा लिखित शोध पत्र (Bulletin of Deccan College Research Institute, Poona, P. 440ff) तथा प्रो० पी० वी० काणे द्वारा विस्तृत लेख (Journal of Bombay Branch of Royal Asiatic Society, Vol. 29, P. 12 ff) द्रष्टव्य है जिनमे इसके सभी पहलुओ पर विचार किया गया है । इसका साम्य अवेस्ता के 'उर्वत', लेटिन 'Vert' और ग्रीक vouous के साथ स्थापित किया जा सकता है । इस विषय मे और अधिक विस्तृत ज्ञान के लिए डॉ० हास पीटर श्मिट द्वारा लिखी गई पुस्तक 'Vedisch-vratá und Awestischurvāt' भी द्रष्टव्य है ।

जीयते—'जि जये' धा० का लट् का रूप है । अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घ (पा० अ० ७,४, २५) के द्वारा इसमे युक्त 'यक्' प्रत्यय के पूर्व 'जि' को दीर्घ हो गया है ।

त्वोतः —'ऊत ' पद 'अव रक्षणे' धा० से 'क्त' प्रत्यय करके निष्पन्न किया गया है । समास होने से 'तृतीया कर्मणि' (पा० अ० ६, २, ४८) के आधार पर उदात्त स्वर पूर्वपद पर ही रह गया है ।

अहः —इस शब्द का अर्थ सा० ने 'पाप', 'दु ख', 'दारिद्रय' आदि किया है जिसका अनुसरण विल्सन और गेल्ड० ने भी किया है । ग्रासमान ने इसका अर्थ 'सकीर्णता', 'दु खादि' किया है ।

यास्क ने इसकी निष्पत्ति अ + हन् धा० (हन्तेर्निरूढोपधात् विपरीतात्) से की है (नि० ४, २५) । इण्डो-यूरो० 'अहुस्' या 'अंघ', लेटिन 'अगुस्टस्', गॉथिक 'अग्वुस' और अवेस्तन 'अड्हु' शब्द वैदिक 'अंहः' के समान है जो 'संकीर्णता' अर्थ के द्योतक है । सकीर्णता का अर्थ विस्तार 'पाप', 'दुःख', 'दारिद्रय' आदि रूपो मे हो सकता है ।

अश्नोति—'अशू व्याप्तौ' या 'अंश प्रापणे' का लट् का रूप है। 'तिङ्-तिङ' (पा० ८, १, २८) के आधार पर सर्वानुदात्त स्वर है।

अनमीवास इळया मदन्तो मितज्ञवो वरिमन्ना पृथिव्याः।
आदित्यस्य व्रतमुपक्षियन्तो वयं मित्रस्य सुमतौ स्याम ॥ ३ ॥

पदपाठ

अनमीवासः। इळया। मदन्तः। मितऽज्ञवः। वरिमन्। आ। पृथिव्याः। आदित्यस्य। व्रतम्। उपऽक्षियन्तः। वयम्। मित्रस्य। सुऽमतौ। स्याम ॥ ३ ॥

सायण—हे मित्र अनमीवासः रोगवर्जिताः इळया अन्नेन मदन्त. माद्यन्त. पृथिव्याः वरिमन् विस्तीर्णे प्रदेशे मितज्ञव. मितजानुका आ यथाकामं सर्वत्र गच्छन्तः आदित्यस्य सम्बन्धि व्रत कर्म उपक्षियन्त तस्य कर्मण समीपे निवसन्त.। तदीय कर्म कुर्वाणा इत्यर्थ। तादृशा. वय मित्रस्य आदित्यस्य सुमतौ शोभनायामनुग्रहबुद्ध्यां स्याम वर्तेमहि ॥

अनुवाद

हे मित्र ! रोग रहित होकर, अन्न से हर्षित होते हुए, दृढ जानुवाले, पृथिवी के विस्तृत प्रदेश मे आदित्य के आदेश का पालन करते हुए हम लोग मित्र की अनुग्रहबुद्धि मे होवे अर्थात् उसकी कृपा प्राप्त करे।

टिप्पणी

अनमीवास—'अमीवा' शब्द रोग का पर्याय है, जिससे नकारात्मक 'अनमीवा' शब्द बना है। 'अमीवा की निष्पत्ति 'अम रोगे' धा० से 'शेवयह्वजिह्वाग्रीवाप्वामीवा:' (उ० सू० १,१५२) से 'वन्' प्रत्यय तथा 'ईडागम' करके होगी। 'नित्त्व' होने से ('ञ्नित्यादिर्नित्यम्' पा० ६,१,१९७) से आद्युदात्त होगा, किन्तु यहाँ पर समास होने से समासस्य' (पा० ६,१,२२३) के आधार पर उत्तर पद उदात्तस्वर वाला है।

इळया—'इला' शब्द का तृ० ए० व० का रूप। सायण ने इसके 'अन्न', 'भूमि', 'वाक्' आदि अर्थ किये हैं। ब्राह्मण ग्रंथो में इसे पृथिवी का पर्याय माना गया है ('इयं पृथिवी वा इडा'—कौ० ब्रा० ९,२)। 'इळा' को 'इडा' या

'इरा' भी कहा गया है। इसकी निष्पत्ति 'ईड स्तुतौ' धा० से 'क्विप्' प्रत्यय करके होगी साथ ही 'टापं चापि हलन्ताना यथा वाचा दिशा निशा (कौ० २, ४,८२) से 'टाप्' प्रत्यय होकर 'ईला' बनेगा। 'ईड्' मे ह्रस्वत्व छान्दस होने से है। 'धातो ' (पा० ६,१,१६२) से उदात्त स्वर धातु पर है।

मदन्तः —'मदी हर्षे' धा० से शतृ प्रत्ययान्त रूप। व्यत्यय से 'शप्' होने के कारण उदात्त स्वर प्रत्यय पर न होकर आदि अक्षर पर ही है (अनुदात्तौ सुप्पितौ—पा० ३,१,२)।

मितज्ञवः —सा० ने इसका अर्थ 'मित जानु वाले' किया है; किन्तु इस अर्थ की संगति नही बैठती। अत· 'मितज्ञव:' का अर्थ 'दृढ जानु वाले' करना ही सगत होगा जैसा कि मैक्डॉ० (वै० री०, पृ० ८१) और गेल्ड० (डेर ऋ०, प्र० भा०, पृ० ४०७) ने किया है। अन्यथा इसका अर्थ 'भक्ति से झुके हुए' भी सम्भव है अर्थात् 'पृथिवी पर पैरो को मोडकर प्रणाम की मुद्रा मे बैठे हुए' हो सकता है जैसा कि ने अन्यत्र 'प्रह्वैर्जानुभि:' अर्थ किया है (द्र०—सा० भा० ७,९५,४)। इस प्रकार अर्थ करने से सम्पूर्ण मन्त्र का अर्थ परिवर्तित हो जायगा और उस स्थिति में हमे मन्त्र का अर्थ—'हे मित्र! रोग या शत्रु रहित होकर हवि से हर्षित होते हुए, पृथिवी के विस्तृत स्थान पर झुक कर आदित्य के व्रत मे निवास करते हुए अर्थात् व्रत का पालन करते हुए हम तुम्हारी अनुकम्पा को प्राप्त करें'—होगा।

वरिमन्—यह 'वरिमन्' (नपु०) शब्द का सप्तमी ए० व० का रूप है। यदि उदात्त स्वर 'म' पर होगा तो यह शब्द पु० हो जायगा। यह 'उरु' शब्द से 'इमनिच्' प्रत्यय करके निष्पन्न किया गया है।

आदित्यस्य—यहाँ 'आदित्य' का तात्पर्य 'मित्र' से है।

उपक्षियन्तः —'उप' उपसर्ग पूर्वक 'क्षि निवासे' धा० से शतृ प्रत्यय करके रूप बनेगा। कृदन्त होने से उत्तर पद पर प्रकृति स्वर (उदात्त) होगा।

अयं मित्रो नमस्यः सुशेवो राजा सुक्षत्रो अजनिष्ट वेधाः।
तस्य वयं सुमतौ यज्ञियस्यापि भद्रे सौमनसे स्याम ॥ ४ ॥

पदपाठ

अयम्। मित्रः। नमस्यः। सुऽशेवः। राजा। सुऽक्षत्रः। अजनिष्ट। वेधाः। तस्य। वयम्। सुऽमतौ। यज्ञियस्य। अपि। भद्रे। सौमनसे। स्याम॥ ४॥

सायण—अयं पूर्वमन्त्रे प्रतिपादितः मित्र· सूर्यः नमस्यः सर्वैर्नमस्करणीयः सुशेव· शोभनसुखः। सुखेन सेव्य इत्यर्थः। राजा सर्वस्य जगतः प्रकाशप्रदानेन स्वामी सुक्षत्रः। क्षत्रशब्देन बलमुच्यते। शोभनबलोपेतः वेधा· सर्वस्य जगतो विधाता। एवंगुणोपेत सूर्यः अजनिष्ट प्रादुरभूत्। तस्य एवंविधगुणोपेतस्य यज्ञियस्य यज्ञार्हस्य सूर्यस्य सुमतौ शोभनायां बुद्धौ भद्रे कल्याणकारिणि सौमनसे सौमनस्ये अपि यजमानाः वयं स्याम भवेम॥

अनुवाद

यह मित्र नमस्कार करने योग्य, सुखमय, सुन्दर शक्ति से युक्त राजा और सबके विधाता रूप में उत्पन्न हुआ है। हम उस पूजनीय की सुबुद्धि और शुभ सौमनस्य मे निवास करे (उसको प्राप्त करे)।

टिप्पणी

✓नमस्यः —'नमस्' + 'यत्' से यह शब्द बना है। अनुदात्त के पश्चात् नियमत· उदात्त स्वर होना चाहिये अथवा 'स्वरित' के पूर्व उदात्त स्वर होना चाहिये, किन्तु यहाँ स्वतन्त्र स्वरित स्वर 'यत्' प्रत्यय पर है उसका कारण यह है कि प्रत्यय 'तकारान्त' है और वे सभी प्रत्यय जिनमे 'त्' 'इत्' संज्ञक होता है 'तित्स्वरितम्' (पा० ६,१,१८५) के आधार पर स्वरित होते हैं। यह पा० ३,१,३ (आद्युदात्तश्च) का बाधक है। साथ ही 'यतोऽनाव ' (पा० ६,१,२१३) की भी प्राप्ति यहाँ नही है।

सुऽशेव· —निघ० में 'शेवम्' को 'सुख' का पर्याय माना गया है (नि० ३, ६), जिसके आधार पर सा० ने 'शेव ' का अर्थ सर्वत्र 'सुखकर ' किया है। रोठ ने इसका अर्थ 'अतिदयालु' (Sehr hold), 'प्रिय' (Zugethen), 'अतिप्रिय' (Sehr Lieb) और 'मित्र' (Freund) किया है (से० पी० को० भा० ७, पृ० ११३७)। ग्रासमान, मैक्सम्यू०, ओल्डेन०, गेल्ड०, मैक्डॉ० आदि सभी व्याख्याकारो ने रोठ द्वारा दिये गये अर्थो मे से ही किसी न किसी का अनुसरण किया है। 'शेव' को 'शिव' के समीप मानकर इसका अर्थ 'मंगलकारी' किया जा सकता है। अथवा 'अतिप्रिय मित्र' (Vertraut) हो सकता है जैसा कि वाकरनागेल ने किया है (Altindische Grammatik, Band II, P 75)। पोकोर्नी ने इसका जरमनिक 'हिव' (hiwa) और यू० 'हेइव' (heiwa) के साथ साम्य स्थापित किया है, जो इसी अर्थ के द्योतक है (Walde-Pokorny, Ind-Ger. Efy Worterbuch, I, 359)।

अजनिष्ट—'जनी प्रादुर्भावे' धा० का लुङ् का रूप है। आत्म० अर्थ मे यहाँ मित्र स्वय अपने आपको उत्पन्न करने वाला है। स्वर की दृष्टि से सर्वानुदात्त है जिसे 'अनुदात्तं' सर्वं० (पा० ८,१,१८) से स्पष्ट किया जा सकता है।

वे॒धाः —'वेधा.' यहाँ पर मित्र के नैतिक स्वभाव 'जो सुक्षत्र राजा' से भी स्पष्ट है, का बोधक है।

सौमनसे—'सुमनस्' शब्द से 'तस्येदम्' (पा० ४,३,१२०) से 'अण्' करके यह निष्पन्न होगा। इसमें प्रत्यय पर उदात्त स्वर 'आद्युदात्तः' (पा० ३,१,३) से स्पष्ट किया जा सकता है।

म॒हाँ आ॑दि॒त्यो नम॑सोप॒सद्यो॑ यात॒यज्ज॑नो गृ॒ण॒ते सु॒शेवः॑।
तस्मा॑ ए॒तत्पन्य॑तमाय॒ जुष्ट॑म॒ग्नौ मि॒त्राय॑ ह॒विरा जु॑होत ॥ ५ ॥

पदपाठ

म॒हान्। आ॒दि॒त्यः। नम॑सा। उ॒प॒ऽसद्यः॑। या॒त॒यत्ऽज॑नः। गृ॒ण॒ते। सु॒ऽशेवः॑। तस्मै॑। ए॒तत्। पन्य॑ऽतमाय। जुष्ट॑म्। अ॒ग्नौ। मि॒त्राय॑। ह॒विः। आ। जु॒हो॒त॒ ॥ ५ ॥

सायण—योऽयम् आदित्य. महान् अत एव नमसा नमस्कारेण उपसद्य· सर्वैरुपसदनीयः यातयज्जनः। प्रातःप्रातः स्वस्वकर्मणि प्रवर्तनीया जना येनेति स तथोक्तः। गृणते स्तोत्रं कुर्वते जनाय सुशेव. च भवति तस्मै पन्यतमाय स्तुत्यतमाय मित्राय आदित्याय जुष्टं प्रीतिविषयम् एतत् हविः अग्नौ आ जुहोत जुहुत ॥

अनुवाद

(वह) महान् आदित्य नमस्कार के द्वारा पहुँचने योग्य मनुष्यो को प्रेरित करने वाला और स्तुतिकर्ता के लिये कल्याणकारी है। उस स्तुत्यतम मित्र के लिये अग्नि मे इस प्रीतिकर हवि का हवन करो।

टिप्पणी

यातयज्जनः —'यत्' (प्रयत्न करना) धा० से 'णिच्' प्रत्यय करके 'शतृ' प्रत्यय द्वारा 'यातयत्' रूप निष्पन्न होगा। इसके साथ 'जन' पद समास रूप मे है। बहुव्रीहि समास होने से 'बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्' (पा० ६,२,१)

के द्वारा पूर्व पद पर प्रकृति स्वर (आद्युदात्त) प्राप्त है किन्तु 'मरुद्वृधादि' नियम से पूर्वपद पर अन्तोदात्त स्वर है।

गृणते—'गृ शब्दे' धा० से शतृ प्रत्ययान्त चतु० ए० व० का रूप है। 'शतुरनुमो नद्यजादा' (पा० ६, १, १७३) के आधार पर विभक्ति प्रत्यय पर उदात्त स्वर है।

पन्यतमाय—'पन्' (स्तुति करना) धा० से 'यत्' प्रत्ययान्त 'पन्य' शब्द और तत्पश्चात् 'तमप्' प्रत्ययान्त 'पन्यतम' शब्द निष्पन्न होकर चतुर्थी मे 'पन्यतमाय' रूप हुआ। 'यतोऽनाव' (पा० ६, १, २१३) के आधार पर आद्युदात्त है।

जुष्टम्—'जुष्' (सेवन करना, प्रसन्न करना) धा० से 'शतृ' प्रत्ययान्त 'जुष्ट' शब्द निष्पन्न होगा। 'नित्य मन्त्रे' (पा० ६, १, २१०) के आधार पर आद्युदात्त स्वर है। इसी सूत्र के पूर्व 'जुष्टार्पिते च छन्दसि (६, १, २०९) मे 'जुष्ट' शब्द पठित है।

मित्रस्य चर्षणीधृतोऽवो देवस्य सानसि। द्युम्नं चित्रश्रवस्तमम् ॥ ६ ॥

पदपाठ

मित्रस्य। चर्षणिऽधृतः। अवः। देवस्य। सानसि। द्युम्नम्। चित्रश्रवःऽतमम् ॥ ६ ॥

सायण—चर्षणीधृतः मनुष्याणां वृष्टिप्रदानेन धारकस्य मित्रस्य देवस्य सम्बन्धि अवः अन्नं सानसि सर्वैः संभजनीयं द्युम्नं तदीयं धनं च चित्रश्रवस्तमम् अतिशयेन चायनीयकीर्तियुक्तम् ॥

अनुवाद

मनुष्यो को धारण करने वाले (पोषण करने वाले) मित्र देवता की रक्षा सर्वोच्च है और उसका प्रकाश (या धन) अत्यन्त सुन्दर कीर्तियुक्त है।

टिप्पणी

चर्षणिऽधृतः—निघण्टु (२, ३, ८) मे 'चर्षणि' को मनुष्य का पर्याय माना गया है उसी के आधार पर सायणादि व्याख्याकारो ने इसका अर्थ मनुष्य किया है। सा० ने इसकी निष्पत्ति 'कृष्' धा० (कर्षण करना) से 'कृषेरादेश्च चः'

(उ० सू० २, २६१) से 'अनि' प्रत्यय और उसके संनियोग मे 'क' को 'च' करके की है (द्र० सा० भा० १, १७, २)। इस प्रकार इसका मूल अर्थ 'हल चलाने वाला' होगा। इसके द्वारा उस काल की सामाजिक व्यवस्था पर प्रकाश पडता है जिसमे 'कृषक वर्ग' को प्रधानता दी गई है। 'समासस्य' (पा० ६, १, २२३) के आधार पर अन्तोदात्त है।

अवः—सा० ने इसका अर्थ 'धन' किया है, किन्तु 'अव रक्षणे' से इसे निष्पन्न कर इसकी व्याख्या 'रक्षा' करना ही सगत होगा।

सानसि—सा० ने इसे 'वन षण संभक्तौ' से 'सानसि वर्णसि०' (उ० सू० ४, १०७) के आधार पर 'असिच्' प्रत्यय से निष्पन्न किया है। इस शब्द के केवल चार रूप—सानसि, सानसि , सानसिम् और सानसी'—ऋ० मे मिलते है। कुछ अन्य सन्दर्भो के आधार पर (ऋ० ९, १०६, २, ८, २१, २) सा० की व्याख्या सगत हो सकती है, किन्तु फिर भी इसका अर्थ सदिग्ध है। निघ० (३, २७) में इसे 'पुराणनाम' कहा गया है जिसके आधार पर उव्वट ने इसका अर्थ 'पुरातन' किया है (शु० यजु० भा० ११, ६२) तथा भट्ट भास्कर मिश्र ने (तै० स० भा० ३, ४, ११, ५) इसकी व्याख्या 'सर्वेषा देय' की है। महीधर ने (शु० य० ११, ६२) इसे 'षणु दाने' से निष्पन्न मानकर इसकी व्याख्या 'फलदानशील वा' की है।

अभि यो महिना दिवं मित्रो बभूव सप्रथाः।
अभि श्रवोभिः पृथिवीम् ॥ ७ ॥

पदपाठ

अभि। यः। महिना। दिवम्। मित्रः। बभूव। सऽप्रथाः। अभि। श्रवःऽभिः। पृथिवीम् ॥ ७ ॥

सायण—यः मित्रः महिना स्वकीयेन महिम्ना दिवम् अन्तरिक्षम् अभि बभूव अभिभवति स मित्रः सप्रथाः। प्रथ प्रसिद्धि कीर्ति। तत्सहित. श्रवोभिः वृष्टिद्वारोत्पादितैरन्नैः पृथिवीम् अपि अभिभवति। बहुन्नयुक्तां करोतीत्यर्थः ॥ सप्रथाः। 'प्रथ प्रख्याने'। असुन्। 'वोपसर्जनस्य' इति सहस्य सभावः ॥

अनुवाद

जिस विस्तृत कीर्ति वाले मित्र ने अपनी महानता के द्वारा द्युलोक को अभिभूत किया है तथा अपने यश (या अन्न) के द्वारा पृथिवी को अभिभूत किया है।

टिप्पणी

श्रवो॑भिः —'श्रव' शब्द अनेक अर्थो मे प्रयुक्त है। यास्क ने इसे 'श्रू' धा० से निष्पन्न कर इसका अर्थ 'अन्न' या 'यश' ('श्रवो अन्न श्रूयते इति सत.'—निरु० १०,३) किया है, जिसका अनुसरण सभी व्याख्याकारो ने किया है। रोठ का मत है कि सोम के अभिषव काल में शब्द सुनाई पडता है इसलिए उसे 'श्रव' कहा जाता है। साथ ही वह पोषक पदार्थ है, अत अन्नवाची भी है (सें० पी० को०)।

मि॒त्राय॒ पञ्च॑ येमिरे॒ जना॑ अ॒भिष्टि॑शवसे। स दे॒वान्विश्वा॑न्बिभर्ति॒ ॥८॥

पदपाठ

मि॒त्राय॑। पञ्च॑। ये॒मि॒रे॒। जना॑ः। अ॒भिष्टि॑ऽशवसे। सः। दे॒वान्। विश्वा॑न्। बि॒भ॒र्ति॒ ॥ ८ ॥

सायण—पञ्च जना निषादपञ्चमाश्चत्वारो वर्णा. अभिष्टिशवसे शत्रूणामभिगन्तृबलयुक्ताय मित्राय येमिरे हवींष्युद्यच्छन्ति। सः तादृशो मित्र. विश्वान् सर्वान् देवान् बिभर्ति। स्वस्वरूपतया धारयति ॥

अनुवाद

पञ्चलोगो ने अनतिक्रमणीय (दूसरो को अभिभूत करने वाला) बल वाले मित्र के लिये हवि आदि प्रदान किया है (या स्वयं को उसके लिये उद्यत किया है)। वह मित्र समस्त देवताओ का पोषण करता है।

टिप्पणी

पञ्चंजना —ऋ० मे 'पञ्चजना:', 'पञ्चकृष्टय.', 'पञ्चमानुषा.' आदि कथन बहुलता से प्रयुक्त हुए है। इनका संकेत किस ओर है, इसमे सन्देह है। ऐ० ब्रा० के अनुसार—'देवमनुष्याणां गन्धर्वाप्सरसा सर्वाणा च पितृणा चैतेषा वा एतत्

पञ्चजनानामुक्थ्यम्' (३,३१;४,२७)—ये सभी पाँच लोग हैं। औपमन्यव के अनुसार ब्राह्मणादि चार वर्ण और निषाद मिलकर "पञ्चजना.' कहे जाते है (निरु० ३,८), किन्तु यास्क के अनुसार गन्धर्व, पितृ, देवता, असुर और राक्षस 'पञ्च' हैं (निरु० ३,८)। कुछ व्याख्याकारो के अनुसार यास्क का कथन ऋग्वैदिक सन्दर्भो मे सगत नही है, क्योकि 'पञ्चजना.' पृथिवी पर निवास करने वाले लोगो की ओर सकेत करता है जो हमे 'पञ्चकृष्टय.' या 'पञ्चचर्षणी' जैसे सन्दर्भों में स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। रोठ (से० पी० को०) और गेल्ड० (ग्लोसार, पृ० १०३) के अनुसार पृथिवी की चारो दिशाओ में फैले हुए लोग तथा उनके मध्य मे रहने वाले आर्य ही 'पञ्चजना' है। किन्तु त्सिमर ने इस कथन का विरोध किया है और कहा है कि सभी लोगो मे दस्यु भी आ जायेंगे जो आर्य नही है, यहाँ केवल आर्य ही अपेक्षित है और उनमे विशेषकर अनुस्, द्रुह्यु, यदु, तुर्वश् और पुरु की प्रजायें ही 'पञ्चजना' है (द्र० आल्ट इण्डिशेस् लेबेन, पृ० ११९–१२३)। इस सन्दर्भ मे मनु का निम्नलिखित कथन उद्धृत करना अनुचित न होगा—

ऋषिभ्य. पितरो जाता· पितृभ्यो देवमानवा·।
देवेभ्यस्तु जगत्सर्वं चरं स्थाण्वनुपूर्वश ।। मनुस्मृति ३,२०१

इस प्रकार 'पञ्चजना.' वैदिककाल के ऋषियो का वह विचार-संकेत है जिसके अन्तर्गत उन्होने समस्त विश्व को समाहित करने का प्रयास किया है। मंत्र में स्पष्ट है कि मित्र देवताओ का भी भरण करता है, इसलिये 'पञ्चजना' के अन्तर्गत उनको समाहित करना संगत होगा। अतः ऋषि, पितर, देवता, मनुष्य और अन्य शेष सृष्टि ही 'पञ्चजनाः' है।

✓ येमिरे—'यम उपरमे' धा० (प्रदान करना, नियमन करना आदि) का लिट् लकार का प्र० पु० ब० व० का रूप है। यहाँ 'तिङ्ङतिङः' (पा० ८, १,२८) से सर्वानुदात्त है।

अभिष्टिशवसे—यह सामासिक पद ऋ० मे केवल यही पर आया है। स्वतंत्र रूप से 'अभिष्टि' और 'शवस्' शब्द ऋ० मे अनेक बार आवृत हुए है। 'अभिष्टि' के अर्थ पर व्याख्याकारो में मतभेद है। सा० ने इसे 'अभि' उपसर्ग पूर्वक 'इष गतौ' धा० से निष्पन्न करने का प्रयास किया है (अभिष्टि अभिगन्ता, 'इष गतौ। 'मन्त्रे वृषे०' (पा० ३,३,९६) 'इत्यादिना क्तिन् उदात्तः'—सा० भा० १,९,१)। किन्तु केवल 'अभिगन्ता' कह देने मात्र से समस्या का समाधान नही होता; क्योकि अनेक मन्त्रो मे यह विभिन्न सामासिक शब्दों के साथ आया

है जहाँ अर्थ निर्धारण करना कठिन हो जाता है। लुडविग् (Der RV. ubersetjung II, 450), और ग्रासमान (uber II, 214) ने इसका अर्थ 'सहायता' किया है जिसे गेल्ड० ने भी अधिकाश रूप मे स्वीकार किया है, किन्तु प्रस्तुत सन्दर्भ मे गेल्ड० ने इसका अर्थ 'जिसकी शक्ति अभिभूत करने वाली है' (dessen acht müberlegen ist) किया है (द्र० Der RV. I, 407) जो उचित प्रतीत होता है।

ऋ० मे स्वर भेद से 'अभिष्टि' के दो रूप है। प्रथम अ॒भिष्टि॑ मध्योदात्त है तथा द्वितीय अन्तोदात्त (अ॒भि॒ष्टि॑)। 'अभिष्टि' का विश्लेषण 'अभि + स्ति' में कर सकते है जिसमे 'स्ति' पद 'स्' धातु से (अस् धा० का ही रूप) निष्पन्न (अस् + ति) रूप है जो ऋ० मे प्राय आया है (ऋ० ७,१९,११, १०,१४८,४) और जो 'अनुसरणकर्ता' अर्थ मे है। इस विश्लेषण की तुलना अवेस्ता के 'अइविस्तिश्' (अध्ययन) से कर सकते है जो ध्वन्यात्मकरूप से 'अभिष्टि' के साथ ही तादात्म्य रखता है। ग्रीक 'अपेस्तोस्' (apesto's), जो वैदिक 'अपस्ति' (अनुपस्थिति) के समान है, को भी इस साम्य के अन्तर्गत रखा जा सकता है। ऋग्वेद मे 'उपस्ति' वर्तमान है (द्र० मेयरहोफर . Ety. Sansk. Dict P I, 42 तथा वाकरनागेल-डेब्रूनर Alt. Gramm II 467 a, P 629)। अतः समस्त सन्दर्भों में जहाँ पर 'अभिष्टि' आया है इसका मूल अर्थ 'अभि + अस्' धा० के साथ ही ग्रहण करना चाहिये। 'अभि' का अर्थ 'उच्चतर शक्ति' और 'अभि + अस्' धा० का अर्थ 'विजय करना, अभिभूत करना' आदि है जैसा कि ग्रासमान (Rv. Wort. 146) ने निश्चित किया है।

'स्ति' का निर्धारण 'क्तिन्' प्रत्यय (स्त्रिया क्तिन्—पा० ३,३,९४) से जहाँ धातु पर स्वर होता है अथा 'क्तिच्' (क्तिच्क्तौ च संज्ञायाम्'—पा० ३,३,१७४) प्रत्यय से हो सकता है जहाँ स्वर सज्ञा पर होता है। इनमे ऋ० मे द्वितीय रूप अधिक प्रयुक्त है। इसी के लिए पा० ने विशेष सूत्र 'मन्त्रे वृषेषपचमनविदभूवीरा उदात्त' (३,३,९६) की रचना की है जो वेद में भी लागू होता है। बहुव्रीहि होने से पूर्व पद पर उदात्त स्वर है।

मि॒त्रो दे॒वेष्वा॒युषु॒ जना॑य वृ॒क्तब॑र्हिषे। इष॑ इ॒ष्टव्र॑ता अकः ॥ ९ ॥

पदपाठ

मि॒त्रः। दे॒वेषु॑। आ॒युषु॑। जना॑य। वृ॒क्तऽब॑र्हिषे। इषः॑। इ॒ष्टऽव्र॑ताः। अ॒क॒रित्य॑कः ॥ ९ ॥

सायण—मित्रः भगवानादित्य देवेषु द्योतमानादिगुणयुक्तेषु आयुषु मनुष्येषु मध्ये यो जनो वृक्तबर्हिः। वृक्तं लूनं बर्हिर्येन सः। बर्हिर्लवनासादनपूर्वं हविषो दाता ऋत्विगित्यर्थः। तस्मै वृक्तबर्हिषे जनाय इष्टव्रताः। इष्टानि कल्याणानि व्रतानि कर्माणि याभिः सिध्यन्ति ता. इषः तादृशान्यन्नानि अकः करोति। तस्मै ददातीत्यर्थः॥

अनुवाद

मित्र देवताओ और मनुष्यों के मध्य जो बर्हियों को बिखेरने वाला है उसे इच्छित अन्न प्रदान करता है।

टिप्पणी

वृक्तबर्हिषे—'वृक्त' पद की निष्पत्ति 'ओव्रश्च् छेदने' धा० से 'क्त' प्रत्यय करके होगी। बहुव्रीहि होने के कारण यहाँ पर पूर्व पद पर उदात्त स्वर है (बहुव्रीहौ०—पा० ६,२,१)।

इष्टव्रताः—यह पद यहाँ पर 'इषः' (अन्न) का विशेषण है। यह समास ऋ० में केवल यहाँ पर आया है। यहाँ पर इस समास का अर्थ 'मित्र के आदेश के लिए प्रेरित किये जाने वाले (अन्न) अथवा जो मित्र के कर्म से युक्त हो' सम्भव प्रतीत होता है। इसकी तुलना ऋ० ९,६९,१ (अस्य व्रतेष्वपि सोम इष्यते) से कर सकते है जहाँ 'व्रतो' (कर्मो, आदेशो आदि) मे सोम को प्रेरित किया जाता है।

अकः—'कृ' (करना) धा० का लुङ् लकार प्र० पु० ए० व० का रूप है। सर्वानुदात्त स्वर 'तिङ्ङतिङ.' से सिद्ध है। विसर्ग का मूल रूप मे रेफ होने से पदपाठ में इतिकरण किया गया है।

उषस्

ऋ० ४,५१—ऋषि-वामदेव; छन्द-त्रिष्टुभ्

इदमु त्यत्पुरुतमं पुरस्ताज्ज्योतिस्तमसो वयुनावदस्थात्।
नूनं दिवो दुहितरो विभातीर्गातुं कृणवन्नुषसो जनाय॥ १॥

पदपाठ

इदम्। ऊँ इति। त्यत्। पुरुऽतमम्। पुरस्तात्। ज्योतिः। तमसः। वयुनऽवत्। अस्थात्। नूनम्। दिवः। दुहितरः। विऽभातीः। गातुम्। कृणवन्। उषसः। जनाय॥ १॥

सायण—इदमु पुरतो दृश्यमानमिदं त्यत् तदस्माभिः स्तुत्यं सर्वप्रसिद्धं पुरुतमम् अत्यन्तप्रभूतं ज्योतिः तेजः वयुनावत् ॥ वेते. कान्तिकर्मण इदम् ॥ प्रकृष्टकान्तिमत् । अथवा वयुनमिति प्रज्ञानाम । प्रज्ञोपेतम् । सर्वस्य प्रज्ञापकमित्यर्थः । कीदृक् तेजः । पुरस्तात् पूर्वस्यां दिशि तमसः अन्धकारात् अस्थात् उदतिष्ठत् । एवं सति नून सत्यं दिवः आदित्यस्य दुहितरः दुहितृस्थानीयाः विभाती. विभानं कुर्वतीः उषसो जनाय यजमानानां गातुं गमनं गमनादिव्यापारसामर्थ्यं कृणवन् अकुर्वन् ।

अनुवाद

यह प्रसिद्ध और वरणीयतम ज्योति पूर्व दिशा मे अन्धकार से आवरण के समान उत्थान करती है (उदित हुई) । सम्प्रति द्युलोक की कन्या प्रकाश-रूपा उषाये प्रकाशित होती हुई लोगो के लिए मार्ग का निर्माण करें ।

टिप्पणी

पुरुऽतमम्—'पुरुतम' शब्द के अर्थ पर व्याख्याकारो मे मतभेद है । सायण ने इसकी व्याख्या, "पुरून् बहून् शत्रून् तमयति ग्लपयति इति तुरुतमः", की है और इसे 'पुरु + तमु ग्लाने' से निष्पन्न किया है (द्र० सा० भा० १,५,२) जिससे स्पष्ट है कि यह शब्द 'पुरु' का आत्यन्तिक विशेषण रूप नही है जैसा कि कुछ स्थानो पर वें० मा० (ऋ० ४,४४,१,५१,१,५,५६,५ इत्यादि) स्कन्द (ऋ० ६,३२,१), उद्गीथ (ऋ०१०,२३,६;७४,६), सा० (ऋ० १,१२४,६,३,६२, २; ४,४४,१, ५१,१, ५,५६,५ , ६,६,२; ३२,१, ७,७३,१; ८,६६,११; १०२, ७,१०,२३,६;७४,६), ग्रासमान (Worterbuch., 829), बोहट० और रोठ (Sans.Worterbuch), ह्विट्नी Sans Gram 12424), मैक्डॉ० (Ved. Gram. P. 88,138), वाकरनागेल (Alt. Gram. Band II. 24564), थीमें (Unter-Suchungen etc-. Halle (1949, P.17) आदि विद्वानो ने माना है, अपितु यह सामासिक शब्द है । सा० के पूर्ववर्ती व्याख्याकारो में स्कन्दस्वामिन् ने इसका अर्थ—'बहुभिर्योऽभिकांक्ष्यते, प्रार्थ्यते, याच्यते स पुरुतमः' किया है और इसे 'पुरु' (पुरुशब्दो बहुनाम—नि० ३,१) तथा 'तमु अभिकाक्षाया' से निष्पन्न माना है (ऋ० १,५,२) । स्कन्द की व्याख्या ऋग्वैदिक सन्दर्भो मे अधिक उपयुक्त प्रतीत होती है जिसके आधार पर हम 'पुरुतमम्' का अर्थ 'बहुत लोगो के द्वारा अभिकाक्षित या वरणीय' कर

सकते है। इस शब्द पर विस्तृत विवेचन के लिए डॉ० केशव पाण्डुरङ्ग जोग द्वारा लिखित शोध-निबन्ध 'Apropos of Purutama', (Journal of the University of Poona : Humanities Section, 1969, PP.30-56) द्रष्टव्य है जिसमे ऋ० के उन सभी सन्दर्भो पर विचार किया गया है जहाँ 'पुरुतम' शब्द आया है।

वुयुनवत्—यास्क ने 'वयुन' शब्द की व्याख्या—'वयुनं वेते, कान्तिर्वा, प्रज्ञा वा'—की है जिसका अनुसरण सा० ने भी अनेक स्थानो पर किया है। सा० ने इसका अर्थ 'प्रकाश', 'प्रज्ञान', 'मार्ग', 'ज्ञान' आदि किया है। अन्य भारतीय व्याख्याकारो (वें० मा०, माधव, स्कन्द) ने भी यही अर्थ किये है।

पाश्चात्य व्याख्याकारो मे भी इसके अर्थ पर मतैक्य नही है। रोठ ने इसके अर्थ—'पवित्रता, स्वच्छता, विशिष्टता' आदि किये है, जिसका अनुसरण गेल्ड० ने भी अनेक स्थलो पर किया है। ग्रासमान ने इन अर्थो के अतिरिक्त एक नया अर्थ भी दिया है जिसमें उन्होने इसे 'वे' (बुनना) धा० से निष्पन्न मानकर 'वस्त्र' या 'आच्छादन' अर्थ किया है। इस अर्थ को ऋ० ५,४८,२ ""अतनत वयुनम्' (इसकी तु० ऋ० २,३,६ तन्तुं ततं सवयन्ती ' और २,३८,४ "" वितत वयन्ती' से कर सकते है) के आधार पर सिद्ध किया गया है। इस आधार पर हम 'वयुन' को 'व्या' या 'वी' धा० से 'उन' प्रत्यय करके निष्पन्न कर सकते है जिससे इसका अर्थ—'आच्छादित करने वाला', 'ढकने वाला' या 'अवगुण्ठित करने वाला', 'वस्त्र' आदि होगा। श० ब्रा० (८,२,२,८) का कथन है—"प्राणा वै देवा वयोनाधाः, प्राणैर्हीदं सर्वं वयुन नद्धम्", जिसमें आच्छादन का भाव स्पष्ट प्रतिभासित होता है। पिशेल (Vedische Studien I, P. 307 f) ने यहाँ पर इसे विशेषण रूप मे मान कर इसका अर्थ 'गतिमान' (मार्ग) किया है; किन्तु यह अर्थ किसी भी सन्दर्भ मे संगत नही हो सकता। यह 'वयुन' 'शरीर रूपी आच्छादन' को ही स्पष्ट करता है जिससे प्राण आच्छादित है या जिसमें ढका हुआ है।

उषस् के सदर्भ मे भी यही बात संभव है। वह सब के ऊपर अपना आवरण डालती हुई अन्धकार से उदित होती है।

अत. 'वयुन' का अर्थ 'आवरण' या 'आच्छादन' करना संगत होगा। इस शब्द पर विस्तृत विवेचन के लिये पाउल थीमे (P. Thieme) का 'Untersuchungen ...', (Halle, 1949) PP 13-25, द्रष्टव्य है जिसमे इसके सभी पक्षो पर विचार किया गया है।

पुणयः.—वैदिक आर्यों के धर्मविरोधी दस्युओ को पणि कहा गया है। चोरी करना, झूठ बोलना, हिंसा करना, गायें चुराना इनका मुख्य कार्य था।

कुवित्स देवीः सनयो नवो वा यामो बभूयादुषसो वो अद्य।
येना नवग्वे अङ्गिरे दशग्वे सप्तास्ये रेवती रेवदूष ॥ ४ ॥

पदपाठ

कुवित्। सः। देवीः। सनयः। नवः। वा। यामः। बभूयात्। उषसः। वः। अद्य। येन। नवऽग्वे। अङ्गिरे। दशऽग्वे। सप्तऽआस्ये। रेवतीः। रेवत्। ऊष ॥ ४ ॥

सायण—हे देवीः द्योतमानाः उषसो वः युष्मान् सनय पुराणः नवो वा यामः गमनसाधनः स रथः अद्य अस्मिन् यागदिने कुवित् बहुवारं बभूयात् भवेत् गच्छेदित्यर्थः। येन रथेन हे रेवतीः धनवत्यो यूयं नवग्वे दशग्वे सप्तास्ये सप्तच्छन्दोयुक्तमुखे अङ्गिरे अङ्गिरोगणे। तौ द्वौ तत्र येऽप्यङ्गिरसः तेषां गणे। तथान्यत्र 'नवग्वो नु दशग्वो अङ्गिरस्तमः' (ऋ० स० १०, ६२, ६) इति। रेवत् धनवत् यथा भवति तथा ऊष विभातं कृतवत्यः॥ वसेर्व्युच्छन-कर्मणो लिण्मध्यमबहुवचनस्येदं रूपम्॥

अनुवाद

हे देवी उषाओ, आज तुम्हारा वह कौन सा प्राचीन या नवीन मार्ग (हमारे लिये) होगा, जिसके द्वारा तुमने, हे धनवती, नवग्व, अङ्गिरा, दशग्व और सप्तमुख वाले ऋषियो को धन प्रकाशित किया है ?

टिप्पणी

सनयो नवो वा—यहाँ प्राचीन और नवीन को 'उषस.' तथा 'याम' दोनो के साथ अन्वित किया जा सकता है। सा० ने इसे 'याम.' के साथ अन्वित किया है, जिसका अनुसरण मैक्डॉ० ने किया है। गेल्ड० ने इसे ('यामः' के साथ न अन्वित कर) 'उषस.' के साथ अन्वित किया है। इसी सूक्त के छठवें मत्र से भी स्पष्ट होता है कि उषाये भी 'प्राचीन' और 'नवीन' है (क्व स्विदासा कतमा पुराणी····)। इससे गेल्ड० के विचार की पुष्टि हो सकती है; किन्तु 'सनय', 'नव.' और 'याम' के लिङ्ग, वचनादि समान होने से सायण का मत अधिक तर्कसंगत है।

बभूयात्—'भू' धा० का यह रूप ऋ० में केवल दो बार आया है। अन्यत्र (१, २७, २) यह सर्वानुदात्त है। यह छान्दस लिट् से विधिलिङ् का रूप

है (सें० पी० को०)। ओल्डेन० र्ग पूर्वक 'या' (गमन करना) धा०
(डेर ऋ० १, पृ० २८२) ने इसका गो ऋ० में केवल यही पर आया है।
'रेवत्' शब्द अवेस्ता के 'रअेवत' न स्वर युक्त है ('हि च' पा० सू०
मज़्दों रअेवतो'—यस्न १, १) के ६
'प्रकाशवान्' है। अत. प्रस्तुत सन्दर्भ
ग्रहण करें तो अधिक उपयुक्त होगा; [० लिङ्ग में है।
अर्थ—'भव्यता या ओजस्विता के साथना विदधुर्ऋभूणाम्।
ऊष—यह 'वश कान्तौ' (प्रकायन्ते सदृशीरजुर्याः ॥ ६ ॥
लिट् लकार का रूप है। 'रेवदूष' का
सकता है।

यूयं हि देवीर्ऋतयुग्भिरश्वैः परि। पुराणी। यया। विऽधाना।
प्रबोधयन्तीरुषसः ससन्तं द्विपाच्च। शुभ्राः। उषसः। चरन्ति। न।
६॥
प

यूयम्। हि। देवीः। ऋत व स्वित् अभूद्य कतमा पुराणी
भुवनानि। सद्यः। प्रऽबोधयन्तीः विधाना चमसादिनिर्माणानि विदधुः
चतुःऽपात्। चरथाय। जीवम्॥ ा. दीप्ताः शुभं चरन्ति शोभां दीप्ति
ना: न वि ज्ञायन्ते। यतः सदृशी.
सायण—हे देवीः द्योतमाना. ऽद्यतन्य एता एताः पुराण्य इति न
गामिभिः अश्वैः भुवनानि सद्यः परिप्र रिद्रु श्वः' (ऋ० सं० १,१२३,८)
ससन्तं स्वपन्तं द्विपाच्चतुष्पात् मनु
गमनादिव्यवहाराय प्रबोधयन्तीः प्रबो

अ द

हे देवि उषाओ, तुम नियमित प्राचीन है जिसके द्वारा देवताओं
सोते हुए द्विपद और चतुष्पद जीव था ? जब शुभ्र उषायें सुन्दर रूप
के लिये (गमन करने के लिये) उली नित्य नूतन ये पहचानी नही
भुवनों की परिक्रमा करती हो। । बात को कोई नही जान पाता)।

टिप्पणी

ऋतयुग्भिः —सायण ने 'ऋत' या है। एक बार (ऋ० १,३५,७)
'यज्ञगामभिः अश्वैः' की है; किन्तु 'ऋ
रूप मे है, जिसके आधार पर उषायें का लुङ्, प्र० पु० ब० व० का 'धातोः'
को जागृत करती हुई प्रयाण करती है

अजुर्याः —'उषस्' प्रतिदिन अनेक रूपों से उत्पन्न होती है, इसलिये नित्य नूतन है। इसकी तुलना—'पुन.पुनर् जायमाना पुराणी समान वर्णमभि शुम्भमाना' (ऋ० १,९२,१०) से कर सकते है, जहाँ प्राचीन होकर भी यह बार-बार नवीन रूप मे जन्म लेती कही गई है।

ता घा ता भद्रा उषसः पुरासुरभिष्टिद्युम्ना ऋतजातसत्याः ।
यास्वीजानः शशमान उक्थैः स्तुवञ्छंसन्द्रविणं सद्य आप ॥ ७ ॥

पदपाठ

ताः । घ । ताः । भद्राः । उषसः । पुरा । आसुः । अभिष्टिऽद्युम्नाः । ऋतजातऽसत्याः । यासु । ईजानः । शशमानः । उक्थैः । स्तुवन् । शंसन् । द्रविणम् । सद्यः । आप ॥ ७ ॥

सायण—ता घ । घेति प्रसिद्धौ । ता. खलूपकारिण्यः ता भद्राः कल्याण्यः स्तुत्या वा उषसः पुरा पूर्वम् आसुः अभवन् । अभिष्टिद्युम्नाः अभिगमनमात्रेण द्युम्नं धनं यासां ताः । ऋतजातसत्याः । ऋतार्थं यज्ञार्थं जाताश्च ताः सत्याः सत्यफलाश्च तादृश्यः । यासु उषःसु ईजानः यागं कुर्वाणः उक्थैः शस्त्रै. शशमानः शंसमानः स्तुवन् सामभिः स्तोत्रं निष्पादयन् शंसन् शस्त्राणि कुर्वन् द्रविणं धनं सद्यः आप प्राप्नोति । ता भद्रा इति सम्बन्धः ॥

अनुवाद

वे प्रसिद्ध (और) सुन्दर (या कल्याणकारी) उषायें पहले (भी) अत्यन्त शक्तिशाली प्रकाश से युक्त और नियमित रूप से (उत्पन्न होने वाली) सत्यरूपा थी। जिनमे परिश्रमी यज्ञकर्ता ने पूजा करते हुए, शसन करते हुए (और) स्तोत्रों के द्वारा स्तुति करते हुए तुरन्त ही धन प्राप्त किया है।

टिप्पणी

भद्राः —इसका सामान्य अर्थ व्याख्याकारों ने 'कल्याणमय' किया है। किन्तु ऋग्वेद मे शुभ, चित्र आदि शब्दो के साथ यह भी सौन्दर्यबोधक है इसे 'भन्द सुखकल्याणयो ' धा० से 'रक्' प्रत्यय करके निष्पन्न कर सकते है।

अभिष्टिद्युम्नाः —'अभिष्टि' शब्द के विवेचन के लिये 'अभिष्टिशवसे' पर किया गया विवेचन (मित्र—३,५९,८,) देखिये। 'द्युम्न' का अर्थ परम्परया 'धन' किया गया है; किन्तु 'द्युम्नं द्योतते इति सतः' के आधार पर इसका अर्थ

'प्रकाशित होने वाला' या 'प्रकाश' भी किय
उषाओ के साथ इसका अर्थ 'अनतिक्रमणीय प्र

ऋतजातसत्याः —सा० द्वारा यहाँ पर
होती, क्योकि उषाओ के निश्चित समय से
जिससे वे सत्यशीला या अविनाशी है। अत
पालन करने के कारण ही वे 'ऋतजातसत्याः'

ईजानः—'यज्' धा० से 'कानच्' (लि
स्वपियजादीना किति' (पा० ६,१,१५) से
'चित्' होने से ('चितः'—पा० ६,१,१६३)

शशमानः—इसके विस्तृत विवेचन के
१,८५,१२) पर किया गया विवेचन।

यह 'शंस्' (परिश्रम करना) धा० (अ
निष्पन्न किया गया रूप है। 'चित्' होने से उ

आप—'आप्' (प्राप्त करने) धा० का
(पा० ६,१,१६२) से धा० पर अन्तोदात्त

ता आ चरन्ति समना पुरस्तात्समानतः
ऋतस्य देवीः सदसो बुधाना गवां न सर्गा

पदपाठ

ताः। आ। चरन्ति। समना। पु
पप्रथानाः। ऋतस्य। देवीः। सदसः। बु
उषसः। जरन्ते ॥ ८ ॥

सायण—ताः उषसः आ सर्वतः चरन्ति
स्तात् पूर्वस्यां दिशि समानतः समानाद्देशात्
थाना. प्रथमानाः ऋतस्य यज्ञस्य सदसः स
इत्यर्थः। बुधाना. बोधयन्त्यः ॥ अन्तर्मा
उषसो जरन्ते स्तूयन्ते। गवां सर्गा न उद्
रश्मयः' (ऋ० सं० ४,५२,५) इति हि
कारत्वाच्च स्तूयन्ते तद्वत् ॥

सी प्रकार उषायें भी आह्वान करने

ी उषसंश्चरन्ति।
ः शुचयो रुचानाः ॥ ९ ॥

ानीः। अमीतऽवर्णाः। उषसः।
। रुशत्ऽभिः। शुक्राः। तनूभिः।

ण। नु अद्य समना समानाः एक-
अहिंसितवर्णा अपरिमितवर्णा वा
म्। महन्नामैतत्। अतिमहत् असितं
चमानैः तनूभि स्वशरीरैः शुक्रा
यन्त्यो वा ॥

दर उषाये अपने चमकते हुए
या काले राक्षस को) छिपाती हुई
ाली (वे) समान रूप से विचरण

ो

ीत + वर्णाः' रूप मे विश्लेषित कर
र्णाः' 'रूप' अर्थ मे स्पष्ट है। केवल
सिक शब्द ऋ० में केवल यही पर
कठिन है। 'मीत' शब्द भी अन्यत्र
नष्पन्न कर सकते है—(१) 'मीड्'
ना)। सायण ने इन दोनों अर्थों का
ौन सा अधिक उपयुक्त है। यहाँ हिंसा
ा के अनेक रूपो का भाव ही उषस्
न्ध मे यह कहा गया है कि वे देवो के
ही करती अर्थात् उनका पालन करती

है—(द्र० ऋ० १,१२४, २; ५,८०,४,७,५६,५), किन्तु उनके रूप का कोई हनन करता है, यह कथन नही मिलता। हाँ यह अवश्य है कि वे प्रतिदिन नवीन रूपो मे उत्पन्न होती है 'पुन पुनर्जायमाना पुराणी समानं ' ऋ० १,९२,१०) तथा नवीन आयु धारण करती है (एषा स्या नव्यमायुर्दधाना गूढ्वी तमो ज्योतिषोषा अबोधि—ऋ० ७, ८०, २)। इस प्रकार उनके नित्य नये रूप का वर्णन मिलने से हम कह सकते है कि वे अपरिमित वर्णो वाली है। साथ ही उनके प्रति कहे गये शुभ्र, पेशस्, विभावान्, सूनरि, रोचमाना, चित्रा आदि विशेषण भी इसी बात की पुष्टि करते है। अत. 'अमीतवर्णाः' का अर्थ 'अपरिमितवर्णा.' करना सगत होगा। 'मीत' की निष्पत्ति 'मो' धा० से 'क्त' प्रत्यय करके होगी। बहुव्रीहि होने से पूर्वपद पर उदात्त स्वर है ('बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्'—पा० ६,२,१)।

अभ्वम्—इस शब्द की व्याख्या पर व्याख्याकारो मे मतैक्य नही है। निघ० मे इसको 'महत्' और 'उदक' का पर्याय माना गया है (निघ० ३,३, १, १२)। सायण ने इसके 'शत्रु', 'वेग', 'मेघ', 'महत्कर्म', 'महत् प्राणिजात' आदि अनेक अर्थ किये है।

पाश्चात्त्य व्याख्याकारो मे रोठ ने इसके 'भयावह' (Ungeheur), 'पैशाचिक' (Unheimlichkeit), 'महान्' (Grosse), आदि अर्थ किये है (द्र० सें० पी० को०)। ग्रासमान ने इन अर्थों के साथ दो अन्य अर्थ—'कुत्सित' (das ungethün) और 'भयानक दिखलाई पडने वाला' (das grauenerrengende)—और जोड दिये है (द्र० व्योर्टर० ऋ० पृ० ८९)। बेरगेन्य ने इसके अर्थ 'गूढता' (obscurite), 'सामान्य पाप' (mal en général), 'पैशाचिक शक्ति' (puissance demoniaque) और 'सामान्य शक्ति' (puissance) किया है (द्र० एत्यूद जूर् ल लेक्सीक द्यू रिग्वेद, पेरिस, १८८४, पृ० १२२)। ओल्डेन० (सै० बु० ४६, पृ० २०२) और गेल्ड० (वेदिशे स्टू०, भा० ३, पृ० ११७, ग्लोसार, पृ० १३) ने रोठ के अर्थों का अनुसरण किया है।

'अभ्व' शब्द पर विचार करते हुए वेंकट सुब्बैया का कथन है कि यह 'यक्ष' शब्द का समानार्थक है और इसके सृष्टि, पैशाचिक जीव, दुष्ट प्राणी, सिद्धान्त, गुण आदि अनेक अर्थ हैं। उन्होंने इसके अर्थ की स्थापना का प्रशंसनीय प्रयास किया है (द्र० वेदिक स्टडीज, भा० १, पृ० १९७–२०१), किन्तु इतने पर भी इसका निश्चित अर्थ करना कठिन है। प्रस्तुत सन्दर्भ मे, यह रात्रि के घोर

अन्धकार का द्योतक है जिसे 'काले राक्षस' के रूप में कहा गया है, इतना ही कह देना पर्याप्त होगा।

प्रस्तुत सन्दर्भ के 'गूहन्तीरभ्वमसितम्' की तुलना ऋ० १,९२,५ के 'बाधते कृष्णमभ्वम्' से कर सकते हैं।

रुशद्भिः—यह पु० रूप है किन्तु अनियमित रूप से 'तनूभिः, जो स्त्री० मे है, का विशेषण है।

र॒यिं दि॑वो दुहितरो विभा॒तीः प्र॒जाव॑न्तं यच्छता॒स्मासु॑ देवीः।

स्यो॒नादा वः॑ प्रति॒बुध्य॑मानाः सुवीर्य॑स्य॒ पत॑यः स्याम ॥ १० ॥

पदपाठ

र॒यिम्। दि॒वः। दु॒हि॒त॒रः। वि॒ऽभा॒तीः। प्र॒जाऽव॑न्तम्। य॒च्छ॒त॒। अ॒स्मासु॑। दे॒वीः। स्यो॒नात्। आ। व॒ः। प्र॒ति॒ऽबुध्य॑मानाः। सु॒ऽवीर्य॑स्य। पत॑यः। स्या॒म॒ ॥ १० ॥

सायण—हे दिवो दुहितर. द्योतमानस्यादित्यस्य दुहितृस्थानीयाः विभाती· विभात्यो विशेषेण भानं कुर्वत्यः अस्मासु प्रजावन्तं रयिं पुत्राद्युपेतं धनं यच्छत दत्त। हे देवीः देव्य. स्योनात् सुखात् निमित्तभूतात् वः युष्मान् प्रतिबुध्यमाना. प्रतिबोधयन्तो वयं सुवीर्यस्य पतयः स्याम। पुत्रादिसहितस्य धनस्य पालका भवेम ॥

अनुवाद

द्युलोक की पुत्री द्योतमान (उषाये) प्रकाशित होती हुई हमें प्रजाओं से युक्त धन प्रदान करें। हे देवियो, तुम्हारे सदन से तुम्हे जगाते हुए (स्तुति करते हुए) हम लोग सुन्दर पुत्रादि धन के स्वामी होवें।

टिप्पणी

यच्छत—'यम्' (देना) धा० का लोट्, म० पु०, ब० व० का रूप है। इसकी 'अस्मासु' के साथ अन्विति है।

स्योनात्—यास्क के अनुसार इसका अर्थ 'सुख' है ('स्योन शब्द. सुखवाची'—निरु० ३,६,१५), जिसका अनुसरण सा० ने किया है। गेल्ड० आदि अन्य व्याख्याकारो ने भी सा० का अनुसरण किया है। किन्तु 'स्योन' शब्द के सन्दर्भो से प्रतीत होता है कि 'स्योन' का अर्थ केवल 'सुख' नही, अपितु

कुछ और है। निष्पत्ति की दृष्टि से इसे—'षिवु तन्तुसन्ताने' से निष्पन्न कर सकते है जिसमे 'सिवेष्टेर्यो च' (उणा० सू० ३,२८९) से 'न' प्रत्यय और 'टि' का 'यो' आदेश होकर रूप बनेगा। धात्वर्थ की दृष्टि से इसके दो अर्थ होगे—(१) शयन-स्थान = पर्यंक या चारपाई, जिसे बुना गया हो और (२) संतान या प्रजा। विभिन्न सन्दर्भों मे ये दोनो अर्थ उपयुक्त प्रतीत होते है। प्रस्तुत सन्दर्भ मे 'शयन-स्थान' से जागृत होने का भाव है, इसी प्रकार ऋ० १,७३,१; ७, ४२,४ से भी शयन-स्थान का भाव द्योतित होता है। ऋ० १,२२,१५; १०, ८५,२०,४४ से 'सन्तान' अर्थ की प्रतीति होती है। अतः 'स्योन' का अर्थ 'सुख' करना संगत नही प्रतीत होता।

तद्वो॑ दिवो दुहितरो विभातीरुप॑ ब्रुव उषसो यज्ञके॑तुः।
वयं स्या॑म यशसो जने॑षु तद्द्यौश्च॑ धत्तां पृथिवी च॑ देवी ॥ ११ ॥

पदपाठ

तत्। वः। दिवः। दुहितरः। विऽभातीः। उप॑। ब्रुवे। उषसः। यज्ञऽके॑तुः। वयम्। स्याम। यशसः। जने॑षु। तत्। द्यौः। च। धत्ताम्। पृथिवी। च। देवी ॥ ११ ॥

सायण—हे दिवो दुहितरः हे उषसः विभातीः वः युष्मान् तत् उत्तरार्धप्रथमपादेन वक्ष्यमाणं फलं यज्ञकेतुः। यज्ञ एव केतुः प्रज्ञापको यस्य तादृशोऽहम् उप ब्रुवे उपेत्य ब्रवीमि। अथ बहुवदुच्यते। वयं स्तुवन्तः जनेषु अस्मत्समानेषु मध्ये यशसः कीर्तेः अन्नस्य वा स्वामिनः स्याम। तत् यशः द्यौः पृथिवी च देवी धत्तां धारयताम् ॥

अनुवाद

हे द्युलोक की कन्या उषाओ, विभासित होती हुई तुम्हारे लिये यज्ञ के केतु वाला मैं बोलता हूँ (स्तुति करता हूँ)। अपने लोगों के मध्य हम लोग यशस्वी बने। द्यौ और पृथिवी देवी उसे धारण करें (उस यश को प्रदान करें)।

टिप्पणी

(उप॑) ब्रुवे—'ब्रू' (बोलना) धा० का लट्, प्र० पु०, ए० व० का आत्मने० रूप है। इसका सम्बन्ध 'यज्ञकेतुः' (यज्ञ जिसका चिह्न है ऐसा मैं) से है। वैसे उषा को भी 'यज्ञकेतु' कहा गया है ('यज्ञस्य केतुः'—ऋ० १, ११३,१९)।

यशसो जनेषु—यह ऋग्वेद मे एक पदसमूह के रूप उन सन्दर्भों में अनेक बार प्रयुक्त हुआ है जहाँ प्रार्थना की गई है कि हमे 'यश' प्रदान करो।

धत्ताम्—'धा' धा० ('डुधाञ् धारणपोषणयो.') का लोट्, प्र० पु०, द्वि व० का रूप है। उदात्त स्वर युक्त 'धत्ताम्' रूप केवल यही पर आया है। इसे 'तिङ्ङतिङ' से स्पष्ट कर सकते है। अन्यथा मैक्डॉ० के अनुसार क्रियापद के दोनो ओर 'च···च' होने से उदात्त स्वर है (द्र०—वे० ग्रा० पृ० ४६८)।

पर्जन्य

ऋ० ५, ८३—ऋषि-अत्रि; छन्द-जगती, अनुष्टुप्

अच्छा वद तवसं गीर्भिराभिः स्तुहि पर्जन्यं नमसा विवास।
कनिक्रदद्वृषभो जीरदानू रेतो दधात्योषधीषु गर्भम् ॥ १ ॥

पदपाठ

अच्छ। वद। तवसम्। गीःऽभिः। आभिः। स्तुहि। पर्जन्यम्। नमसा। आ। विवास। कनिक्रदत्। वृषभः। जीरऽदानुः। रेतः। दधाति। ओषधीषु। गर्भम् ॥ १ ॥

सायण—हे स्तोत: तवसं बलवन्तं पर्जन्यम् अच्छ अभिप्राप्य वद प्रार्थय। पर्जन्यशब्दो यास्केन बहुधा निरुक्त —'पर्जन्यस्तृपेराद्यन्तविपरीतस्य तर्पयिता जन्य परो जेता वा जनयिता वा प्रार्जयिता वा रसानाम्' (निरु० १०, १०) इति। आभिः गीर्भिः स्तुतिवाग्भिः स्तुहि। नमसा अन्नेन हविर्लक्षणेन आ विवास सर्वत: परिचर। यः पर्जन्यः वृषभ अपां वर्षिता जीरदानुः क्षिप्रदानः कनिक्रदत् गर्जनशब्दं कुर्वन् ओषधीषु गर्भं गर्भस्थानीयं रेत उदकं दधाति स्थापयति तं स्तुहि ॥

अनुवाद

हे स्तोता, इन स्तुतियो के द्वारा बलवान् पर्जन्य के समीप बोलो और उसकी स्तुति करो तथा नमस्कार (या हवि) के द्वारा उसकी परिचर्या करो। वृषभ रूपी वह (पर्जन्य) गर्जन करता हुआ, क्षिप्र दानी वह ओषधियों मे (वनस्पतियो में) गर्भरूपी वीर्य का आधान करता है।

टिप्पणी

अच्छा (अच्छ)—संहिता मे छन्द की दृष्टि से अन्त्य 'अ' को दीर्घ हो गया है, जो निपातन से सिद्ध है ('निपातस्य च'—पा० सू० ६, ३, १३६)। यह गमन अर्थ मे प्रयुक्त होता है ('अच्छ गत्यर्थवदेषु'—पा० सू० १, ४, ६९) और इस गति संज्ञा के साथ इसकी निपात (अव्यय) सज्ञा भी सिद्ध है ('गतिश्च'—पा० सू० १, ४, ६०), और निपात होने से आद्युदात्त है ('निपाता आद्युदात्ता.'—फिट् सूत्र ४, १२)।

✓स्तुहि—'स्तु' (स्तुति करना) धा० का लोट्, म० पु० ए० व० का रूप है। पाद के प्रारम्भ में होने से क्रिया पद पर उदात्त स्वर है ('अनुदात्तं सर्वमपादादौ', पा० सू० ८, १, १८ तथा 'धातोः'—पा० सू० ६, १, १६२)।

विवास—'विवासतिः परिचरण कर्मा' (निरु० ३, ५, १०) के आधार पर 'विवास' का अर्थ 'परिचरणकर्म' या 'सेवा' है। यहाँ यह लोट्, म० पु० ए० व० का रूप है। मैक्डॉनेल ने इसे 'वन्' (जीतना) धा० का सन्नन्त (desiderative) रूप माना है, किन्तु ऋ० के अनेक सन्दर्भों से परिचरण कर्म ही सगत प्रतीत होता है।

✓कनिक्रदत्—'क्रन्द्' (गर्जन करना) धा० के 'यङ्लुगन्त' रूप से 'शतृ' प्रत्यय करने पर यह रूप निपातन से सिद्ध होता है (द्र०—'दाधर्ति दर्धर्ति-दर्धर्षि 'कनिक्रदत्' ''—पा० सू० ७, ४, ६५)। स्वर की सिद्धि 'अभ्यस्तानामादि.' (पा० सू० ६, १, १८९) से कर सकते है, जिसके आधार पर अभ्यास के आदि को उदात्त स्वर होता है। यह रूप वेद मे उन १८ धातुओ का रूप है जिनका अभ्यास (द्वित्व) अनियमित रूप से होता है।

जीरदानुः—इस सामासिक पद मे 'जीर' शब्द 'जॄ' धा० (तीव्र गति होना, वयहानि आदि) से निष्पन्न है जिसका अर्थ 'क्षिप्र' है। अत समास का अर्थ जो 'क्षिप्र गति से दान देने वाला' अर्थात् 'अधिक दानशील'—है। बहुव्रीहि होने से पूर्व पद पर उदात्त स्वर है (पा० सू० ६, २, १)। सन्धि की दृष्टि से विसर्ग का लोप होकर 'उ' को संहिता मे दीर्घ हो गया है (द्र० मैक्डॉ० वे० ग्रा० पृ० ४७)।

रेतः—सा० ने इसका अर्थ 'उदक' माना है, किन्तु इसे 'वीर्य' अर्थ में ग्रहण करना ही उपयुक्त होगा। ऋग्वेद मे—'वृषभ.' 'रेतो दधाति' एक पद-समूह के रूप मे अनेक बार अनेक देवताओ के साथ प्रयुक्त हुआ है (द्र० ऋ० १, १२८, ३, ३, ५५, १७ आदि)।

यहाँ ओषधियो मे वीर्य के आधान का भाव यह है कि जब पर्जन्य देवता वृष्टि करते है तभी ओषधियो या वनस्पतियो मे गर्भ आता है और उनका प्रस्फुटन होता है ।

वि वृ॒क्षान् ह॑न्त्यु॒त ह॑न्ति र॒क्षसो॒ विश्वं॑ बिभाय॒ भुव॑नं म॒हाव॑धात् ।
उ॒ताना॑गा ईषते॒ वृष्ण्या॑वतो॒ यत्प॒र्जन्य॑: स्त॒नय॒न् हन्ति॑ दु॒ष्कृत॑: ॥ २ ॥

पदपाठ

वि । वृ॒क्षान् । ह॒न्ति॒ । उ॒त । ह॒न्ति॒ । र॒क्षस॑: । विश्व॑म् । बि॒भा॒य॒ । भुव॑नम् । म॒हाऽव॑धात् । उ॒त । अना॑गाः । ई॒ष॒ते॒ । वृष्ण्य॑ऽवतः । यत् । प॒र्जन्य॑: । स्त॒नय॑न् । हन्ति॑ । दु॒:ऽकृत॑: ॥ २ ॥

सायण—अयं मन्त्रो निरुक्ते स्पष्टं व्याख्यातः । तदेवात्र लिख्यते—'पर्जन्यो विहन्ति वृक्षान् विहन्ति च रक्षांसि सर्वाणि चास्माद् भूतानि बिभ्यति महावधात् महान् ह्यस्य वधः । अप्यनपराधो भीतः पलायते वर्षकर्मवतो यत्पर्जन्यः स्तनयन् हन्ति दुष्कृतः पापकृतः' (निरु० १०, ११) इति ॥

अनुवाद

पर्जन्य देवता वृक्षो का हनन करता है और राक्षसो का भी हनन करता है । समस्त सृष्टि इस महान् शस्त्र वाले पर्जन्य से भयभीत होती है । जब पर्जन्य दुष्कर्म करने वालो को गरजते हुए मारता है तो इस वर्षणशील से पापरहित व्यक्ति भी (दूर) भागता है ।

टिप्पणी

बि॒भा॒य॒—'भी' (भयभीत होना) धा० का लिट् का प्र० पु० ए० व० का रूप है । यहाँ वर्तमान काल के लिये प्रयुक्त है ।

म॒हाऽव॑धात्—यहाँ यह स्वर की दृष्टि से ब० व्री० समास है (पा० ६,२,१), इससे इसका अर्थ 'जो महान् शस्त्र वाला है' अर्थात् पर्जन्य होगा ।

वृष्ण्या॑वतः—'वृष सेचने' धातु से औणादिक 'नक्' प्रत्यय करके 'भवे छन्दसि' (पा० ४, ४, ११०) से 'यत्' प्रत्यय होकर 'वृष्ण्य' रूप बनेगा । 'वत्' प्रत्यय जोडने पर 'वृष्ण्यवत्' शब्द बनकर पंचमी ए० व० मे 'वृष्ण्यवत' रूप सिद्ध होगा । 'यत्' प्रत्यय होने से 'यतोऽनावः' (पा० ६, १, २१३) से आद्युदात्त है । मैक्डॉ० ने (वे० री० पृ० १०५) 'वृष्' धा० को 'भय' अर्थ मे माना है, जो संगत नही प्रतीत होता ।

ई॒षते॒—'ईष गति हिंसा दर्शनेषु' धा० का आत्म० लट्, प्र० पु० ए० व० का रूप है।

स्त॒नय॑न्—'स्तनशब्दे' धा० का शतृ प्रत्ययान्त रूप है।

र॒थीव॒ कश॒याश्वाँ॑ अभिक्षि॒पन्ना॒विर्दू॒तान्कृ॑णुते व॒र्ष्याँ३॒ अह॑।
दू॒रात्सि॒हस्य॑ स्त॒नथा॒ उदी॑रते॒ यत्प॒र्जन्य॑ः कृणु॒ते व॒र्ष्यं१॒ नभ॑ः ॥ ३ ॥

पदपाठ

र॒थीऽइ॑व। कश॑या। अश्वा॑न्। अ॒भि॒ऽक्षि॒पन्। आ॒विः। दू॒तान्। कृ॒णु॒ते॒। व॒र्ष्या॑न्। अह॑। दू॒रात्। सि॒हस्य॑। स्त॒नथा॑ः। उत्। ई॒र॒ते॒। यत्। प॒र्जन्य॑ः। कृ॒णु॒ते। व॒र्ष्य॑म्। नभ॑ः ॥ ३ ॥

सायण—रथीव रथस्वामीव। स यथा कशया अश्वान् अभिक्षिपन् दूतान् भटान् आविष्करोति तद्वदसौ पर्जन्योऽपि कशया अश्वान् मेघान् अभिक्षिपन् अभिप्रेरयन् वर्ष्यान् वर्षकान् दूतान् दूतवत् वृष्टिप्रेरकान् मेघान् मरुतो वा आवि. कृणुते प्रकटयति। अह इति पूरण.। एवं सति सिंहस्य। सहतेर्हिंसतेर्वा शब्दकर्मण सिंहशब्दः। अवर्षणेनाभिभवितुः शब्दयितुर्वा मेघस्य स्तनथाः गर्जनशब्दा दूरात् उदीरते उद्गच्छन्ति। कदा। यत् यदा पर्जन्यः नभः अन्तरिक्ष वर्ष्यं वर्षोपेतं कृणुते करोति तदा ॥

अनुवाद

जिस प्रकार रथ का स्वामी कशा (कोड़ा) के द्वारा अश्वो को प्रेरित करता हुआ दूतो का अन्वेषण करता है उसी प्रकार पर्जन्य देवता भी मेघो को प्रेरित करता हुआ वृष्टि के प्रेरक मरुतो का अन्वेषण करता है। जब पर्जन्य आकाश को वर्षणशील बनाता है तब सिह (मेघ) का गर्जन दूर से ही ऊपर उठता है (सुनाई पड़ता है)।

टिप्पणी

अश्वा॑न्—यहाँ निष्पत्ति की दृष्टि से 'अश्व' के दो अर्थ है। 'अश्' धातु के गमन अर्थ से 'अश्व' का अर्थ 'गमनशील' होगा; और दूसरा अर्थ 'अश् व्याप्तौ' से 'अशिप्रुषिलटिकणि०' (उ० सू० १५२) से 'क्वन्' प्रत्यय करके 'अश्व' शब्द का अर्थ 'व्याप्त करने वाला अर्थात् मेघ' होगा। यहाँ श्लेष रूप मे दोनो अर्थ विहित है। 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' (पा० सू० ६, १, १९७) आद्युदात्त है।

अ॒भि॒ऽक्षि॒पन्—'अभि' उपसर्ग पूर्वक 'क्षिप्' (फेंकना, मारना आदि) धा०

का शतृ प्रत्ययान्त यह रूप ऋ० मे केवल यही पर आया है।

दूतान्—सा० ने इसका अर्थ 'मेघ' या 'मरुत्' दोनो किया है। मैक्डॉनेल (वे० री० पृ० १०६) ने 'मेघ' अर्थ का ही ग्रहण किया है। किन्तु यहाँ आत्म० क्रिया पद के प्रयोग से यह प्रकट होता है कि वह स्वयं को दूतो के रूप मे प्रकट करता है जैसा कि अग्नि के सम्बन्ध में कहा गया है—'तृषुं दूतं कृणुते यह्वो अग्नि.' (ऋ० ४, ७, ११)—'महान् अग्नि अपने आप को दूत बनाता है'। किन्तु यहाँ ब० व० के प्रयोग से कठिनाई उत्पन्न होती है और इस कारण 'दूतान्' का अर्थ 'मेघ' या 'मरुत्' करना सभव है। मंत्र मे 'अश्वान्' का सम्बन्ध मेघो से है और हम 'अश्वान् दूतान् वर्ष्यान्' को एक साथ विशेष्य विशेषण मानकर इनको 'मेघ' अर्थ मे ग्रहण कर सकते है।

वर्ष्याँ३ तथा वर्ष्यँ१—मे स्वतन्त्र स्वरित होने के कारण सहिता पाठ मे ३ और १ सख्याओ का विधान है; क्योकि स्वरित के ठीक पश्चात् उदात्त स्वर है; और उदात्त के पूर्व अनुदात्त का होना भी आवश्यक है। इसलिये अनुदात्त और स्वरित दोनो के प्रदर्शन के लिये सख्याओ का विधान है। दीर्घ स्वर के साथ ३ तथा ह्रस्व के साथ १ का विधान होता है।

कृणुते—'कृ' (करना) धा० का आत्म०, लट्, प्र० पु० ए० व० का रूप है। 'कृ' का 'कृणोति' और 'कृणुते' रूप ही ऋग्वेद में प्रयुक्त है। 'करोति' रूप अथर्ववेद से ही प्रारम्भ होता है।

प्र वाता वान्ति पतयन्ति विद्युत उदोषधीर्जिहते पिन्वते स्वः।
इरा विश्वस्मै भुवनाय जायते यत्पर्जन्यः पृथिवीं रेतसावति ॥ ४ ॥

पदपाठ

प्र। वाताः। वान्ति। पतयन्ति। विऽद्युतः। उत्। ओषधीः। जिहते। पिन्वते। स्व१रिति स्वः। इरा। विश्वस्मै। भुवनाय। जायते। यत्। पर्जन्यः। पृथिवीम्। रेतसा। अवति ॥ ४ ॥

सायण—प्र वान्ति वाता. वृष्टयर्थम्। पतयन्ति गच्छन्ति समन्तात् संचरन्ति विद्युत.। ओषधीः ओषधय. उत् जिहते उद्गच्छन्ति प्रवर्धन्ते। स्व अन्तरिक्षं पिन्वते क्षरति। इरा भूमि. विश्वस्मै सर्वस्मै भुवनाय सर्वजगद्धिताय जायते समर्था भवति। कदैवमिति। यत् यदा पर्जन्यः देवः पृथिवीं रेतसा उदकेन अवति रक्षति अभिगच्छति वा तदैव भवति ॥

अनुवाद

वायु समूह प्रवाहित हो रहे है, विद्युत पतित हो रही है, ओषधियाँ वर्धित हो रही है और आकाश सिंचित या वर्धित हो रहा है। जब पर्जन्य वीर्य (जल) से पृथिवी की रक्षा करता है उस समय समस्त प्राणियो के लिये अन्न उत्पन्न होता है।

टिप्पणी

वान्ति—इसके पश्चात् दूसरे क्रियापद के कारण इस पर उदात्त स्वर है।

पुतयन्ति—वाक्य का प्रारम्भ करने के कारण यह उदात्त स्वर युक्त है।

जिहते—'हा' (ओहाङ् गतौ) धा० का लट्, प्र० पु० ए० व० का रूप है। इसके पश्चात् दूसरे क्रियापद के कारण उदात्त स्वर मूलधातु पर सार्वधातुक होने के कारण है।

पिन्वते—वाक्य का प्रारम्भ करने के कारण उदात्त स्वर युक्त है। 'पिवि सेचने' से 'नुम्' ('इदितो नुम् धातो '—पा० सू० ७,१,५८) का आगम और शप् प्रत्यय के साथ लट्, प्र० पु० ए० व० का रूप है।

यस्य व्रते पृथिवी नन्नमीति यस्य व्रते शफवज्जर्भुरीति।
यस्य व्रत ओषधीर्विश्वरूपाः स नः पर्जन्य महि शर्म यच्छ ॥ ५ ॥

पदपाठ

यस्य। व्रते। पृथिवी। नन्नमीति। यस्य। व्रते। शफऽवत्। जर्भुरीति। यस्य। व्रते। ओषधीः। विश्वऽरूपाः। सः। नः। पर्जन्य। महि। शर्म। यच्छ ॥ ५ ॥

सायण—यस्य पर्जन्यस्य व्रते कर्मणि पृथिवी नन्नमीति अत्यर्थं नमति सर्वेषामधो भवति। यस्य व्रते शफवत् पादोपेतं गवादिकं जर्भुरीति भ्रियते पूर्यते गच्छतीति वा। यस्य व्रते कर्मणि ओषधीः ओषध्यः विश्वरूपाः नानारूपाः भवन्ति हे पर्जन्य स. महांस्त्वं न. अस्मभ्यं महि शर्म महत् सुखं यच्छ प्रयच्छ ॥

अनुवाद

जिसके आदेश मे पृथिवी अत्यन्त नमित होती है तथा जिसके आदेश मे खुरवाले प्राणी गमन करते है और जिसके व्रत मे ओषधियाँ अनेक रूपो वाली है वह पर्जन्य हमे महान् शरण प्रदान करे।

टिप्पणी

व्रते—'व्रत' शब्द पर विवेचन किया जा चुका है (द्र० मित्र, ऋ० ३, ५९,३)।

नन्नमीति—यह क्रियापद ऋ० मे केवल यही पर आया है। इसी का एक अन्य रूप नन्नमत् (ऋ० ८,४३,८) भी एक बार आया है। यहाँ 'नम्' धा० से 'अत्यन्त' अर्थ द्योतन करने के लिये अभ्यास (द्वित्व) कर दिया गया है।

शफवत् जर्भुरीति—इसकी तुलना ऋ० २,३९,३ से कर सकते है जहाँ 'शफवज्जर्भुराणाः' आया है, जिसका अर्थ 'खुरो के समान गति से संघर्ष करते हुए' (Struggling with speed like the hoofs—H.D Velankar, RV.M. II, P. 108) होगा।

'जर्भुरीति' क्रियापद के अनेक अर्थ किये जा चुके है, जिनमे कुछ ये है—उछलना, गति होना, संघर्ष करना, भरण करना, पूर्ण होना आदि। किन्तु यह प्रायः सदैव पशुओ के सन्दर्भ मे आया है जिससे कुटिलता या शीघ्रता से गमन करने का अर्थ प्रतिभासित होता है।

शर्म—इसका विस्तृत विवेचन किया जा चुका है (द्र० मरुत्, १,८५,१२)।

दिवो नो वृष्टिं मरुतो ररीध्वं प्र पिन्वत वृष्णो अश्वस्य धाराः।
अर्वाङेतेन स्तनयित्नुनेह्यपो निषिञ्चन्नसुरः पिता नः ॥ ६ ॥

पदपाठ

दिवः। नः। वृष्टिम्। मरुतः। ररीध्वम्। प्र। पिन्वत। वृष्णः। अश्वस्य। धाराः। अर्वाङ्। एतेन। स्तनयित्नुना। आ। इहि। अपः। निऽसिञ्चन्। असुरः। पिता। नः॥ ६ ॥

सायण—हे मरुतः यूयं दिवः अन्तरिक्षसकाशात् नः अस्मदर्थं वृष्टिं ररीध्व दत्त। वृष्णः वर्षकस्य अश्वस्य व्यापकस्य मेघस्य सम्बन्धिन्य. धाराः उदकधाराः प्र पिन्वत प्रक्षरत। हे पर्जन्य त्वं एतेन स्तनयित्नुना गर्जता मेघेन सह अर्वाङ् अस्मदभिमुखम् एहि आगच्छ। किं कुर्वन्। अपः अम्भांसि निषिञ्चन् स देव. असुरः उदकानां निरसितापि सन् न अस्माकं पिता पालकश्च ॥

अनुवाद

हे मरुद्गण, द्युलोक से हमारे लिए वृष्टि को प्रदान करो तथा वर्षणशील अश्व (मेघ) की वर्षा-धारा को सिञ्चित करो (या प्रकर्ष रूप से

वर्धित करो, क्षरित करो)। हे पर्जन्य, हमारे पालक रूप मे महान् देवता तुम अपने गर्जन के साथ जल का सिञ्चन करते हुए यहाँ आओ।

टिप्पणी

ररीध्वम्—'रा दाने' धा० का लोट्, म० पु०, ब० व० का रूप है, जो ऋ० मे केवल यही पर आया है। 'तिङ्ङतिङः' से सर्वानुदात्त है।

दिवः—सा० ने इसे प० ए० व० का रूप माना है। मैक्डॉ० ने ष० ए० व० का रूप माना है और 'अश्वस्य धारा.' के साथ समानता प्रदर्शित की है। किन्तु सा० का मत अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है क्योकि 'द्युलोक से' वृष्टि का आना अधिक उपयुक्त है।

मरुतः—यद्यपि यह सूक्त पर्जन्य देवता का है किन्तु पर्जन्य का मरुत् के साथ अधिक सम्बन्ध होने के कारण मत्र के प्रथम दो पादो मे मरुत् का आह्वान किया गया है। ऋ० १,६४,६ (पिन्वन्त्ययो मरुतः ') और ऋ० २,३४,१ (धारावरा मरुतः ') मे मरुतो को वृष्टि से सम्बन्धित किया गया है। वे वर्षा के साथ सम्बन्धित है इसलिए मत्र के आधे भाग में उनकी और आधे भाग मे पर्जन्य की स्तुति वर्षा के लिए की गई है।

वृष्णो अश्वस्य—यहाँ इससे मरुत् के बलशाली अश्व का कथन है (तु० ऋ० १,८५,५,६) जो यहाँ मेघ का सकेत करता है।

स्तनयित्नुना—इसके पूर्व 'स्तनयन्' (५,८३,२) और 'स्तनथा' (५, ८३,३) आ चुके है जो 'गर्जन' अर्थ मे प्रयुक्त है।

✓ **असुरः**—सा० की व्याख्या 'उदकानां निरसिता' संगत नही प्रतीत होती, क्योकि 'असुर' शब्द का प्रयोग ऋ० मे देवताओ के साथ सदैव 'महान् देवता' अर्थ में हुआ है। ऋ० में 'महः' और 'असुर' सर्वोच्च 'शक्ति' और देवता के प्रतीक है और प्राय 'द्युलोक' (दिव·) के लिए भी प्रयुक्त है। 'द्यु' देवता सभी देवताओ के पिता रूप मे हैं। सभी देवता प्राय 'असुर' कहे गये है। (द्र० ऋ० १,३५,१०,१३३,१, २,१,६, ४,५३,१, ५,१५,१, ७,२,३, ३०,३ आदि)। यह एक प्रजाति नाम (generic name) अथवा प्रजाति गुण या विशेषण (generic epithet) का कार्य करता है। 'असुर' और 'महा' अवेस्ता के 'अहुर मज्दा' के समान है जो वहाँ का सर्वोच्च देवता है। एसाइरियन 'अस्सुर' या 'एसिर' भी इसी के समान है। मूल रूप मे सभी एक धातु 'अस्' (चमकना, प्रकाशित होना) या 'अस्' (अवेस्तन 'अह्' होना) धातु से

निष्पन्न हुए होगे, अर्थात् सभी का अर्थ जो सदैव 'सत्तावान्' है रहा होगा। आर्यों के बिलगाव के पूर्व बाल्ख प्रदेश में मूलत. सभी के देवता एक रहे होगे। 'असुर', 'अहुर' और 'एसिर' इसके प्रमाण है।

यह मत्र तै० सं० ३,१,११,२ में भी आता है।

अभि क्रन्द स्तनय गर्भमा धा उदन्वता परि दीया रथेन।
दृतिं सु कर्ष विषितं न्यञ्चं समा भवन्तूद्वतो निपादाः ॥ ७॥

पदपाठ

अभि। क्रन्द। स्तनय। गर्भम्। आ। धाः। उदन्ऽवता। परि। दीय। रथेन। दृतिम्। सु। कर्ष। विऽसितम्। न्यञ्चम्। समाः। भवन्तु। उत्ऽवतः। निऽपादाः ॥ ७॥

सायण—अभि भूम्यभिमुखं क्रन्द शब्दय। तदेव पुनरुच्यते दार्ढ्याय। स्तनय गर्ज। गर्भं गर्भस्थानीयमुदकम् ओषधीषु आ धाः आधेहि। तदर्थम् उदन्वता उदकवता रथेन परि दीय परितो गच्छ। दृतिं दृतिवदुदकधारकं मेघं विषितं विशेषेण सितं बद्धं न्यञ्चं न्यक् अधोमुखं सु सुष्ठु कर्ष आकर्ष वृष्ट्यर्थम्। यद्वा। विषितं विमुक्तबन्धनमेवं कर्ष। एवं कृते उद्वतः ऊर्ध्ववन्तः उन्नत-प्रदेशाः निपादाः न्यग्भूतपादा निकृष्टपादा वा निम्नोन्नतप्रदेशाः समाः एकस्थाः भवन्तु उदकपूर्णा भवन्तु इत्यर्थः ॥

अनुवाद

हे पर्जन्य, हमारी ओर अभिमुख होकर क्रन्दन करो तथा गर्जन करो और (ओषधियों मे) गर्भ का आधान करो। अपने जल से पूर्ण रथ के द्वारा चारों ओर गमन करो। विशेष रूप से बन्धनयुक्त दृति (मशक) को नीचे की ओर अच्छी प्रकार से खीचो, जिससे कि ऊँचे-नीचे सभी स्थान समान रूप से जलमय हो जॉय।

टिप्पणी

स्तनय—'स्तन संशब्दने' धा० का लोट्, म० पु० ए० व० का रूप है। क्रियापद के पूर्व क्रियापद (क्रन्द) होने के कारण यहाँ उदात्त स्वर है (द्र० 'तिङ्-ङतिङ' पा० ८,१,२८)। इसी को मैक्डॉ० ने वाक्य का प्रारम्भ करने के कारण उदात्त कहा है (द्र० वे० री० पृ० १०९)।

गर्भमा धाः —इसकी तुलना 'रेतो दधात्योषधीषु गर्भम्' (ऋ०५,८३,१) से कर सकते हैं जहाँ पर्जन्य को ओषधियो मे वीर्य रूपी गर्भ का आधान करते हुए कहा गया है। 'धा.' क्रियापद 'धा' धा० का लेट्, म० पु० ए० व० का रूप है। जिसे सायण ने 'लुङ्' का रूप माना है जिसमें 'बहुलं छन्दस्यमाङ्-योगेऽपि' (पा० ६,४,७५) के आधार पर 'अट्' का अभाव हुआ है (द्र० सा० भा० ऋ० १,२६,१०)।

दीया—यहाँ अन्त्य स्वर को छन्द की दृष्टि से दीर्घभाव हुआ है। यह यास्क के अनुसार गतिकर्म वाली धा० है, 'दीयतिर्गतिकर्मा, दीयति तकति' (नि० २,१४,६९)।

दृतिं""न्यञ्चम्—यहाँ पर चमडे के मशक की उपमा दी गई है। जिस प्रकार सडक पर पानी छिडकने वाला भिश्ती अपने मशक को खोलकर उसे नीचे की ओर करके पानी छिडकता है उसी प्रकार पर्जन्य से प्रार्थना की गई है कि वह भी मेघरूपी दृति को खीचकर जल का सिञ्चन करे।

'विषित' को 'वि' उपसर्ग पूर्वक 'सिञ् बन्धने' धातु० से 'क्त' प्रत्यय करके निष्पन्न कर सकते हैं।

यह मंत्र तै० स० (३,१,११,६) में भी ग्रहण किया गया है।

'दृति' की तुलना अन्य सन्दर्भो जैसे—चर्मेवोदभिर्व्युन्दन्ति भूम (ऋ० १, ८०,५), सूर्ये विषमा सजामि दृतिं सुरावतो गृहे (ऋ० १,१९१,१०), दृतिं न शुष्क सरसी शयानम् (ऋ० ७,१०३,२)—से भी कर सकते है, जिनसे 'दृति' का उस काल मे बहुलता से प्रयोग परिलक्षित होता है।

म॒हान्तं॒ कोश॒मुद॑चा॒ नि षि॑ञ्च॒ स्यन्द॑न्तां कु॒ल्या विषि॑ताः पु॒रस्ता॑त् ।
घृ॒तेन॒ द्यावा॑पृथि॒वी व्यु॑न्धि सुप्रपा॒णं भ॑वत्व॒घ्न्याभ्यः॑ ॥ ८ ॥

पदपाठ

म॒हान्त॑म् । कोश॑म् । उत् । अ॒च॒ । नि । सि॒ञ्च॒ । स्यन्द॑न्ताम् । कु॒ल्याः॑ । विऽसि॑ताः । पु॒रस्ता॑त् । घृ॒तेन॑ । द्यावा॑पृथि॒वी इति॑ । वि । उ॒न्धि॒ । सु॒ऽप्र॒पा॒नम् । भ॒व॒तु॒ । अ॒घ्न्याभ्यः॑ ॥ ८ ॥

सायण—हे पर्जन्य त्वं महान्तं प्रवृद्धं कोशं कोशस्थानीयं मेघम् उदच उद्गच्छ । उद्गमय वा । तथा कृत्वा नि षिञ्च नीचैः क्षारय । कुल्याः नद्यः

विषिताः विष्यूताः सत्यः स्यन्दन्तां प्रवहन्तु पुरस्तात् पूर्वाभिमुखम्। प्रायेण नद्यः प्राच्यः स्यन्दन्ते। घृतेन उदकेन द्यावापृथिवी दिवं च पृथिवी च व्युन्धि क्लेदय अत्यधिकम्। अघ्न्याभ्य. गोभ्य· सुप्रपाणं सुष्ठु प्रकर्षेण पातव्यमुदकं भवतु॥

अनुवाद

(हे पर्जन्य) अपने महान् कोश (मेघ) को ऊपर उठाओ और नीचे की ओर सिञ्चन करो (जिससे) नदियाँ बन्धन रहित होकर पूर्व की ओर (या सामने से) प्रवाहित होवें। घृत (जल) के द्वारा द्यौ और पृथिवी को क्लेदित करो (जिससे) हनन न करने योग्य (गायो) के लिये जलपान का सुन्दर स्थान होवे।

टिप्पणी

उत् अच्—'अच्' (अञ्च गतौ) धा० का लोट्, म० पु०, ए० व० का रूप। यहाँ पर 'कोश' के साथ यह वही भाव स्पष्ट करता है जैसे कि दृति के सम्बन्ध मे उपर्युक्त मत्र मे कहा गया है। 'कोश' को ऊपर उठाकर जल उडेलने की बात कही गई है। 'कोश' बादलो के लिये आया है जो नीचे से ऊपर की ओर उठकर वर्षा करते है।

विषिताः—उपर्युक्त मत्र मे 'विषितम्' आया है, किन्तु यहाँ 'वि' विपरीत अर्थ में है। 'वि+सिता.' का अर्थ बन्धन रहित या जो खोली जा चुकी है होगा।

पुरस्तात्—सायण ने इसे 'पूर्व दिशा' अर्थ मे ग्रहण किया है, किन्तु इसका अर्थ 'सामने की ओर' या 'सीधे' करना अधिक उपयुक्त होगा, जैसा कि मैक्डॉ० (वे० री० पृ० १०९) और गेल्ड० (Vorwarts' Der RV. II, P 87) ने किया है।

घृतेन—यहाँ 'घृत' का अर्थ 'जल' या 'वर्षा' है। क्योकि यह वनस्पतियो को बढाता है।

वि उन्धि—'वि' उपसर्ग पूर्वक 'उन्दि क्लेदने' धा० का लोट्, म० पु०, ए० व० का रूप है

सुप्रपाणम्—यहाँ 'सुप्रपाणम्' का तात्पर्य केवल पीने योग्य पानी से ही नही है, जैसा कि सा० ने माना है, अपितु उन सुन्दर स्थानो से भी है जहाँ

गौओ के पीने योग्य पानी भर जाता है, जैसा कि ऋ० ६,२८,७ के 'शुद्धा अप सुप्रपाणे पिबन्ती.' (पानी पीने के सुन्दर स्थान मे शुद्ध जल का पान करती हुई) और ऋ० १०,४०,१३ के 'कृत तीर्थं सुप्रपाणम्' (पानी पीने का सुन्दर घाट युक्त स्थान बताया गया है)—से स्पष्ट है।

अघ्न्याभ्यः —'अघ्न्या' का अर्थ 'जो हनन करने योग्य नही' है जिससे 'गाय' अर्थ की प्राप्ति होती है। क्योकि 'गाय' को वैदिक युग से ही भारत मे हनन न करने योग्य माना गया है।

यत्पर्जन्य कनिक्रदत्स्तनयन् हंसि दुष्कृतः।
प्रतीदं विश्वं मोदते यत्किं च पृथिव्यामधि ॥ ९ ॥

पदपाठ

यत्। पर्जन्य। कनिक्रदत्। स्तनयन्। हंसि। दुःऽकृतः। प्रति। इदम्। विश्वम्। मोदते। यत्। किम्। च। पृथिव्याम्। अधि ॥ ९ ॥

सायण—हे पर्जन्य यत् यदा त्वं कनिक्रदत् अन्यर्थ शब्दयन् स्तनयन् दुष्कृतः पापकृतो मेघान् हंसि विदारयसि तदानीम् इदं विश्व जगत् प्रति मोदते। विश्वं विशेष्यते। यत्किं च पृथिव्यामधि भूम्यामधिष्ठितं यच्चराचरात्मकं तदिदं विश्वं मोदते हृष्यति। वृष्टेः सर्वजगत्प्रीतिकारणत्वं प्रसिद्धम् ॥

अनुवाद

हे पर्जन्य, जब तुम दहाड़ते और गरजते हुए दुष्कर्मियो का हनन करते हो तो इस पृथिवी के ऊपर जो भी है वह समस्त (समुदाय) हर्षित होता है।

टिप्पणी

हंसि—'हन्' धा० (मारना) का लट्, म० पु० ए० व० का रूप है।

अवर्षीर्वर्षमुदु षू गृभायाकर्धन्वान्यत्येतवा उ।
अजीजन ओषधीर्भोजनाय कमुत प्रजाभ्योऽविदो मनीषाम् ॥ १० ॥

पदपाठ

अवर्षीः। वर्षम्। उत्। ऊँ इति। सु। गृभाय। अकः। धन्वानि। अतिऽएतवै। ऊँ इति। अजीजनः। ओषधीः। भोजनाय। कम्। उत। प्रऽजाभ्यः। अविदः। मनीषाम् ॥ १० ॥

सायण—इयमतिवृष्टिविमोचनी। हे पर्जन्य त्वम् अवर्षीः वृष्टवानसि। वर्षमुदु षू गृभाय उत्कृष्टं सु सुष्ठु गृभाय गृहाण। परिहरेत्यर्थः। धन्वानि निरुदकप्रदेशान् अक. जलवत. कृतवानसि। किमर्थम्। अत्येतवा उ अतिक्रम्य गन्तुम्। ओषधी. अजीजनः उपपादय.। किमर्थम्। भोजनाय धनाय भोगाय वा। कम् इत्ययं 'शिशिर जीवनाय कम्' इतिवद् पादपूरणः (निरु० १,१०)। उत अपि च प्रजाभ्यः सकाशात् मनीषां स्तुतिम् अविदः प्राप्तवानसि॥

अनुवाद

हे पर्जन्य, तुम वर्षा कर चुके हो, अब अच्छी प्रकार रुक जाओ। तुमने मरुस्थल प्रदेशो को अतिक्रमण (गमन) करने योग्य बना दिया है। भोजन के लिए ओषधियो को उत्पन्न कर दिया है और प्रजाओ से स्तुति प्राप्त कर चुके हो।

टिप्पणी

अवर्षी.—'वृष सेचने' धा० का लुङ्, प्र० पु०, ए० व० का रूप। पाद के प्रारम्भ मे होने से उदात्त स्वर है अथवा 'अट्' के कारण 'अ' पर उदात्त है।

गृभाय—'ग्रह उपादाने' धा० का लोट्, म० पु०, ए० व० का रूप है।

अतिऽएतवै—'अति' पूर्वक 'इ' धा० का वैदिक तुमुन्नन्त रूप है।

अजीजनः—'जनी प्रादुर्भावे' का लुङ्, म० पु०, ए० व० का रूप है। पाद के आदि मे होने से इस पर उदात्त स्वर है।

अविदः—'विदिर् लाभे' धा० का लुङ्, म० पु०, ए० व० का रूप है। मुख्य क्रिया होने से तथा पादादि न होने से सर्वानुदात्त है (अनुदात्तं सर्वमपादादौ'—पा० ८,१,१८)।

पूषन्

ऋ० ६, ५३; ऋषि-भरद्वाज; छन्द—अनुष्टुप् (८) और शेष गायत्री।

वयमु त्वा पथस्पते रथं न वाजसातये। धिये पूषन्नयुज्महि॥ १॥

पदपाठ

वयम्। ऊँ इति। त्वा। पथः। पते। रथम्। न। वाजऽसातये। धिये। पूषन्। अयुज्महि॥ १॥

सायण—हे पथस्पते मार्गस्य पालयित पूषन् धिये कर्मार्थं वाजसातये अन्नस्य लाभाय च वयं रथं न युद्धे रथमिव त्वा त्वाम् अयुज्महि युञ्ज्महि । अस्मदभिमुखं कुर्मः । उ इति पूरक. ॥

अनुवाद

हे पूषन्, हम लोग बुद्धि (या कर्म) के लिये तुम्हे उसी प्रकार जोतते है (अपने साथ युक्त करते है) जैसे कि युद्ध के लिये रथ जोता जाता है।

टिप्पणी

वाजऽसातये—इसका अर्थ 'धन या उपहार की प्राप्ति के लिये' भी हो सकता है, जैसा कि गेल्ड० ने (Preisgewinn) किया है (Der. Rv. II, P. 157); क्योकि 'वाज' का अर्थ 'धन' भी है और 'सातये' को 'वन षण सभक्तौ' से निष्पन्न मानकर 'धन या उपहार की प्राप्ति के लिये' अर्थ कर सकते है। किन्तु 'वाज' की निष्पत्ति 'वज गतौ' से है (वाजी वेजनवान् भवति—निरु० २, २८) और इसे लेटिन 'Vegeo' (चलने वाला) के समीप मान सकते है। साथ ही 'वाजसातौ' को 'वाजसातौ महाधने' (नि० २, १७, ३६) के आधार पर भी 'युद्ध' अर्थ मे ग्रहण कर सकते है। 'रथम्' का प्रयोग इसके साथ 'युद्ध' अर्थ की पुष्टि करता है। दोनो अर्थ सगत है।

धिये—'धी' शब्द कर्म और बुद्धि दोनो अर्थों मे प्रयुक्त है।

अयुज्महि—'युज्' (जोतना) धा० का यह रूप ऋ० मे केवल यही पर आया है। यह लुङ्, उ० पु० ब० व० का रूप है जिसे वर्तमान अर्थ मे ग्रहण किया गया है। नियमत (लुङ्लङ्० पा० ६, ४, ७१) यहाँ पर उदात्त स्वर होना चाहिये, किन्तु वाक्य मे मुख्य क्रिया होने से नही है।

इस मन्त्र का जप कही यात्रा पर जाते समय किया जाता है (द्र० आश्व० गृ० सू० ३, ७, ८)।

अभि नो नर्यं वसु वीरं प्रयतदक्षिणम् । वामं गृहपतिं नय ॥ २ ॥

पदपाठ

अभि । नः । नर्यम् । वसु । वीरम् । प्रयतऽदक्षिणम् । वामम् । गृहऽपतिम् । नय ॥ २ ॥

सायण—हे पूषन नर्यं नृभ्यो हितं वसु धनम् अभि प्राप्तुं वीरं दारिद्र्यस्य विशेषेण ईरयितारं गमयितारं प्रयतदक्षिण पूर्वमन्येभ्योऽपि दत्तधनम्। यद्वा प्रयतं शुद्धं दक्षिण धनं यस्य तादृशम्। वामं वननीयमेवविध गृहपतिं गृहस्थं नः अस्मान् नय प्रापय ॥

अनुवाद

हे पूषन्, हमें पौरुषयुक्त धन और वीर एवं दक्षिणा देने वाले सुन्दर गृहपति की ओर ले चलो।

टिप्पणी

सा० ने 'नर्यम्' और 'वसु' को एक साथ अन्वित किया है, किन्तु यह (नर्यम्) 'गृहपति' का विशेषण भी हो सकता है। ऋषियो की प्रार्थना है कि जो गृहस्थ इन गुणो से युक्त हो उसकी ओर पूषन् हमे नेतृत्व प्रदान करें या ले चले।

प्रयतदक्षिणम्—यह समास ऋ० में अन्यत्र भी दो स्थलो पर आया है (१, ३१, १५, १०, १०७, ३)। अन्यत्र (१, ३१, १५) यह 'नरं' का विशेषण है। 'प्रयत' की निष्पत्ति 'प्र' + यम्' धा० (देना, प्रदान करना) से 'क्त' प्रत्यय करके होगी। अत समास का अर्थ 'जो दक्षिणा प्रदान कर चुके है' होगा।

वामम्—सायण ने इसका अर्थ 'वननीय' किया है किन्तु यह 'सुन्दर' अर्थ का द्योतक है जैसा कि गेल्ड० ने (liebwerten) किया है (Der. Rv. II, P. 157)। (विशेष विवेचन के लिये द्रष्टव्य—Oldenberg, Schon und Schonheit, etc.)।

अदि॑त्सन्तं चिदाघृणे॒ पूष॒न्दाना॑य चोदय। प॒णेश्चि॒द्वि म्र॑दा मनः॑ ॥ ३ ॥

पदपाठ

अदि॑त्सन्तम्। चि॒त्। आ॒घृ॒णे॒। पूष॑न्। दाना॑य। चो॒द॒य॒। प॒णेः। चि॒त्। वि। म्र॒द॒। मनः॑ ॥ ३ ॥

सायण—हे आघृणे अगतदीप्ते पूषन् अदित्सन्तं चित् दातुमनिच्छन्तमपि पुरुषं दानाय अस्मद्दानार्थं चोदय प्रेरय। पणेश्चित् वणिजोऽपि वार्धुषिकस्य लुब्धस्यापि मनः हृदयं वि म्रद दानार्थं मृदूकुरु ॥

अनुवाद

हे पूषन्, जो दान देने की इच्छा वाला न हो उस पुरुष को भी दान के लिये प्रेरित करो। अदानशील पणि के मन को भी विशेष रूप से मृदु करो।

टिप्पणी

अदि॑त्सन्तम्—ऋ० में यह शब्द केवल यही पर आया है। इसके विपरीत 'दित्सन्तम्' अन्य स्थलो पर भी आया है (ऋ० २,१४,१०, ७,३२,५; ८,८१, ३, ९,६१,२७)। 'दा' (देना) धातु से 'ईप्सा' (ईच्छा) अर्थ मे 'सन्' प्रत्यय करके (जिसमे 'सनि मीमाघुरभल०'—पा० सू० ७,४,५४ के आधार पर 'आकार' को 'इस्' आदेश होगा और 'लोपो अभ्यासस्य'—पा० सू० ७,४,४ के आधार पर अभ्यास (द्वित्व) का लोप और 'स स्यार्धधातुके'—पा० सू० ७,४,४९ के आधार पर सकार को तकार होगा) यह रूप बनेगा। इस प्रकार 'दित्सन्तम्' रूप से 'नञ्' समास में 'अदित्सन्तम्' होगा जिसका अर्थ 'जो दान देने की इच्छा वाला नही है' होगा।

आघृ॑णे—'आघृणि' शब्द का यह सम्बो० का रूप है। 'घृ क्षरणदीप्त्यो.' धा० से 'नि' प्रत्यय (घृणि पृश्नि···) करके 'ऋवर्णाच्चेति वक्तव्यम्' से 'न' का णत्व होकर यह रूप बनेगा। प्रादि समास के अन्तर्गत 'आमन्त्रितस्य च' (पा० ६,१,१९८) से आद्युदात्त स्वर है।

'आघृणि' विशेषण पूषन् के लिए बहुत बार आया है (द्र० ऋ० १,२३, १३; १४, ६,५३,९; ५५,१; ६,६२,७ आदि)।

वि प॒थो वाज॑सातये चिनु॒हि वि मृधो॑ जहि। साध॑न्तामुग्र नो॒ धियः॑ ॥ ४ ॥

पदपाठ

वि। प॒थः। वाज॑ऽसातये। चि॒नु॒हि। वि। मृध॑ः। ज॒हि। साध॑न्ताम्। उग्र॒। नः॒। धियः॑ ॥ ४ ॥

सायण—हे उग्र उद्‌गूर्णबल पूषन् पथः मार्गान् वाजसातये अन्नलाभाय वि चिनुहि। शोधितान् कुरु। यैः पथिभिर्गता धनं लभेमहि तादृशान् पथः पृथक्कुर्वित्यर्थः। मृध बाधकान् तस्करादीश्च वि जहि बाधस्व। तथा नः अस्माकं धिय. कर्माणि अन्नलाभार्थं क्रियमाणानि साधन्तां सिध्यन्तु। सफलानि भवन्तु ॥

अनुवाद

हे पूषन्, अन्नलाभ (या उपहार की प्राप्ति के लिये) मार्ग चुनो और हिंसकों का हनन करो। हे उग्र, हमारी बुद्धि को (या कर्मो को) साधित करो।

टिप्पणी

चिनुहि—'चि' (चुनना) धा० का लोट्, म० पु०, ए० व० का यह रूप ऋ० में केवल यही पर आया है। 'धातो.' (पा० ६, १, १६२) के आधार पर अन्तोदात्त स्वर है।

मृधः—'मृध' शब्द संग्रामवाची है इसलिये इसका अर्थ 'हिंसक' किया गया है। ऋग्वेद में सर्वत्र इसका सम्बन्ध हनन आदि कर्मों से है।

परि तृन्धि पणीनामारया हृदया कवे। अथेमस्मभ्यं रन्धय ॥ ५ ॥

पदपाठ

परि। तृन्धि। पणीनाम्। आरया। हृदया। कवे। अथ। ईम्। अस्मभ्यम्। रन्धय ॥ ५ ॥

सायण—हे कवे प्राज्ञ पूषन् पणीनां वणिजां लुब्धानां हृदया हृदयानि कठिनानि आरया। सूक्ष्मलोहाग्रो दण्डः प्रतोद इति आरा इति चाख्यायते। तया परि तृन्धि परिविध्य। हृद्गतं काठिन्यमपनयेत्यर्थः। अथ अनन्तरम् ईम् एनान् पणीन् अस्मभ्य रन्धय वशीकुरु ॥

अनुवाद

हे प्रज्ञावान् पूषन्, पणियों के हृदय को आरी से चारों ओर काटो तथा उन्हे हमारे लिये मारो या वश मे करो।

टिप्पणी

• **तृन्धि**—'तृद्' (हिंसा करना, काटना) धा० का लोट्, म० पु० ए० व० का रूप है।

✓**रन्धय**—'रधहिंसासंराद्ध्यो.' धा० का लोट्, म० पु०, ए० व० का रूप है। अतः इसका अर्थ 'हिंसा करो' या 'संराधित करो' (वश मे करो) दोनो संभव है। 'तृन्धि' क्रियापद के समानान्तर इसको रखने से यहाँ 'हिंसा करो'

या 'मारो' अर्थ अधिक संगत प्रतीत होता है। सा० ने 'वशीकुरु' (वश मे करो) व्याख्या यास्क के आधार पर की है, जिन्होने इसे 'रध्यतिर्वशगमने' (निरु० ६,३२) का रूप माना है, किन्तु अन्यत्र (ऋ० १,५१,८) सा० ने भी 'हिंसा करो' अर्थ ही उपयुक्त माना है। परन्तु प्रस्तुत सन्दर्भ में 'वश मे करना' अर्थ इसलिये उपयुक्त होगा, क्योकि आगे आने वाले मंत्र मे उनके हृदय मे दान की इच्छा जागृत करने की प्रार्थना की गई है।

वि पूषन्नारया तुद पणेरिच्छ हृदि प्रियम्। अथेमस्मभ्यं रन्धय ॥ ६ ॥

पदपाठ

वि। पूषन्। आरया। तुद। पणेः। इच्छ। हृदि। प्रियम्। अथ। ईम्। अस्मभ्यम्। रन्धय ॥ ६ ॥

सायण—हे पूषन् आरया प्रतोदेन पणे वणिजः हृदयं वि तुद विविध्य। तस्य पणेः हृदि हृदये प्रियम् अस्मभ्यम् अनुकूलं धनम् इच्छ दातव्यमितीच्छां जनय। अथ अनन्तरम् अस्मभ्यम् ईम् एनान् रन्धय वशीकुरु ॥

अनुवाद

हे पूषन्, पणि के हृदय मे आरी से वेधन करो और प्रिय होने की इच्छा करो (इच्छा को जागृत करो), हमारे लिये इनको वश मे करो।

टिप्पणी

तुद—'तुद्' (कष्ट देना, पीडा पहुँचाना) धा० का लोट्, म० पु०, ए० व० का रूप है।

आ रिख किकिरा कृणु पणीनां हृदया कवे। अथेमस्मभ्यं रन्धय ॥ ७ ॥

पदपाठ

आ। रिख। किकिरा। कृणु। पणीनाम्। हृदया। कवे। अथ। ईम्। अस्मभ्यम्। रन्धय ॥ ७ ॥

सायण—हे कवे प्राज्ञ पूषन् पणीना वणिजां हृदया हृदयानि आ रिख आलिख। आलिख्य च किकिरा कीर्णानि प्रशिथिलानि कृणु कुरु। मृदूनि कुर्वित्यर्थः। अन्यद् गतम् ॥

अनुवाद

हे मेधावि पूषन्, पणियों के हृदय को उत्कीर्ण तथा विकीर्ण करो। हमारे लिये उनको वश मे करो।

टिप्पणी

रिख—यह क्रियापद केवल इस तथा अगले मंत्र मे ऋ० मे आया है। यह 'रिख्' या 'लिख्' (चित्रित करना, उत्कीर्ण करना, लिखना) धा० का लोट्, म० पु०, ए० व० का रूप है।

किकिरा—यह शब्द भी केवल इन्ही दो मन्त्रो मे आया है। सा० की 'शिथिल या मृदु करो' व्याख्या खीचा-तानी की है। वास्तविक रूप में यह विलेखन के समय जो किरकिराहट की ध्वनि होती है उसी का शब्दानुकरण मात्र है जैसा कि वें० मा० की 'किकिरेति शब्दानुकरणम्' (ऋगर्थ दीपिका, भा० ४, पृ० ६५२) से स्पष्ट है।

यां पूषन्ब्रह्मचोदनीमारां बिभर्ष्याघृणे।
तया समस्य हृदयमा रिख किकिरा कृणु॥ ८॥

पदपाठ

याम्। पूषन्। ब्रह्मऽचोदनीम्। आराम्। बिभर्षि। आघृणे।
तया। समस्य। हृदयम्। आ। रिख। किकिरा। कृणु॥ ८॥

सायण—हे आघृणे आगतदीप्ते पूषन् ब्रह्मचोदनीम् ब्रह्मणोऽन्नस्य प्रेरयित्री याम् आरां बिभर्षि हस्ते धारयसि तया समस्य सर्वस्य लुब्धजनस्य हृदयम् आ रिख आलिख। किकिरा किकिराणि कीर्णानि प्रशिथिलानि च कृणु कुरु॥

अनुवाद

हे प्रकाशमय पूषन्, मत्र प्रेरित करने वाली जिस आरी को तुम धारण करते हो उसी के द्वारा प्रत्येक के हृदय को लिखो और विकीर्ण करो।

टिप्पणी

समस्य—सा० ने ऋ० मे सर्वत्र 'सम' का अर्थ 'सर्व' माना है। किन्तु इसका अर्थ या तो 'कुछ' है या 'प्रत्येक' और यह सदा सर्वानुदात्त है (द्र० 'त्वत्त्वसमसिमेत्यनुच्चानि'—फिट् सू० ४,१०)।

या ते॒ अष्ट्रा॒ गोओ॑पशाघृ॑णे पशु॒साध॑नी । तस्या॑स्ते सु॒म्नमी॑महे ॥ ९ ॥

पदपाठ

या । ते॒ । अष्ट्रा॑ । गोऽओ॑पशा । आघृ॑णे । पशु॒ऽसाध॑नी । तस्याः॑ । ते॒ । सु॒म्नम् । ई॒म॒हे॒ ॥ ९ ॥

सायण—हे आघृणे आगतदीप्ते पूषन् ते त्वदीया या अष्ट्रा आरा गोओपशा । उपशेरते इत्योपशाः । गाव ओपशा यस्यास्तादृशी । अतएव पशुसाधनी पशूनां साधयित्री भवति ते त्वदीयायाः तस्याः सम्बन्धि सुम्नं सुखम् ईमहे याचामहे ॥

अनुवाद

हे दीप्तिमान् पूषन्, तुम्हारी जो गौओं के समीप या पीछे चलने वाली पशुओ को साधने वाली आरी है उसकी मित्रता की हम याचना करते है ।

टिप्पणी

अष्ट्रा—यह शब्द ऋ० मे केवल चार बार आया है (ऋ ४,५७,४, ६,५३, २; १०,१०२,८) । यह 'आरा' के लिये प्रयुक्त है ।

गोओ॑पशा—इस समास मे 'ओपश' शब्द सन्देह जनक है । सा० ने इसकी व्याख्या 'समीप मे जो शयन करती है अर्थात् सीग' की है । इस प्रकार इसे 'उप + शी' (शयन करना) धा० से निष्पन्न मान सकते हैं । सामासिक रूप मे यह केवल यही पर आया है । अन्यत्र ओपशः (१०,८५,८), ओपशम् (१,१७३,६, ८,१४,५, ९,७१,१) रूप आये है । ऋ० १०,८५,८ से इसका अर्थ 'पीछे या समीप चलने वाला'—प्रतीत होता है जहाँ ठीक इसके विपरीत 'अग्नि' को 'पुरोगव ' कहा गया है । पूषन् पशुओ के पीछे चलकर उन्हे अपने चाबुक से साधते है, यह भाव यहाँ प्रकट होता है ।

उ॒त नो॑ गो॒षणिं॒ धियं॑मश्व॒सां वा॑ज॒सामु॒त । नृ॒वत्कृ॑णुहि वी॒तये॑ ॥ १० ॥

पदपाठ

उ॒त । नः॒ । गो॒ऽसनि॑म् । धिय॑म् । अ॒श्व॒ऽसाम् । वा॒ज॒ऽसाम् । उ॒त । नृ॒ऽवत् । कृ॒णु॒ हि॒ । वी॒तये॑ ॥ १० ॥

सायण—उत अपि च हे पूषन् गोषणिं गवां सनित्रीम् अश्वसाम् अश्वानां सनित्री वाजसां वाजानां अन्नानां सनित्रीम् उत अपि च नृवत् नृवती यद्वा नृणां वनित्रीं दात्रीमेवंभूतां धियं बुद्धिं कर्म वा नः अस्माकं वीतये खादनायोपभोगार्थं कृणुहि कुरु ॥

अनुवाद

हे पूषन्, हमारी बुद्धि को गोदान, अश्वदान, धनदान और मानवीय गुणो से युक्त करो जिससे हम इनका उपभोग कर सके ।

टिप्पणी

गोसनिंम्—यह 'गो' और 'सनिम्' युक्त समास है जिससे 'सनिम्' पद 'सन्' (दान करना) धा॰ से निष्पन्न है ।

वीतये—यह शब्द 'वी गति प्रजनकान्त्यशनखादनेषु' से 'क्तिन्' प्रत्यय करके बना है और पा॰ ३,३,९६ के आधार पर उदात्त स्वर युक्त है ।

आपः

ऋ० ७,४९; ऋषि–मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः; छन्द-त्रिष्टुभ्

समुद्रज्येष्ठाः सलिलस्य मध्यात्, पुनाना यन्त्यनिविशमानाः ।
इन्द्रो या वज्री वृषभो रराद्, ता आपो देवीरिह मामवन्तु ॥ १ ॥

पदपाठ

समुद्रऽज्येष्ठाः । सलिलस्य । मध्यात् । पुनानाः । यन्ति । अनिऽविशमानाः । इन्द्रः । याः । वज्री । वृषभः । ररादं । ताः । आपः । देवीः । इह । माम् । अवन्तु ॥ १ ॥

सायण—समुद्रज्येष्ठाः । समुद्रोऽर्णवो ज्येष्ठः प्रशस्यतमो यासामपां ताः । सलिलस्य । अन्तरिक्षनामैतत् । अन्तरिक्षस्य मध्यात् माध्यमिकात् स्थानात् यन्ति गच्छन्ति । कीदृश्यः । पुनानाः विश्वं शोधयन्त्य अनिविशमानाः सर्वदा गच्छन्त्यः । वज्री वज्रभृत् वृषभः कामानां वर्षिता इन्द्रः या निरुद्धा अपः ररादु लिखति देवी. देव्यः ता आप इह अस्मिन् प्रदेशे स्थितं मामवन्तु रक्षन्तु अभिगच्छन्तु वा ॥

अनुवाद

अन्तरिक्ष के मध्य से स्वय को पवित्र करती हुयी निरन्तर गति से वे आपः देवियाँ, जिनका ज्येष्ठ रूप समुद्र है, गमन करती है। वज्रधारी बलवान् इन्द्र ने जिनका विलेखन किया, वे आपः देवियाँ यहाँ पर मेरी रक्षा करे।

टिप्पणी

समुद्रज्येष्ठा – यहाँ 'समुद्र' पार्थिव तथा 'सलिल' स्वर्गीय समुद्र का परिचायक है। इन्ही को क्रमश अधर और उत्तर समुद्र कहा गया है, जिनमें उत्तर समुद्र से वर्षा की सृष्टि होती है (स उत्तरस्मादधर समुद्रमयो दिव्या असृजत्'''ऋ० १०,९८,५) तथा दोनो मे आपः देवियाँ निवास करती है (ऋ० १०,९८,६)।

पुनाना —इसका अर्थ 'दूसरो को पवित्र करने वाली या स्वयं को पवित्र करने वाली' दोनो हो सकता है, जैसा कि ऋ० ३,३१,१६ मे 'मध्व पुनाना कविभि पवित्रैः' से ज्ञात है।

ररादं—'रद् विलेखने' धा० का लिट्, प्र० पु०, ए० व० का रूप है, जो ऋ० मे केवल यही पर आया है।

या आपो दिव्या उत वा स्रवन्ति खनित्रिमा उत वा याः स्वयंजाः।
समुद्रार्था याः शुचयः पावकास्ता आपो देवीरिह मामवन्तु ॥ २ ॥

पदपाठ

याः। आपः। दिव्याः। उत। वा। स्रवन्ति। खनित्रिमाः। उत। वा। याः। स्वयम्ऽजाः। समुद्रऽअर्थाः। याः। शुचयः। पावकाः। ताः। आपः। देवीः। इह। माम्। अवन्तु ॥ २ ॥

सायण—या आपो दिव्या अन्तरिक्षभवाः सन्ति। उत वा अपि च याः आपः नद्यादिगताः सत्यः स्रवन्ति गच्छन्ति। खनित्रिमाः खननेन निर्वृत्ताः। उत वा अपि च याः स्वयंजाः स्वयमेव प्रादुर्भवन्त्य समुद्रार्थाः। समुद्र एवार्थो गन्तव्यो यासां ताः समुद्रार्थाः। शुचयः दीप्तियुक्ताः पावकाः शोधयित्र्यश्च भवन्ति। ता आपः मामवन्तु इति ॥

अनुवाद

जो आप: देवियाँ दिव्य है (अन्तरिक्ष मे उत्पन्न हुई है) या जो भूमि पर प्रवाहित होती हैं अथवा जो खोदी गई है (कूप आदि सम्बन्धी) अथवा जो स्वय उत्पन्न हुई है (स्रोतदि) तथा जा दीप्तियुक्त और शोधक है जिनका गन्तव्य समुद्र है वे सभी मेरी रक्षा करे।

टिप्पणी

दिव्याः—यहाँ पर वर्षा रूप में आकाश से गिरने वाले जल का संकेत है।

स्रवन्ति—वे जल धाराये जो पृथिवी पर प्रवाहित होती हैं। वेलण्कर ने इन्हें 'स्रोतादि' माना है, किन्तु स्रोतादि को 'स्वयंजा' के अन्तर्गत मानना अधिक सगत होगा जिन्हे उन्होने झीलो के अन्तर्गत माना है (द्र० ऋ० सप्तम मण्डल, अनुवाद, टिप्पणी—पृ० ११६)।

खनित्रिमाः—वे आप देवियाँ जो खने गये कूपादि से सम्बन्धित हैं।

समुद्रार्थाः—समुद्र जिनका अर्थ (गन्तव्य) है वे आपः देवियाँ अर्थात् महान् नदियाँ जो समुद्र तक जाती है।

'अर्थ' शब्द की निष्पत्ति अर् (गमन करना) धा० से 'थन्' प्रत्यय ('उषिकुषिगार्तिभ्यस्थन्—' उ० सू० २, १६१) करके होगी जो 'नित्व' होने से आद्युदात्त होगा (पा० ६,१,१९७) किन्तु यहाँ ब० व्री० समास के कारण पूर्वपद उदात्त है (पा० सू० ६,२,१)।

यासां राजा वरुणो याति मध्ये सत्यानृते अवपश्यञ्जनानाम्।
मधुश्चुतः शुचयो याः पावकास्ता आपो देवीरिह मामवन्तु ॥ ३ ॥

पदपाठ

यासाम्। राजा। वरुणः। याति। मध्ये। सत्यानृते इति। अवऽपश्यन्। जनानाम्। मधुऽश्चुतः। शुचयः। याः। पावकाः। ताः। आपः। देवीः। इह। माम्। अवन्तु ॥ ३ ॥

सायण—वरुण. यासाम् अपां राजा स्वामी मध्ये मध्यमलोके याति गच्छति। किं कुर्वन्। जनानां प्रजानां सत्यानृते सत्यं चानृतं च अवपश्यन्। जानन्नित्यर्थ.। याः आपः मधुश्चुत. रस क्षरन्त्यः शुचयः दीप्तियुक्ताः पावकाः शोधयित्र्यः। ता आपः देव्य. मां रक्षन्तु इति ॥

अनुवाद

जिनके मध्य मे राजा वरुण मनुष्यो के सत्य-असत्य का अवेक्षण करते हुये गमन करते है तथा जो मधु का क्षरण करने वाली दीप्त और स्वयं पवित्र (या दूसरो को पवित्र करने वाली) आपः देवियाँ है वे मेरी रक्षा करे।

टिप्पणी

यासा॑म्—इस पद का सम्बन्ध 'राजा' और 'मध्ये' दोनो पदों से सम्भव है। क्योकि वरुण को जल का राजा भी कहा गया है (द्र० ऋ० ७,६४,२, अथर्व० ५,२४,५)।

मधुश्चुतः—नदियो को मधु का क्षरण करने वाली कहा गया है—'मधु वाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धव' (ऋ० १,७२,१०)। इसलिये आप देवियाँ यहाँ पर 'मधुश्चुत' कही गई है। किन्तु 'मधु' क्या है ? ऋ० मे सोम को 'मधु' कहा गया है, किन्तु सर्वत्र सोम मधु है, यह बात सगत नही प्रतीत होती। 'मधु' अमृत, शहद, मिष्टान्न आदि का द्योतक है। इसके समान इण्डो-यूरो० अन्य भाषाओ मे भी शब्द मिलते है। अवेस्ता मे 'मदु' (जैसे—'गाँम्च ह्वास्तॅम्''' मदु च अनापॅम्'—वेन्दीदाद् ५,५२); केल्टिक 'मिद्', जरमन 'मेदो' या 'मेट्', लिथुआनियन 'मिदुस्', फ्रेंच 'मेद्', स्लाविक 'मेदु', इलीरियन 'मदीवु' आदि 'मधु' से तादात्म्य रखने वाले शब्द है जिनका अर्थ 'शहद' या 'शराब' है (विशेष रूप से द्र० एच० ल्यूडर्स वरुण, भा० २, पृ० ३३९-३५०)।

यासु राजा वरु॑णो यासु सोमो॒ विश्वे॑ दे॒वा यासूर्जं॒ मद॑न्ति।
वै॒श्वा॒न॒रो यास्व॒ग्निः प्रवि॑ष्ट॒स्ता आपो॑ दे॒वीरि॒ह माम॑वन्तु ॥ ४॥

पदपाठ

यासु॑ । राजा॑ । वरु॑णः । यासु॑ । सोमः॑ । विश्वे॑ । दे॒वाः । यासु॑ । ऊर्ज॑म् । मद॑न्ति । वै॒श्वा॒न॒रः । यासु॑ । अ॒ग्निः । प्रवि॑ष्टः । ताः । आप॑ः । दे॒वीः । इ॒ह । माम् । अ॒व॒न्तु ॥ ४॥

सायण—अपां राजा वरुणः यासु अप्सु वर्तते। सोमः यासु अप्सु वर्तते। यासु अप्सु स्थिताः विश्वे सर्वे देवाः ऊर्जं अन्नं मदन्ति। वैश्वानरः अग्नि. यासु प्रविष्टः। ताः आपः देव्यः इह स्थितं मामवन्तु ॥

अनुवाद

जिनमे राजा वरुण, जिनमे सोम और जिनमे सभी देवतागण अन्न का आनन्द लेते है तथा जिनमे वैश्वानर अग्नि प्रविष्ट है वे आप. देवियाँ मेरी रक्षा करे ॥

टिप्पणी

ऊर्जम्—'ऊर्क्' शब्द अनेकार्थवाची है। यह 'अन्न' (नि० २,७) का पर्याय माना गया है किन्तु इसके साथ ही इसके 'रस', 'जल', 'वल' आदि अर्थ भी किये गये है। यहाँ पर यह 'मदन्ति' क्रियापद के कर्म के रूप में है।

वरुण, सोम, वैश्वानर, अग्नि आदि का सम्बन्ध जल से होने के कारण यहाँ पर सभी को आप· देवियो में समाविष्ट माना गया है।

वास्तोष्पति

ऋ० ७,५४—ऋषि-वसिष्ठ; छन्द-त्रिष्टुभ्

वास्तोष्पते प्रति जानीह्यस्मान्त्स्वावेशो अनमीवो भवा नः ।
यत्त्वेमहे प्रति तन्नो जुषस्व शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे ॥ १ ॥

पदपाठ

वास्तोः । पते । प्रति । जानीहि । अस्मान् । सुऽआवेशः । अनमीवः । भव । नः । यत् । त्वा । ईमहे । प्रति । तत् । नः । जुषस्व । शम् । नः । भव । द्विऽपदे । शम् । चतुःऽपदे ॥ १ ॥

सायण—हे वास्तोष्पते गृहस्य पालयितर्देव त्वम् अस्मान् त्वदीयान् स्तोतॄनिति प्रति जानीहि प्रबुध्यस्व। तदनन्तर नः अस्माकं स्वावेशः शोभन-निवेश. अनमीव. अरोगकृच्च भव। किंच वयं त्वा त्वां यत् धनम् ईमहे याचामहे त्वमपि तत् धनं नः अस्मभ्यं प्रति जुषस्व प्रयच्छ। अपि च नः अस्माकं द्विपदे पुत्रपौत्रादिजनाय शं सुखकर. भव। चतुष्पदे अस्मदीयाय गवाश्वादिवर्गाय च शं सुखकरो भव ॥

अनुवाद

हे गृहपति, हमको जानो और हमारे लिये शुभागमन और आरोग्य-शील होओ। जो कुछ हम तुमसे माँगे उसे हमे प्रदान करो। हमारे द्विपद (पुत्रादि) और चतुष्पदों (पशुओं) के लिये कल्याणकारी बनो।

टिप्पणी

प्रति॑ जा॒नी॒हि॒—तुलना कीजिये—ऋ० ३,४५,४ 'आ नस्तुजं रयिं भराशं न प्रतिजानते' (हमे धन लाओ जिससे हम दूसरो को परास्त करें, उसके समान जो बदले मे कुछ देने को कहता है), या अथर्व० १८,४,५१ 'प्रति त्वा जानन्तु पितर.' (पितृगण तुझे बदले में जानें)।

'प्रतिजानन्' के द्वारा दो व्यक्तियो के आपसी सम्बन्धों का भाव प्रकट होता है जिसमे एक व्यक्ति दूसरे को कुछ देने की प्रतिज्ञा करता है। इसी के समान भाव ऋ० १,१०२,४, २,३०,५, ६,४४,१८ आदि में मिलते है।

स्वा॒वे॒शः (सु + आवेशः)—यह 'शुभागमन' का प्रतीक है। रोठ ने अपने 'Siebenzig Lieder' (सत्तर सूक्त) मे इसका अनुवाद—'आगमन के लिये शुभाशिष् दो' किया है। अपने सं० कोश मे इसका अर्थ 'Moglich zu begehen' (प्रवेश के लिये आसान या सरल) किया है (द्रष्टव्य–संस्कृत व्योर्टरबुख)। सुआवेश और अनमीवः (रोगरहित)—ये दोनो वास्तोष्पति के विशेषण है।

यत् त्वा॒ ईम॑हे—यह मंत्राश अन्यत्र (ऋ० ५,५३,१३; ७,१६,४, ७,९४, ९, ८,१३,५, १०,३६,१०) भी आता है। इसका अर्थ है—'जो हम तुमसे माँगते है' 'वह तुम हमे प्रदान करो' (प्रति तत् न जुषस्व)। यत् और तत् यहाँ सर्वनाम है। 'प्रति जुषस्व'—'उसे तुम हमारे लिये सेवन करो' शाब्दिक अर्थ है जिसका भाव है—'जो हम तुमसे चाहते हैं उसे तुम अन्यत्र से ग्रहण करो और तब हमे दो'।

शं नो॑ भव—यह पाद जगती छन्द में है और अन्यत्र भी आया है (द्र० ऋ० ६,७४,१; १०,८५,४४, १६५,१)। इसके विस्तृत अर्थ के लिये द्रष्टव्य—मैक्समूलर, वेदिक हिम्स, प्रथम भाग पृ० १९०–४ (SBE. Vol. 32)

वास्तो॑ष्पते प्र॒तर॑णो न एधि गय॒स्फानो॒ गोभि॒रश्वे॑भिरिन्दो।
अ॒जरा॑सस्ते सख्ये स्या॑म पि॒तेव॑ पुत्रान्प्रति॑ नो जुषस्व ॥ २ ॥

पदपाठ

वास्तोः॑। प॒ते॒। प्र॒ऽतर॑णः। न॒ः। ए॒धि॒। ग॒य॒ऽस्फानः॑। गोभिः॑। अश्वे॑भिः। इ॒न्दो॒ इति॑। अ॒जरा॑सः। ते॒। स॒ख्ये। स्या॒म॒। पि॒ताऽइ॑व। पुत्रान्। प्रति॑। न॒ः। जु॒ष॒स्व॒ ॥ २ ॥

सायण—हे वास्तोष्पते गृहस्य पालयितर्देव त्वं नः अस्माकं प्रतरण प्रवर्धकः गयस्फान. गयस्य अस्मदीयस्य धनस्य स्फाययिता प्रवर्धकः एधि भव। हे इन्दो सोमवदाह्लादक ते त्वया सह सख्ये सति वय गोभि पशुभिः अश्वेभिः अश्वैश्च सहिताः अजरास जरारहिताः स्याम भवेम। विनाशरहिता इत्यर्थः। पितेव पुत्रान् यथा पिता पुत्रान् रक्षकत्वेन सेवते तथा त्वमपि नः अस्मान् प्रति जुषस्व सेवस्व ॥

अनुवाद

हे गृहपति, हमारे प्रवर्धक रूप मे तुम आओ। हे सोमरूप, गायो और अश्वो के साथ हमारी सम्पत्ति को वर्धित करते हुये आओ। तुम्हारी मित्रता मे हम वार्धक्यरहित हो और हमे तुम उसी प्रकार स्वीकार करो जैसे पिता अपने पुत्रों को (स्वीकार करता है या पालन करता है)।

टिप्पणी

प्रतरंणः—प्र + तॄ (वर्धित करना, तारना, पार करना) से निष्पन्न 'प्रतरण' का अर्थ है 'जीवन को बढाने वाला'। इसकी तुलना ऋ० १,२५, १२, ९१,१९, ११६,१०, ८,४८,४; ७, ११ आदि से कर सकते है।

गयस्फानः—यह शब्द ऋ० मे अन्यत्र केवल दो बार आया है (ऋ० १, ९१, १२; १९) जहाँ यह सोम का विशेषण है। सा० ने 'गय' को धन का पर्याय माना है और 'स्फान' को 'स्फायी वृद्धौ' ('स्फा' धा० वृद्धि कराने अर्थ में) से निष्पन्न मानकर इसका अर्थ—'धन का वर्धक' किया है। दूसरे मन्त्र मे (१, ९१, १९) 'गय' को 'गृह' का पर्याय माना है जिससे स्पष्ट है कि सा० को इसके अर्थ पर सन्देह था। 'स्फानः' की तुलना ऋ० १, १८८, ९ के 'तेषा न. स्फानिमा यज' (हमारे लिये उन पशुओ की वृद्धि करो) अश से कर सकते है। ऋ० १, ९,१ में जो मन्त्र सोम के लिये आये है और उनमे सोम सम्बन्धी जो भी विशेषण तथा विशेष शब्द समूह है वे सभी प्राय प्रस्तुत सूक्त में 'वात' के साथ जुडे हुये है। उदाहरणार्थ—'प्रतरण' (१, ९१, १२, १९); गयस्फान (१, ९१, १२, १९), अमीवहा (१, ९१, १२), नः आ विश (१, ९१, ११), सखा सुशेव एधि नः (१, ९१, १५) आदि। इस प्रकार 'वात' और सोम में बहुत साम्य है। सोम को 'पवमान' कहा जाता है जो 'वात' के 'पवन' पर्याय के समीप है। इस तुलना के आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि प्रस्तुत सूक्त (७, ५४) की रचना ऋ० १, ९१ के बाद ही हुई होगी जिसका प्रभाव शैली आदि पर पडा।

जहाँ तक 'गयस्फान.' के अर्थ का प्रश्न है वह सायणादि द्वारा किये गये अर्थ से भिन्न प्रतीत होता है। रोठ और ग्रासमान ने भी 'गय' का अर्थ 'गृह' या 'गृहस्थ' माना है। वेलणकर ने भी 'गय' का अर्थ 'सम्पत्ति' किया है और इसे 'जि जये' (जीतना) से निष्पन्न माना है (द्रष्टव्य—ऋ० सप्तम मण्डल, पृ० १२१)। एस० एस० भावे ने भी इसका अर्थ 'सम्पत्ति' (Possessions) किया है और इसे गेल्डनर के आधार पर 'वेद' (धन) के समान माना है। अर्थ के समीप पहुँचते हुए भी ये व्याख्याकार सही और सन्तोषजनक अर्थ प्रदान करने में असमर्थ प्रतीत होते हैं।

'गय'—शब्द को अवेस्ता के 'गय–' शब्द के साथ तुलना की जा सकती है। अवेस्ता के यस्न ९, १ मे जरथुश्त्र ने 'हओम' (सोम) को देखकर कहा—

'अस्त्वतो स्रअेश्तॅम् दादरॅस ख्वहे गयेहे ख्वन्वतो अमेषहे'

(तुम कौन हो) जिसे मैं अस्थिवाले प्राणियो मे श्रेष्ठ, जीवधारियो मे प्रकाशवान् और अमरो मे तेजस्वी देखता हूँ। अत. 'गय–' का सीधा अर्थ 'जीवन' (Life) होगा जिसे 'जि' (जीवित रहना) धातु से निष्पन्न कर सकते हैं ('जि जये' से नही)। इसी के समान अवेस्तन 'गयेथा', लिथु० 'गयुस्', आदि भी हैं।

ऋ० मे सूर्य को समस्त विश्व के 'गय' (जीवन) की रक्षा करते हुये कहा गया है—'ग्रस रक्षन्त परि विश्वत गयम्' (ऋ० ५, ४४, ७)। इसी प्रकार अन्य अनेक सन्दर्भो (जैसे—ऋ० ५, १०, ३; ६, ७१, ३, ७४, २, ८, २४, २२) से 'गय–' का अर्थ 'जीवन' ही प्रतीत होता है।

वास्तोष्पते शग्मया संसदा ते सक्षीमहि रण्वया गातुमत्या।
पाहि क्षेम उत योगे वरं नो यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ ३ ॥

पदपाठ

वास्तोः। पते। शग्मया। सम्ऽसदा। ते। सक्षीमहि। रण्वया। गातुऽमत्या। पाहि। क्षेमे। उत। योगे। वरम्। नः। यूयम्। पात। स्वस्तिऽभिः। सदा। नः ॥ ३ ॥

सायण—हे वास्तोष्पते देव शग्मया सुखकर्या रण्वया रमणीयया गातुमत्या धनवत्या ते त्वया देयया संसदा स्थानेन सक्षीमहि वयं संगच्छेमहि। त्वमपि क्षेमे प्राप्तस्य रक्षणे उत अपि च योगे अप्राप्तस्य प्रापणे वरं

वरणीयं न. अस्मदीयं धनं पाहि रक्ष । हे वास्तोष्पते यूयं त्वं न. अस्मान् सर्वदा कल्याणै. पात पाहि ॥

अनुवाद

हे गृहपति, हम लोग तुम्हारी सक्षम, साधन सम्पन्न और रमणीय ससद (मित्रता) के साथ रहने मे समर्थ हो। हमारी इच्छानुसार तुम हमारे क्षेम और योग मे रक्षा करो। आपलोग अपने कल्याणकारी कार्यो द्वारा हमारी सदैव रक्षा करे।

टिप्पणी

शग्मया—इसे 'शक्' (समर्थ होना) धा० से निष्पन्न करने के कारण इसका अर्थ 'सक्षम' करना अधिक उचित होगा।

गातुमत्या (संसदा)—'गातु' को 'गा' (गमन करना) धा० से निष्पन्न करने पर इसका अर्थ 'साधन सम्पन्न ससद' करना उचित होगा।

क्षेमे–योगे—'क्षेम' की परिभाषा 'योग' के साथ इस प्रकार है—'अप्राप्तस्य प्राप्ति: योग. तस्य रक्षण क्षेम.' (अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति करना 'योग' है और उस 'योग' की रक्षा करना 'क्षेम' है)। सा० ने भी यही अर्थ ग्रहण किया है।

अश्विनौ

ऋ० ७, ७१—ऋषि–वसिष्ठ; छन्द–त्रिष्टुभ्

अप स्वसुरुषसो नग्जिहीते रिणक्ति कृष्णीररुषाय पन्थाम् ।
अश्वामघा गोमघा वां हुवेम दिवा नक्तं शरुमस्मद्युयोतम् ॥ १ ॥

पदपाठ

अप । स्वसुः । उषसः । नक् । जिहीते । रिणक्ति । कृष्णीः । अरुषाय । पन्थाम् । अश्वऽमघा । गोऽमघा । वाम् । हुवेम । दिवा । नक्तम् । शरुम् । अस्मत् । युयोतम् ॥ १ ॥

सायण—स्वसु स्वसृस्थानीयाया. उषसः सकाशात् नक् नक्तं रात्रि: अप जिहीते अपगच्छति । तस्या अवकाशं दत्त्वा स्वयमपगता इत्यर्थः । 'स्वसा स्वस्रे ज्यायस्यै योनिमारैक्' (ऋ० सं० १, १२४, ८) इत्युक्तम् । कृष्णी.

कृष्णवर्णा रात्रिः अरुषाय आरोचमानायाह्ने सूर्याय वा पन्थां पन्थानं मार्गं रिणक्ति रेचयति। यस्मादेवं तस्माद्युवयोरागमनसमयत्वात् हे अश्वामघा अश्वधनौ हे गोमघा गोधनौ। उभयो. प्रदातारावित्यर्थः। ईदृशौ वां युवां हुवेम स्तुमः। आह्वयाम। दिवा नक्तं सर्वदा शरुं हिंसकम् अस्मत् अस्मत्तः युयोतं पृथक्कुरुतम् ॥

अनुवाद

रात्रि अपनी बहन उषा से विलग होती है। काली (रात्रि) अरुण (सूर्य) के लिये मार्ग छोड़ती है। हे अश्वधन, गोधन वाले! तुम दोनो (अश्विनो) का हम लोग आह्वान करते है। अहर्निशि (तुम) हमसे हिसक को अलग करो।

टिप्पणी

नक्—यह शब्द ऋ० मे केवल यही पर आया है। इसकी निष्पत्ति 'नश्' या 'नंश्' धा० (व्याप्त होना, पहुँचना, मिलना) से होगी। लेटिन 'नक्-तुस', 'नक् सुम्', लिथुआनियन —'नेस्ज्ति', स्लाविक 'नेस्ति' इत्यादि शब्दो को इसके समीप रखा जा सकता है।

(अप)—जिहीते—'हा' (त्यागना) धा० का लट्, प्र० पु० ए० व० का आत्मनेपद रूप है।

उषसः —उषस् का पचमी विभक्ति ए० व० का रूप है जो 'स्वसु' के साथ अन्वित है।

कृष्णी —रात्रि के लिये आया है। इसकी तुलना ऋ० १, ११३, २ के 'श्वेत्यागात्'''कृष्णा सदनानि अस्या.' से कीजिये जहाँ 'श्वेत्या' उषस् है और 'कृष्णा' रात्रि है।

रिणक्ति—'रिच्' धा० (छोडना) का प्र० पु० ए० व०, लट् का रूप।

युयोतम्—'यु' (अलग करना) धा० का लोट्, म० पु० द्वि० व० का रूप।

उपायातं दाशुषे मर्त्याय रथेन वाममश्विना वहन्ता।
युयुतमस्मदनिराममीवां दिवा नक्तं माध्वी त्रासीथां नः ॥ २ ॥

पदपाठ

उपऽआयातम्। दाशुषे। मर्त्याय। रथेन। वामम्। अश्विना। वहन्ता। युयुतम्। अस्मत्। अनिराम्। अमीवाम्। दिवा। नक्तम्। माध्वी इति। त्रासीथाम्। नः ॥ २ ॥

सायण—हे अश्विनौ युवाम् उपायातम् उपागच्छतमस्मदाह्वान प्रति। किमर्थम्। दाशुषे हविषां दात्रे यजमानाय तदर्थं रथेन वामं वननीयं धनं वहन्ता वहन्तौ। अस्मत् अस्मत्त. युयुतं पृथक् कुरुतम्। किम्। अनिराम्। इरान्नम्। तदभाव दारिद्र्यमित्यर्थ.। अमीवां रोग च। हे माध्वी मधुमन्तौ युवां नः अस्मान् दिवा नक्तं सर्वदा त्रासीथां रक्षतम्॥

अनुवाद

हे अश्विनद्वय! रथ के द्वारा सुन्दर (उपहार) का वहन करते हुए उदार व्यक्ति के लिये समीप आओ। हे मधुमय, अहर्निशि हमसे दुर्भिक्ष और रोग को अलग करो। तुम दोनो हमारी रक्षा करो।

टिप्पणी

उप-आ-यातम्—'या' (जाना) धा० का लोट्, म० पु० द्वि व० का रूप है। यहाँ 'गतिर्गतौ' (पा० ८, १, ७०) के कारण 'आ' पर उदात्त स्वर है।

माध्वी—अश्विनो के साथ यह विशेषण ऋ० में अन्यत्र भी आया है (द्रष्टव्य—ऋ० १, १८४, ४, ४, ४३, ४, ५, ६, ६३, ८; ७, ६७, ४, ७, ५, ७५, १–९)। अन्य किसी देवता के लिये यह नही प्रयुक्त है, केवल एक बार ओषधियो को 'माध्वी' (१, ९०, ६) और एक बार गायो को 'माध्वी' (१, ९०, ८) कहा गया है।

त्रासीथाम्—'त्रा' (रक्षा करना) धा० का विधिलिङ्, म० पु०, द्वि व०, आत्मने० रूप है। इसमे आद्युदात्त स्वर एक नये वाक्य को प्रारम्भ करने के कारण है। सायण, मैक्डॉनेल (वे० री० पृ० १३१), ग्रिफिथ, वेलण्कर आदि ने इसे चतुर्थ पाद के साथ सम्पूर्ण रूप से अन्वित किया है जिसके कारण स्वर की व्याख्या नही कर सके। वस्तुत चतुर्थ पाद की अन्विति तृतीय पाद के साथ—'माध्वी दिवानक्त अस्मत् अनिराम् अमीवा युयुतम्' (हे मधुमय, अहर्निशि हमसे दुर्भिक्ष और रोग को अलग रखो)—करनी चाहिये और 'त्रासीथाम् न' को एक पूर्ण वाक्य के रूप मे ग्रहण करना चाहिये।

आ वां रथमव मस्यां व्युष्टौ सुम्नायवो वृषणो वर्तयन्तु।
स्यूमगभस्तिमृतयुग्भिरश्वै राश्विना वसुमन्तं वहेथाम्॥ ३॥

पदपाठ

आ। वाम्। रथम्। अवमस्याम्। विऽउष्टौ। सुम्नऽयवः। वृषणः। वर्तयन्तु। स्यूमऽगभस्तिम्। ऋतयुक्ऽभिः। अश्वैः। आ। अश्विना। वसुऽमन्तम्। वहेथाम्॥ ३॥

सायण—अवमस्याम् आसन्नायां व्युष्टौ व्युच्छन्त्युषसि वां युवयोः रथं सुम्नायवः सुखेन योजयन्तोऽश्वा वृषणः वर्षका युवाम् आ वर्तयन्तु। स्यूमगभस्तिं सुखरश्मिं स्यूतरश्मिं वसुमन्तं प्रदेयधनयुक्तं रथं हे अश्विना अश्विनौ ऋतयुग्भिः उदकयुक्तैः अश्वैः उदकप्रदैरश्वैः आ वहेथाम्॥

अनुवाद

दयालु (सुखकर) एवं शक्तिशाली अश्व प्रातःकाल की उषा मे तुम दोनो के रथ को यहाँ लावे। हे अश्विनौ, रश्मि (डोरी) को मजबूती से पकड़े हुए, ठीक समय से जोते गये अश्वो के द्वारा (खीचे जाते हुए) धन से युक्त रथ को तुम दोनो यहाँ लाओ।

टिप्पणी

अवमस्याम्—इस शब्द की व्याख्या इसके सन्निकटवर्ती तुलनात्मक शब्दो के साथ की जा सकती है जो ये है—अवम–मध्यम–परम। ये तीनो ऋ० १, १०८, ९ मे इस प्रकार है—यदिन्द्राग्नी अवमस्यां पृथिव्यां मध्यमस्यां परमस्यामुत स्थः। (जो इन्द्र और अग्नि निम्नतम पृथिवी मे, मध्य अन्तरिक्ष में और परम व्योम में स्थित है)। इससे दूसरे मन्त्र की तुलना भी कर सकते है—तवेदिन्द्रावमं वसु त्वं पुष्यसि मध्यमम्। सत्रा विश्वस्य परमस्य राजसि, नकिष्ट्वा गोषु वृण्वते॥ ७, ३२, १६ (हे इन्द्र निम्नतम धन तुम्हारा है और मध्यम को भी तुम्ही पुष्ट करते हो। परम धन के स्वामी तुम हो और गो सम्बन्धी बातो मे तुम्हारा कोई विरोध नही कर सकता)।

इस आधार पर यहाँ 'अवमस्या' का अर्थ 'प्रथमोत्पन्न' (उषा) होगा अर्थात् 'सबसे पहले आने वाली उषा में'। 'अनम' शब्द के साथ व्यत्यय से 'स्याट्' का आगम होने से 'अवमस्य' बनेगा और सप्त० ए० व० मे 'ङि' के साथ 'अवमस्या' बनेगा।

स्यूमगभस्तिम्—'सिव्' (सीना, बुनना) धा० से 'स्यूम' शब्द और गभस्ति (पकड़ी जाने वाली डोरी) से यह शब्द बनेगा ।

यो वां रथो नृपती अस्ति वोळ्हा त्रिवन्धुरो वसुमाँ उस्रयामा ।
आ न एना नासत्योप यातमभि यद्वां विश्वप्स्न्यो जिगाति ॥ ४ ॥

पदपाठ

यः । वाम् । रथः । नृपती इति नृऽपती । अस्ति । वोळ्हा । त्रिऽवन्धुरः । वसुऽमान् । उस्रऽयामा । आ । नः । एना । नासत्या । उप । यातम् । अभि । यत् । वाम् । विश्वऽप्स्न्यः जिगाति ॥ ४ ॥

सायण—हे नृपती नृणां यजमानानां पालकावश्विनौ वां युवयोः यः रथः वोळ्हा युवयोर्वाहकः अस्ति सर्वदा सन्निहितो वर्तते । कीदृशोऽसौ । त्रिवन्धुरः सारथ्यधिष्ठानस्थानत्रयोपेतः वसुमान् धनवान् उस्रयामा उस्रं दिवसं प्रति गन्ता । एना एतेन रथेन हे नासत्या अश्विनौ नः अस्मान् उप आ यातम् । यत् रथः यश्च रथ. वां विश्वप्स्न्यः व्याप्तरूप. अभि जिगाति अभिगच्छति । अन्य आह । यद्यस्माद्विश्वप्स्न्यो वसिष्ठो वां जिगाति स्तौति अत उपा यातम् ॥

अनुवाद

हे मनुष्यो के स्वामी, जो रथ तुम्हारा वाहक, तीनों स्थानों वाला, धन से युक्त और उषाकाल मे चलनेवाला है, हे नासत्यौ, जैसे ही अन्न से पूर्ण वह रथ तुम्हारे समीप आवे तुम दोनो उसी के द्वारा हमारे समीप आओ ।

टिप्पणी

त्रिवन्धुरः—इसका शाब्दिक अर्थ है 'तीन गद्दियो या बैठने के स्थान वाला ।' 'बध्नाति इति बन्धुरा ' । 'बन्ध्' धा० से उणादि 'उरन्' प्रत्यय करने से 'बन्धुर' शब्द बनेगा । 'त्रयो बन्धुरा यस्यासौ त्रिबन्धुर.' (तीन बन्धन करने वाले जिसके है वह 'त्रिबन्धुर' है) । 'त्रिचक्रादीना छन्दस्युपसख्यानम्' (पा० सू० ६, २, १९९, १) वार्तिक के आधार पर इसमे उत्तर पद अन्तोदात्त स्वर होगा ।

(आ) **उप यातम्**—पूर्व मन्त्र (२) पर टिप्पणी देखिये ।

एना—वैदिक तृतीया ए० व० का रूप ।

विश्वप्स्न्यं.— 'विश्व + प्स्न्य' (प्स्न्य = भोजन) यहाँ रथ के लिये आया है। इसका अर्थ सदिग्ध है किन्तु अन्य सन्दर्भो (ऋ० २, १३, २, ७, ४२, ६; ८, ९७ १५) की तुलना के आधार पर इसका अर्थ 'सब के द्वारा चाहा जाने वाला या काम्य' प्रतीत होता है और इसका सम्बन्ध सर्वत्र 'रायः' (धन), 'वसु' (धन), भोजन से ही है।

जिगाति—'गा' धा० का लेट्, प्र० पु० ए० व० का रूप है।

युवं च्यवानं जरसोऽमुमुक्तं नि पेदवं ऊहथुराशुमश्वम् ।
निरंहसस्तमसः स्पर्तमत्रिं नि जाहुषं शिथिरे धातमन्तः ॥ ५ ॥

पदपाठ

युवम् । च्यवानम् । जरसः । अमुमुक्तम् । नि । पेदवे । ऊहथुः । आशुम् । अश्वम् । निः । अंहसः । तमसः । स्पर्तम् । अत्रिम् । नि । जाहुषम् । शिथिरे । धातम् । अन्तरिति ॥ ५ ॥

सायण—हे अश्विना युव युवां च्यवानं जरस. जीर्णाद्रूपात् अमुमुक्तम् अमुञ्चतम् । 'युवं च्यवानमश्विना जरन्तं पुनर्युवानम्' (ऋ० सं० १,११७,१३) इति ह्यन्यत्र । तथा पेदवे एतन्नामकाय राज्ञे आशुं शीघ्रगामिनम् अश्वं निः ऊहथु' न्यवहतं युद्धे । 'युवं श्वेतं पेदवे' (ऋ० सं० १,११८,९) इति निगम' । तथा अत्रि महर्षिम् अंहसः ऋबीसादग्ने. सकाशात् तमसः च गुहान्तःस्थिताच्च सकाशात् निः स्पर्तं न्यपारयतम् । 'युवमृबीसमुत तप्तमत्रय ओमन्वन्तं चक्रथुः' (ऋ० सं० १०,३९,९) इति निगमः । तथा जाहुषं शिथिरे शिथिले भ्रष्टे स्वराष्ट्रे अन्त. मध्ये पुनः नि धातं न्यधातम् । 'परिविष्टं जाहुषं विश्वतः सीम्' (ऋ० सं० २,११६,२०) इति ह्युक्तम् ॥

अनुवाद

तुम दोनों ने च्यवान ऋषि को वृद्धत्व से मुक्त किया और पेदु को क्षिप्रगामी अश्व प्रदान किया। अत्रि को तुमने कष्ट और अन्धकार से बचाया एव जाहुष को सुरक्षित स्थान मे निहित किया।

टिप्पणी

अमुमुक्तम्—'मुच्' (मुक्त करना, छोडना) धा० का लङ्, म० पु० द्विवचन का रूप है।

युवम्—प्रथमा द्विवचन 'युवाम्' के लिये प्रयुक्त है।

च्यवा॑नम्—इस ऋषि को अश्विनो ने वृद्धत्व से मुक्त कर युवा अवस्था मे ला दिया (ऋ० १,११६,१०, ११७,१३, ११८,६; ५,७४,५; ७,६८,६; १०, ३९,४) और उसे कई युवतियो का पति बनाया । श० ब्रा० (४,१,५,१) मे शर्यात की कन्या 'सुकन्या' के साथ वे विवाह करते हैं ।

पेदु—इनके पास एक दुष्ट घोडा (अघाश्व) था, अश्विनो ने इन्हें श्वेत रंग का सुन्दर घोडा प्रदान किया (ऋ० १,११६,६, ११९,९) ।

अत्रिम्—इसके विस्तृत विवेचन के लिये द्रष्टव्य—मैक्डॉनेल . वेदिक माइथोलाजी, पृ० १४५ । ऋ० पचम मण्डल के ऋषि अत्रि या अत्रिपरिवार हैं ।

जाहुषम्—इनके शत्रुओ ने इन्हे पर्वत कन्दराओ मे फेंक दिया था जिससे अश्विनो ने इनकी रक्षा की (ऋ० १,११६,२०) ।

ऊहथु.—वह् धा० का म० पु० द्विव० का लिट् का रूप है ।

इयं म॑नीषा इयम॑श्विना गीरि॒मां सु॑वृ॒क्तिं वृ॑षणा जुषेथाम् ।
इमा ब्रह्मा॑णि युवयून्य॑ग्मन्यू॒यं पा॑त स्व॒स्तिभि॒: सदा॑ नः ॥ ६ ॥

पदपाठ

इयम् । मनीषा । इयम् । अ॒श्वि॒ना । गीः । इ॒माम् । सुऽवृ॒क्तिम् । वृष॒णा । जुषे॒थाम् । इ॒मा । ब्रह्मा॑णि । यु॒व॒ऽयूनि॑ । अ॒ग्म॒न् । यू॒यम् । पा॒त । स्व॒स्तिऽभि॑ः । सदा॑ । न॒ः ॥ ६ ॥

हे अश्विना अश्विनौ इयं मनीषा स्तुतिर्युवयोः कृतेति शेषः । तदेवादरार्थं पुनरुच्यते । इयं गीः स्तुतिः कृता । हे वृषणा कामानां वर्षकौ इमाम् अस्मत्कृतां सुवृक्तिं शोभनां स्तुतिं जुषेथां सेवेथाम् । इमा इमानि ब्रह्माणि कर्माणि स्तुतिरूपाणि युवयूनि युवां कामयमानानि सन्ति अग्मन् गच्छन्तु युवाम् । यूयं त्वं न. अस्मान् सर्वदा कल्याणैः पात पाहि ॥

अनुवाद

हे अश्विनो, यह मेरी मनीषा (बुद्धि) है और यह मेरी वाणी है, हे शक्तिशाली, (तुम दोनों) इस सुन्दर स्तुति का सेवन करो । ये मत्र तुम्हारे समीप गये है (तुम्हारे लिये कहे गये है), तुम लोग अपने कल्याणकारी कार्यो द्वारा हमारी सदेव रक्षा करो ।

जुषे॒थाम्—'जुष प्रीणने' (सेवन करना, तृप्त करना) धा० का लोट्, म० पु० द्विव० का रूप है ।

टिप्पणी

सुवृक्तिम्— सु + वृज् (काटना) धा० से 'क्तिन्' (भावे क्तिन्) प्रत्यय और 'इट्' का प्रतिषेध (तितुत्रतथसिसरकसेषु च—पा० सू० ७,२,९) करके 'सुवृक्ति' शब्द बनेगा जिसका शाब्दिक अर्थ 'जिनका आवर्जन शोभन है' अर्थात् जो देवताओ को बाहर जाने से रोकती हैं—होगा। अथवा इसे सु + वृक् (काटना, छाँटना) + क्तिन् से निष्पन्न कर सकते है जिसका अर्थ 'अच्छी प्रकार से काट-छाँट कर बनायी गई (स्तुति)' होगा। मैक्सम्यूलर ने इसी निष्पत्ति को स्वीकार किया है और 'वृक्तबर्हिषि' (ऋ० १,३८,१) जैसे समासों के आधार पर यह अधिक उपयुक्त प्रतीत होती है (द्रष्टव्य—सै० बु० इ०, भा० ३२, पृ० १०९)। 'नञसुभ्याम्' (पा० सू० ६,१,१७२) से उत्तरपद पर अन्तोदात्त स्वर है।

अग्मन्—'गम्' धा० का लुङ्, प्र० पु० ब० व० का रूप है।

वरुण ७ ८६

देवता वरुण, ऋषि वसिष्ठ, छन्दः त्रिष्टुभ्

धीरा त्वस्य महिना जनूंषि वि यस्तस्तम्भ रोदसी चिदुर्वी।
प्र नाकमृष्वं नुनुदे बृहन्तं द्विता नक्षत्रं पप्रथच्च भूम॥ १॥

पदपाठ

धीरा। तु। अस्य। महिना। जनूंषि। वि। यः। तस्तम्भ। रोदसी इति। चित्। उर्वी इति। प्र। नाकम्। ऋष्वम्। नुनुदे। बृहन्तम्। द्विता। नक्षत्रम्। पप्रथत्। च। भूम॥ १॥

सायण—अस्य वरुणस्य जनूषि जन्मानि महिना महिम्ना तु क्षिप्रं धीरा धीराणि धैर्यवन्ति भवन्ति। यः वरुणः उर्वी विस्तीर्णे रोदसी चित् द्यावापृथिव्यावपि वि तस्तम्भ विविधं स्तब्धे स्वकीये स्थाने स्थिते अकरोत्। यश्च बृहन्तं महान्तं नाकम् आदित्यं नक्षत्रं च ऋष्वं दर्शनीयं द्विता द्वैधं प्र नुनुदे प्रेरयति स्म। अहनि सूर्यं दर्शनीयं प्रेरयति रात्रौ नक्षत्रं तथेति द्विप्रकारः। भूम भूमिं च यः पप्रथत् अप्रथयत् विस्तारितवान्। तस्यास्य वरुणस्येत्यन्वयः॥

अनुवाद

जिस (वरुण) ने निश्चय ही विस्तृत द्यौ और पृथिवी को स्तम्भित किया प्रजायें उसकी महानता के कारण धीर (धैर्यशालिनी) हैं। उसने विस्तृत आकाश को प्रकर्ष रूप से प्रेरित किया तथा महान् नक्षत्र (सूर्य) को भी दो रूपों मे (प्रेरित किया) और पृथिवी को विस्तृत किया।

टिप्पणी

धीरा—गेल्ड० ने इसका अर्थ 'बुद्धिमान्' किया है (Der Rv. II, 189) सभवतः जिसके अनुसरण पर वेलण्कर ने भी यही अर्थ किया है। समस्त प्राणी वरुण की महानता के कारण बुद्धियुक्त होते है, ऐसा इनका मत है। साथ ही गेल्ड० का मत है कि 'धीरा' का प्रयोग केवल मानवीय प्राणियो के लिए हुआ है (वही) 'धीरा' रूप ऋ० मे केवल यही पर आया है। सायण ने भी 'धीरः' का अर्थ 'बुद्धिमान् या धृष्ट' किया है (द्र० ऋ० भा० १,६२,१२)।

वि तस्तम्भे—'वि' उपसर्ग पूर्वक 'स्तभ्' (स्तम्भ) धा० का लिट्, प्र० पु० ए० व० का रूप है। आकाश और पृथिवी दोनो को पृथक्-पृथक् स्तम्भित किया जिससे वे टकरायें न। पाद का प्रारम्भ करने से क्रियापद उदात्त स्वर युक्त है।

प्र नुनुदे—'प्र' उपसर्ग पूर्वक 'णुद प्रेरणे' धा० का लिट् का रूप है।

नाकम्—इसका अर्थ 'स्वर्ग' है जो यहाँ 'द्युलोक' के लिये प्रयुक्त है। इसकी निष्पत्ति 'न अकं पापं विद्यते यत्र' रूप मे है अर्थात् जहाँ पाप न हो वह 'नाक' है।

नक्षत्रम्—नपुं० ए० व० के रूप में 'नक्षत्र' का अर्थ सर्वदा 'सूर्य' होता है जैसा कि ऋ० ७,८१,२ मे 'उदुस्रिया सृजते सूर्य. सचाँ उद्यन्नक्षत्रमर्चिवत्' से ज्ञात है।

द्विता—यहाँ 'द्विता' का अर्थ 'अन्तरिक्ष और पृथिवी के मध्य भाग में' है जैसा कि ऋ० १,१३२,३ से (द्वितान्त) ज्ञात होता है। अन्यथा यह सूर्य के दिन और रात्रि के दो रूपो की ओर सकेत करता है जैसा कि गेल्ड० ने सुझाव दिया है (Der Rv II, 257)।

पप्रथत्—'प्रथ्' (फैलाना) धा० का लिट्, प्र० पु० ए० व० का रूप है।

उत स्वया तन्वा सं वदे तत्कदा न्व१न्तर्वरुणे भुवानि।
किं मे हव्यमहृणानो जुषेत कदा मृळीकं सुमना अभि ख्यम् ॥ २ ॥

पदपाठ

उत । स्वया॑ । त॒न्वा॑ । सम् । व॒दे॒ । तत् । क॒दा । नु । अ॒न्तः । वरु॑णे । भुवा॑नि । किम् । मे॒ । ह॒व्यम् । अहृ॑णानः । जु॒षे॒त॒ । क॒दा । मृ॒ळी॒कम् । सु॒ऽमना॑ः । अ॒भि । ख्य॒म् ॥ २ ॥

सायण—वरुणं शीघ्रं दिदृक्षमाण ऋषिरनया वितर्कयति । उतेति विचिकित्सायाम् । उत किं स्वया तन्वा स्वीयेनात्मीयेन शरीरेण सं वदे सहवदनं करोमि । आहो स्वित् तत् तेन वरुणेन सह संवदे । कदा नु कदा खलु वरुणे देवे अन्तः भुवानि अन्तर्भूतो भवानि । वरुणस्य चित्ते संलग्नो भवानीत्यर्थः । अपि च मे मदीयं हव्य स्तोत्र हविर्वा अहृणान अक्रुध्यन् वरुणः किं केन हेतुना जुषेत सेवेत । सुमना शोभनमनस्कः सन्नहं कदा कस्मिन् काले मृळीकं सुखयितार वरुणम् अभि ख्यम् अभिपश्येयम् ।

अनुवाद

मै अपने आप से यह पूछता हूँ कि 'वरुण के अन्तर्गत (उनके समीप) मै कब होऊँगा ? क्रोध किये बिना वे मेरी किस हवि को ग्रहण करेगे और कब मै आनन्दित होकर उसकी कृपा का अवलोकन करूँगा ?'

टिप्पणी

उत स्वया॑ तन्वा॑ स व॑दे—इस पाद की तुलना हम ऋ० १०,३१,२ मे '॒उत स्वेन॒ क्रतु॑ना॒ स व॑देत' से कर सकते है जहाँ स्तोता स्वय बातें करता है। प्रस्तुत सन्दर्भ मे ऋषि अपने-आप सभावनात्मक रूप मे प्रश्न करता है कि वह वरुण की भक्ति, सौहार्द्र और कृपा को कब प्राप्त करेगा। यहाँ 'स्वया तन्वा' (अपने शरीर के द्वारा) का भाव यह है कि मै इस सम्पूर्ण शरीर के साथ अर्थात् जिस रूप मे हूँ उसी रूप मे वरुण का दर्शन करूँ या उनका सान्निध्य प्राप्त करूँ और उनसे बातें कर सकूँ। वैदिककाल की भक्ति के विकास का यह परिचायक है। देवता वरुण ऋषि से रूठे हुए है वह इस बात को जानता है, इसीलिए साक्षात्कार करके आँखो के शील द्वारा उनको प्रसन्न करना चाहता है।

√नु + अ॒न्तर् (न्व॒१॑न्तर्)—यह अभिनिहित सन्धि का उदाहरण है। जब सहिता पाठ मे अन्त्य 'र्' होता है तभी पदपाठ मे वह विसर्जनीय के रूप मे ग्रहण किया जाता है। उदात्त (नु) अनुदात्त (अ) दोनो की सन्धि होने पर केवल उदात्त शेष रह गया किन्तु उदात्त के परे उदात्त (न्त.) है इसलिये

'१ संख्या के द्वारा उदात्त परे स्वरित और उदात्त के पूर्व अनुदात्त दोनो का विधान संहिता पाठ मे किया गया है।

भुवानि—'भू' धा० का लेट्, उ० पु० ए० व० का रूप है। मुख्य क्रिया होने से सर्वानुदात्त है।

अह्रणानः—यह पद ऋ० में केवल दो बार (७, ८६, ५; १०, ११६, ७) आया है। इसकी निष्पत्ति अ + √ हृ + शानच् से होगी। शाब्दिक अर्थ होगा 'कोध न करते हुए'। नञ् समास होने से अव्ययभाव में पूर्व पद पर उदात्त स्वर है। यहाँ 'शानच्' में 'चित्' होने से अन्तोदात्त होना चाहिये ('चित.'—पा० ६, १, १६३) किन्तु 'शप्' होने से वह बहुव्रीहि समास मे उत्तर पद पर स्वर चला जायगा (पा० ६, २, १)। अतः अन्त 'अ' ही उदात्त होगा।

जुषेत—'जुष् प्रीणने' धा० का लेट् का रूप।

ख्यम्—'अभि' उपसर्ग पूर्वक 'ख्या' (देखना) धा० का लेट् अथवा मैक्डॉ० के अनुसार इंज० एवरिस्ट (विधि) का उ० पु० ए० व० रूप है।

पृच्छे तदेनो वरुण दिदृक्षूपो एमि चिकितुषो विपृच्छम्।
समानमिन्मे कवयश्चिदाहुरयं ह तुभ्यं वरुणो हृणीते ॥ ३ ॥

पदपाठ

पृच्छे। तत्। एनः। वरुण। दिदृक्षु। उपो इति। एमि। चिकितुषः। विऽपृच्छम्। समानम्। इत्। मे। कवयः। चित्। आहुः। अयम्। ह। तुभ्यम्। वरुणः। हृणीते ॥ ३ ॥

सायण—हे वरुण तदेनः पाप पृच्छे त्वां पृच्छामि। दिदृक्षु। छान्दसः सुलोपः। द्रष्टुमिच्छन्नहम्। येन पापेन हेतुना त्वदीयैः पाशैर्बद्धोऽस्मि पृष्ट. संस्तत् पापं कथय। अहं विपृच्छं विविध प्रष्टुं चिकितुषः विदुषो जनान् उपो एमि उपागाम्। ते कवयश्चित् क्रान्तदर्शिनो जनाश्च मे मह्यं समानमित् समानमेवैकरूपमेव आहु. अकथयन्। यदाहुस्तदाह। हे स्तोत. तुभ्यं अयं ह अयमेव वरुणः हृणीते क्रुध्यतीति। अतः क्रोधं परित्यज्यास्मान् पाशेभ्यो मोचय।

अनुवाद

हे वरुण, मै उस अपराध (पाप) को देखने (जानने) की इच्छा से तुमसे पूछता हूँ और पूछने के लिए ज्ञानियो के समीप पहुँचता हूँ। ऋषिगण (मेधावी) भी मुझसे एक ही बात कहते है कि यह वरुण तुमसे रुष्ट (क्रोधित) है।

टिप्पणी

दि॒दृक्षु॑—सायण की दृष्टि में यह 'दृश्' धा० से अभीप्सा अर्थ मे है जो ऋ० में केवल यही पर आया है; किन्तु यह 'दृश्' से अभ्यस्त रूप मे विशेषण रूप 'दिदृश्' भी हो सकता है जो यहाँ सप्तमी ब० व० मे है जिसका अर्थ 'ऋषि' होगा। अर्थात् 'ऋषियो मे' अर्थ होगा और इस प्रकार प्रथमपाद का अर्थ—'मैं ऋषियो के मध्य उस अपराध के सम्बन्ध मे पूछता हूँ'—होगा जैसा कि वेलण्कर ने माना है (द्र० ऋ० स० मं० पृ० १८९)। किन्तु जैसा सायण ने इसे विभक्ति प्रत्यय रहित इच्छा अर्थ मे ग्रहण किया है अथवा जैसा लैनमान (Noun Inflection in the Veda, P. 405) ने इसे 'देखने की उत्सुकता मे' अर्थ मे ग्रहण किया है जिसकी स्वीकृति ओल्डेनवर्ग ने की तथा गेल्ड० ने जिसका अनुसरण किया (Der Rv. II, 257 n), वैसा मान सकते है। किन्तु यदि इसे अभ्यस्त मानते है तो 'अभ्यस्तानामादि' (पा० ६,१,१८९) के आधार पर आद्युदात्त होना चाहिये, जो यहाँ नही है। उस रूप मे सन्धि भी 'दिदृक्षुरुपो' (दिदृक्षु + उपो) होनी चाहिये जो नही है। अत इसे पदपाठ के आधार पर नपुं० रूप मे क्रिया विशेषण के रूप मे ग्रहण करना अधिक संगत होगा जैसा कि मैक्डॉ० ने किया है (द्र० वे० री० पृ० १३७)।

चि॒कि॒तुषः—'चित प्रज्ञाने' धा० से 'लिट. क्वसु.' के आधार पर 'वस' और 'वसो. सम्प्रसारणम्' से सम्प्रसारण तथा 'शासिवसिघसीना च' से 'षत्व' करके 'चिकितुष्' रूप बनेगा जो द्वि० ब० व० तथा ष० ए० व० में 'चिकितुष.' होगा। 'कित्' होने से 'चिकितुष्' मे अन्तोदात्त स्वर अर्थात् 'उ' उदात्त होगा ('कित:'—पा० ६,१,१६५)। अन्यथा 'अनुदात्तौ सुप्पितौ' (पा० ३,१,४) के आधार पर विभक्ति प्रत्यय पर स्वर न होकर प्रत्यय 'उस्' (वस्) पर होगा (पा० ३,१,३)।

यहाँ प्रश्न यह है कि 'चिकितुष' को द्वि० ब० व० का रूप माना जाय या ष० ए० व० का रूप। तृतीय पाद में 'कवय' के कारण इसे द्वि० ब० व० का रूप मानना ही संगत होगा जिनके समीप ऋषि पूछने के लिये जाता है।

वि॒पृच्छ॑म्—'पृच्छ्' धा० का यह वैदिक तुमुनर्थ रूप है।

हृ॒णी॒ते—'हृ' (क्रोधकरना, रोषकरना) धा० का आत्म० प्र० पु० ए० व० लट् का रूप है।

किमाग॑ आस वरुण॒ ज्येष्ठं॒ यत्स्तो॒तारं॒ जिघां॑ससि॒ सखा॑यम् ।
प्र तन्मे॑ वोचो दूळभ स्वधा॒वोऽव॑ त्वाने॒ना नम॑सा तु॒र इ॑याम् ॥ ४ ॥

पदपाठ

किम् । आग॑ः । आ॒स॒ । व॒रु॒ण॒ । ज्येष्ठ॑म् । यत् । स्तो॒तार॑म् । जिघां॑ससि । सखा॑यम् । प्र । तत् । मे॒ । वो॒चः॒ । दुः॒ऽद॒भ॒ । स्व॒धा॒ऽवः॒ । अव॑ । त्वा॒ । अ॒ने॒नाः॒ । नम॑सा । तु॒रः॒ । इ॒या॒म् ॥ ४ ॥

सायण—हे वरुण ज्येष्ठम् अधिकं किमाग आस कोऽपराधो मया कृतो बभूव । यत् येन आगसा सखायं मित्रभूतं सन्तं स्तोतारं जिघांससि हन्तुमिच्छसि । हे दूळभ दुर्दमान्यैर्बाधितुमशक्य स्वधावः तेजस्विन् हे वरुण तत् आगः मे मह्यं प्र वोचः प्रब्रूहि । एवं सति तस्य प्रायश्चित्तं कृत्वा अनेनाः अपापः सन्नहं तुरः त्वरमाणः शीघ्रः नमसा नमस्कारेण हविषा वा त्वाम् अव इयाम् उपगच्छेयम् ॥

अनुवाद

हे वरुण ! वह कौन सा महान् पाप था जिसके कारण तुम अपने सखारूप स्तोता की हिंसा करना चाहते हो ? हे दुर्दमनीय एवं स्वतन्त्र (स्वाभिमानी) देवता, उसे तुम मुझे बतलाओ; मै पापरहित और कर्मण्य होकर प्रार्थना के साथ तुम्हारे समीप शीघ्र आगमन करूँ ।

टिप्पणी

जिघांससि —'हन्' (मारना) धा० का सन्नन्त रूप है ।

प्र वो॒च॒ः —'वच्' (बोलना) धा० का लेट् (inj. aor.) का रूप है ।

अव त्वानेना··· तुर इयाम् —'अव + इ' (जाना) का अर्थ 'समर्पण सहित नीचे गमन करना' है । जैसा कि ऋ० ५,३७,२ में—'अयदध्वर्युर्हविषा अव सिन्धुम्' (अध्वर्यु हवि के साथ नीचे सिन्धु के समीप जाता है) से अथवा ऋ० ७,५८,५ मे 'अव॒ तदेन॑ ईमहे तुराणा॑म्' (उस अपराध को तुरन्त दूर करो ऐसी हम प्रार्थना करते है) से स्पष्ट है । यहाँ 'त्वा' कर्म है जो 'वरुण' के लिये प्रयुक्त है जिसके समीप भक्ति सहित ऋषि शीघ्र पहुँचना चाहता है ।

अव॑ द्रु॒ग्धानि॒ पित्र्या॑ सृजा॒ नोऽव॒ या व॒यं च॑कृ॒मा त॒नूभि॑ः ।
अव॑ राजन्पशु॒तृपं॒ न ता॒युं सृ॒जा व॒त्सं न दाम्नो॒ वसि॑ष्ठम् ॥ ५ ॥

पदपाठ

अव॑ । द्रु॒ग्धानि॑ । पित्र्या॑ । सृ॒ज॒ । नः॒ । अव॑ । या । व॒यम् । च॒कृ॒म । त॒नूभिः॑ । अव॑ । रा॒ज॒न् । प॒शु॒ऽतृप॑म् । ता॒युम् । सृ॒ज॒ । व॒त्सम् । न । दाम्नः॑ । वसि॑ष्ठम् ॥ ५ ॥

सायण—हे वरुण पित्र्या पितृतः प्राप्तानि नः अस्मदीयानि द्रुग्धानि द्रोहान् बन्धनहेतुभूतान् अव सृज विमुञ्च। अस्मत्तो विश्लेषय। वयं च या यानि द्रोहजातानि तनूभिः शरीरैः चकृम कृतवन्तः स्म तानि च अव सृज। हे राजन् राजमान वरुण पशुतृपं न तायुं स्तैन्यप्रायश्चित्तं कृत्वावसाने घासादिभिः पशूनां तर्पयितारं स्तेनमिव दाम्नः रज्जो वत्सं न वत्समिव च वसिष्ठ मां बन्धकात् पापात् अव सृज विमुञ्च ॥

अनुवाद

(हे वरुण) हमे पितृ-सम्बन्धी (पिता द्वारा किये गये) तथा जो हमने अपने शरीर द्वारा किये हैं, (उन) अपराधो से मुक्त करो। हे राजन्, जिस प्रकार से पशु को तृप्त करने वाले चोर को अथवा बछडे को रज्जु से मुक्त करते है वैसे ही तुम वसिष्ठ को मुक्त करो।

टिप्पणी

द्रु॒ग्धानि॑—ऋ० मे यह पद केवल यही पर आया है। अन्य रूप 'द्रुग्ध.' भी एक बार (५,४०,७) आया है। यह 'द्रुह' (द्रोह करना) धा० से निष्पन्न होगा जिसका मूल अर्थ 'द्रोह या ईर्ष्या करना' होगा जिसमे 'पाप' और 'अपराध' भी सम्मिलित है।

(अव) सृ॒ज॒—'अव' उप० पूर्वक 'सृज विमोचने' धा० का लोट्, म० पु० ए० व० का रूप है।

पशुतृपं न तायुम्—इस अश की व्याख्या के सम्बन्ध में व्याख्याकारो में मतभेद है। 'पशुतृप' शब्द ऋ० मे केवल यही पर आता है, इसलिये इसके अर्थ की सन्दिग्धता स्वाभाविक है। इसका अर्थ या तो 'जो पशु को सन्तुष्ट करता है' अथवा 'जो पशु की चोरी करता है' सम्भव है। मनुस्मृति ११,१९६ के अनुसार चोरी करने वाले को जो गौ को घास आदि खिलाकर तृप्त करता है उसे मुक्त कर दिया जाना चाहिये। इस प्रकार 'पशुतृप्' ऐसे चोरो के लिये प्रयुक्त माना जा सकता है जो अपना अपराध स्वीकार करके अपराध-मुक्ति के

लिये गौ को सन्तुष्ट करते थे, जिसके पश्चात् उन्हे अपराध-मुक्त किया जाता था।चोरो को बन्धन मे रखा जाता था यह बात ऋ० के अन्य सन्दर्भों जैसे—'मुमोचत स्तेनं बद्धमिव' (८,६७,१४) तथा—'मुमोचति बन्धात् बद्धमिव' (८,६७,१८) से ज्ञात होती है। उन्हे बन्धन से मुक्त करने के कुछ नियम रहे होगे जिनमे सम्भवत 'गाय को तृप्त करना' प्रथम रहा होगा। अत. गेल्ड० आदि के मत, कि 'पशुतृप्' का अर्थ 'पशु चुराने वाला' है, को मान्यता देना संगत नही होगा।

वत्सं न दाम्नो वसिष्ठम् —यहाँ 'दाम्न.' का सम्बन्ध 'वत्सं और 'वसिष्ठ' दोनो से है और दोनो 'सृज' क्रियापद के कर्म है। ऋ० २,२८,६ मे भी यह उपमा आयी है जहाँ कष्ट या सकीर्णता से मुक्ति पाने की प्रार्थना की गई है—'दामेव वत्साद्वि मुमुग्ध्यंहो' (जिस प्रकार रज्जु को बछडे से अलग किया जाता है उसी प्रकार मुझसे दु ख को अलग करो)।

न स स्वो दक्षो॑ वरुण ध्रुति॒ः सा सुरा॑ म॒न्युर्वि॒भीद॑को अचि॑त्तिः।
अस्ति॒ ज्याया॒न्कनी॑यस उपा॒रे स्वप्न॑श्च॒नेदनृ॑तस्य प्रयो॒ता ॥ ६ ॥

पदपाठ

न। सः। स्वः। दक्षः॑। व॒रु॒ण॒। ध्रु॒तिः॑। सा। सुरा॑। म॒न्युः। वि॒ऽभीद॑कः। अचि॑त्तिः। अस्ति॑। ज्याया॑न्। कनी॑यसः। उ॒प॒ऽअ॒रे। स्वप्नः॑। च॒न। इत्। अनृ॑तस्य। प्र॒ऽयो॒ता ॥ ६ ॥

सायण—हे वरुण सः स्वो दक्ष. पुरुषस्य स्वभूतं तद्बलं पापप्रवृत्तौ कारणं न भवति। किं तर्हि ध्रुति: स्थिरा उत्पत्तिसमय एव निर्मिता दैवगति: कारणम्। 'ध्रु गतिस्थैर्ययो:' इति धातुः। सा च ध्रुतिर्वक्ष्यमाणरूपा। सुरा प्रमादकारिणी मन्यु. क्रोधश्च गुर्वादिविषयः सन्ननर्थहेतु॰। विभीदक द्यूतसाधनोऽक्षः। स च द्यूतेषु पुरुषं प्रेरयन्ननर्थहेतुर्भवति। अचित्तिः अज्ञानमविवेककारणम्। अत ईदृशी दैवक्लृप्तिरेव पुरुषस्य पापप्रवृत्तौ कारणम्। अपि च कनीयसः अल्पस्य हीनस्य पुरुषस्य पापप्रवृत्तौ उपारे उपागते समीपे नियन्तृत्वेन स्थितः ज्यायान् अधिक ईश्वरः अस्ति। स एव तं पापे प्रवर्तयति। तथा चाम्नातम्—'एष ह्येवासाधु कर्म कारयति त यमधो निनीषते' (कौ० उ० ३,८) इति। एवं च सति स्वप्नश्चन स्वप्नोऽपि अनृतस्य पापस्य प्रयोता प्रकर्षेण मिश्रयिता भवति। इत् इति पूरकः। स्वप्ने कृतैरपि कर्मभिर्बहूनि पापानि जायन्ते किमु वक्तव्यं जाग्रति कृतैः कर्मभिः पापान्युत्पद्यन्त इति। अतो ममापराधो दैवागत इति हे वरुण त्वया क्षन्तव्य इति भाव॰ ॥

अनुवाद

हे वरुण, यह मेरी अपनी शक्ति नही थी (जिसके कारण मैंने अपराध किये)। अपितु, यह वञ्चना (धोखेबाजी), सुरा, क्रोध, जुआ और अज्ञान (का परिणाम है)। छोटे के अपराध मे बड़े का भी हाथ होता है और स्वप्न भी असत्य को जोड़ने वाला (प्रेरक) होता है (अर्थात् सोते समय भी हम अपराध से अलग नही हो पाते)।

टिप्पणी

ध्रुतिं —ऋ० मे यह शब्द केवल यही पर आता है। इसकी निष्पत्ति 'ध्वृ हिंसायाम्' से कर सकते है जिसका रूप हमें 'वरुणध्रुत्' (वरुण को धोखा देने वाला या उनसे घृणा करने वाला) है जो ऋ० ७, ६०, ९ मे आता है। उसी 'ध्रुत्' से स्त्री० मे 'ध्रुति' बनेगा जिसका अर्थ 'धोखा, हिंसा, वञ्चना, छल' आदि होगा।

अस्ति ज्यायान्कनीयस उपारे —यहाँ 'ज्यायान्' और 'कनीयान्' क्रमश. वरुण और वसिष्ठ (ऋषि) के लिये प्रयुक्त हुये है ऐसा वेलण्कर का मत है जिन्होने इसकी प्रस्थापना के लिये ऋ० ७,२०,७ को उद्धृत किया है (द्र० ऋ० स० म० पृ० १९०), किन्तु मेरी दृष्टि मे ये दोनो शब्द सामान्य कथन के रूप मे है जो किसी भी बड़े और छोटे के सन्दर्भ मे हो सकते है। यहाँ मै वेलण्कर द्वारा उद्धृत ऋ० ७,२०,७ के उद्धरण से ही यह बात स्पष्ट करना चाहूँगा—मत्राश इस प्रकार है —

'यदिन्द्र पूर्वो अपराय शिक्षन्नयज्ज्यायान्कनीयसो देष्णम्'

हे इन्द्र जो दानयोग्य वस्तु पूर्व (पिता आदि से) से अपर को पुत्र को प्राप्त होती है तथा जो ज्येष्ठ से कनिष्ठ को प्राप्त होती है (वह मुझे तुम्हारे द्वारा मिले)।

यहाँ यह सम्भव है कि 'ज्यायान्' और 'कनीयस्' इन्द्र और ऋषि के लिये भी क्रमशः प्रयुक्त हो पर इसे सामान्य कथन के रूप मे भी ग्रहण करना आवश्यक है। प्रस्तुत सन्दर्भ मे 'अपराध' के लिये 'ज्यायान्' रूप मे वरुण को उत्तरदायी बनाना संगत नही होगा, अपितु पूर्व मत्र मे 'पित्र्या द्रुग्धानि' के कारण इसे पितरो के लिये ग्रहण करना ही अधिक उचित होगा।

'उपारे' पद 'उपार' का स० ए० व० का रूप है। 'उपार' को उप + 'ऋ' (गतौ) से निष्पन्न कर सकते है। 'उपारे अस्ति' का अर्थ—'भागी होना' या 'सम्बन्धित होना' है।

च न —यहाँ यह 'भी' (जोर देने) अर्थ मे प्रयुक्त है।

अरं दासो न मीळ्हुषे कराण्यहं देवाय भूर्णयेऽनागाः ।
अचेतयदचितो देवो अर्यो गृत्सं राये कवितरो जुनाति ॥ ७ ॥

पदपाठ

अरम् । दासः । न । मीळ्हुषे । कराणि । अहम् । देवाय । भूर्णये । अनागाः । अचेतयत् । अचितः । देवः । अर्यः । गृत्सम् । राये । कविऽतरः । जुनाति ॥ ७ ॥

सायण—मीळ्हुषे सेक्त्रे कामानां वर्षित्रे भूर्णये जगतो भर्त्रे देवाय दानादिगुणयुक्ताय वरुणाय अनागाः तत्प्रसादादपाप. सन् अहम् अरम् अल पर्याप्तं कराणि परिचरण करवाणि । दासो न यथा भृत्यः स्वामिने सम्यक् परिचरति तद्वत् । अर्यः स्वामी स च देव अचितः अजानतोऽस्मान् अचेतयत् चेतयतु प्रज्ञापयतु । गृत्सं स्तोतार च कवितरः प्राज्ञतरो देव. राये धनाय धनप्राप्त्यर्थं जुनाति जुनातु प्रेरयतु ॥

अनुवाद

मै पापरहित होकर उदार और भरणशील (वरुण) देवता के लिये दास के समान पर्याप्त (सेवा) करूँ । दिव्य स्वामी (वरुण) ने अचेतन को चेतन बनाया (अज्ञानी को बुद्धि दी) । ~~स्वयं~~ बुद्धिमान् ~~होकर~~ स्तोता को धन के लिये प्रेरित करता है। अत्यधिक

टिप्पणी

दासो न —यहाँ इस उपमा से स्पष्ट होता है कि आर्यो ने जिन अनार्यों को या दासो को अपने वश में कर लिया वे दास उनकी पूर्ण भक्ति के साथ सेवा करते थे । दासो को दक्षिणा रूप मे भी दिया जाता था, जैसे—शतं मे गर्दभाना शतमूर्णावतीनाम् । शतं दासाँ अति स्रजः । (ऋ० ८,५६,३) अतः दक्षिणा मे प्राप्त दासो से स्पष्ट ही उस काल की सस्कृति पर प्रकाश पड़ता है कि दासो को वशीभूत करने की जोरदार प्रथा रही होगी और वे दास भी पूर्ण समर्पण के साथ सेवा करते रहे होगे ।

मीळ्हुषे —सायण ने इसे 'मीढ्वस्' शब्द का चतुर्थी का रूप माना है और 'मिह सेचने' से इसकी निष्पत्ति मानी है । 'दास्वान्साह्वान्मीढ्वान्' (पा० ६,१,१२) से 'क्वसु' प्रत्यय करके 'मीढ्वस्' शब्द बनेगा । 'सेचन करने वाला' मूल अर्थ होगा जिससे 'उदार' अर्थ की प्रतिपत्ति की जा सकती है ।

करा॒णि —'कृ' धा० का लेट्, उ० पु० ए० व० का रूप है।

भूर्णये — यह 'भूर्णि' शब्द का च० ए० व० का रूप है। 'भूर्णि' की निष्पत्ति सायण के अनुसार या तो 'भृञ् भरणे' से अन्यथा 'भृ भये' से हो सकती है। प्रथम मे 'नि' प्रत्यय (घृणिपृश्नि०—उणा० सू० ४९५) करके और दूसरी अवस्था मे 'क्तिन्' (कृत्यल्युटो बहुलम्—पा० ३,३,११३) प्रत्यय करके शब्द बनेगा। दोनो अवस्थाओ मे 'नित्त्व' होने से आद्युदात्त होगा (ञ्नित्यादिर्नित्यम्'—पा० ६,१,१९७)। 'भृञ' से निष्पत्ति करने पर इसका अर्थ 'भरणशील' और 'भृ भये' से करने पर 'भयानक या डरावना' अर्थ होगा। किन्तु यह निष्पत्ति नैरुक्त जैसी लगती है जो उचित अर्थ की प्रतीति नही कराती। इससे अधिक सगत यह होगा कि हम 'भूर्णये' को 'भुर्' (गतिशील होना, चलना) धा० से निष्पन्न करे। ऋ० ७,८७,२ में वरुण को 'पशुर्न भूर्णिर्यवसे' (जैसे पशु घास चरते समय गतिशील होते है वैसे ही तुम गतिशील हो) कहा गया है जो 'गतिशील' अर्थ का द्योतक है। यह विशेषण देवताओं, मनुष्यो और पशुओ के लिये प्रयुक्त है। मानवीय सन्दर्भो मे इसका अर्थ 'उत्साही' या 'कर्मण्य' कर सकते है जैसा कि ग्रासमान ने किया है (द्र० व्यार्टरबुख, पृ० ९५४)।

अ॒र्यः —ऋ० मे अर्य शब्द 'स्वामी' और 'वैश्य' अर्थ मे प्रयुक्त है। 'अर्य' 'अरि' शब्द के षष्ठी ए० व० के रूप मे होगा तब शत्रु अर्थ का द्योतक होगा। पा० ने इसे 'अर्यः स्वामिवैश्ययो.' कह कर निपातन शब्द के रूप मे ग्रहण किया है (पा० ३,१,१०३)। रनू ने इसका अर्थ "le tenant de la classe sociale" किया है (द्र० ल ग्रामर द पाणिनि, १,१०९, पेरिस १९४८)। थीमे के अनुसार इसका अर्थ 'गृहपति' (Hausherr) या 'अपरिचित' होना चाहिये (द्र० डेर फ्रेन्डलिग् ईम ऋ०, पृ० ९२–९३)।

'अर्यः' की निष्पत्ति 'ऋ गतौ' मे 'यत्' प्रत्यय करके करेंगे (ऋ + यत् = अर् + य'—पा० ७,३,८४ से गुण होकर)। इसके आधार पर इसे आद्युदात्त होना चाहिये ('यतोऽनावः'—पा० ६,१,२१३), किन्तु कात्यायन ने इस पर वार्तिक जोडा है कि 'स्वामिन्यन्तोदात्तत्वम् च' (पा० ३,१,१०३ पर वार्तिक)। अत. 'स्वामी' अर्थ मे 'अर्य–' शब्द को अन्तोदात्त होना चाहिये जैसा कि प्रस्तुत मंत्र मे है।

अ॒यं सु तुभ्यं॑ वरुण स्वधावो हृ॒दि स्तोम॒ उप॑श्रितश्चिदस्तु ।
शं नः॒ क्षेमे॒ शमु॒ योगे॑ नो अस्तु यू॒यं पा॑त स्व॒स्तिभिः॒ सदा॑ नः ॥ ८ ॥

पदपाठ

अयम्। सु। तुभ्यम्। वरुण। स्वधाऽवः। हृदि। स्तोमः। उपऽश्रितः। चित्। अस्तु। शम्। नः। क्षेमे। शम्। ऊँ इति। योगे। नः। अस्तु। यूयम्। पात। स्वस्तिभिः। सदा। नः॥ ८॥

सायण—हे स्वधाव. अन्नवन् वरुण तुभ्य त्वदर्थं क्रियमाण. अयम् एतत्सूक्तात्मकं स्तोम स्तोत्रं हृदि त्वदीये हृदये सु सुष्ठु उपश्रित· उपगतः समवेत. अस्तु। चित् इति पूरकः। अप्राप्तस्य प्रापणं योगः प्राप्तस्य रक्षणं क्षेम.। नः अस्मदीये क्षेमे रक्षणे शम् उपद्रवाणां शमनम् अस्तु। योगे च नः अस्मदीये प्रापणे शमु शमनमेवास्तूपद्रवाणाम्। हे वरुणादयो देवा नः अस्मान् सर्वदा स्वस्तिभि अविनाशैः पात रक्षत॥

अनुवाद

हे आत्माभिमानी वरुण, यह स्तोत्र तुम्हारे लिये हृदय मे निवास करने वाला (आश्रय ग्रहण करने वाला) हो। यह हमारे लिये (भी) कर्म मे या फलप्राप्ति के समय मे कल्याणकारी हो। तुम लोग अपने अविनाशी कर्मो द्वारा सदैव हमारी रक्षा करो।

टिप्पणी

हृदि स्तोम उपश्रितश्चिदस्तु—सभी भावनात्मक विचारो का स्थान हृदय होता है इसीलिये यहाँ प्रार्थना की गई है कि वरुण हमारी स्तुति को अपने हृदय में स्थान दें। इसी के समान अन्यत्र भी यही भाव प्रकट किये गये है (द्र० ऋ० ३,४२,८, ४,४१,१, ४३,१, ७,१०१,५; १०,९१,१३)।

क्षेमे-योगे—'अप्राप्तस्य प्राप्ति. योग, तस्य रक्षणं क्षेम.' के आधार पर यहाँ 'योग' का अर्थ है 'कर्म मे युक्त रहना' और 'क्षेम' का अर्थ है 'कर्मफल प्राप्ति के पश्चात् आराम मे' स्थिर रहना। दोनो अवस्थाओ में वरुण का कल्याणकारी भाव बना रहना आवश्यक है।

मण्डूक ७ १०३

देवता मण्डूक, ऋषि वसिष्ठ, छन्दः प्र० अनुष्टुभ्, शेष त्रिष्टुभ्

संवत्सरं शशयाना ब्राह्मणा व्रतचारिणः।
वाचं पर्जन्यजिन्वितां प्र मण्डूका अवादिषुः॥ १॥

पदपाठ

सं॒व॒त्स॒रम् । श॒श॒या॒नाः । ब्रा॒ह्म॒णाः । व्र॒त॒ऽचा॒रिणः॑ । वाच॑म् । प॒र्जन्य॑ऽजिन्विताम् । प्र । म॒ण्डूकाः॑ । अ॒वा॒दि॒षुः ॥ १ ॥

सायण—व्रतचारिणः व्रत संवत्सरसत्रात्मकं कर्माचरन्तः ब्राह्मणाः । लुप्तोपममेतत् । एवंभूता ब्राह्मणा इव संवत्सरं शरत्प्रभृति आ वर्षर्तोरेकं संवत्सरं शशयानाः शिश्याना वर्षणार्थं तपश्चरन्त इव बिल एव सन्त एते मण्डूकाः पर्जन्यजिन्वितां पर्जन्येन प्रीतां यया वाचा पर्जन्यः प्रीतो भवति तादृशी वाचं प्र अवादिषुः प्रवदन्ति ॥

अनुवाद

एक सत्र तक कर्म से निरत हुये व्रतचारी ब्राह्मणों के समान (वर्ष भर) शयन करते हुए मण्डूकगण पर्जन्य के द्वारा प्रेरित वाणी को प्रकर्ष रूप से बोले ।

टिप्पणी

सं॒व॒त्स॒र श॒श॒या॒नाः—यहाँ इसके दो अर्थ है । ब्राह्मणो के सन्दर्भ मे यहाँ इसका अर्थ है सोमयाग मे, जो एक सत्र तक चलते है, ब्राह्मण सम्पूर्ण सत्र तक मौन साधन करते है जो उनके शयन का द्योतक है और दूसरी ओर मण्डूक वर्षा की समाप्ति के पश्चात् लगभग एक सत्र तक चुप रहते है जो उनके शयन की ओर इंगित करता है और उसके पश्चात् वर्षा आने पर बोलने लगते है ।

व्र॒त॒चा॒रिणः॑—जिस प्रकार ब्राह्मण मौनादि व्रत को धारण करते है वैसे ही मण्डूक भी न बोलने का मानो व्रत रखते हो ।

प॒र्जन्य॑जिन्वितां—सा० ने इसका अर्थ 'पर्जन्य के द्वारा अच्छी लगने वाली' किया है किन्तु इससे अच्छा यह होगा कि इसका अर्थ 'पर्जन्य द्वारा प्रेरित' करे, क्योकि 'जिन्विता' को 'जिन्व प्रेरणे' से निष्पन्न मानना अधिक सगत होगा ।

म॒ण्डूका॑ः—यहाँ 'मण्डूक' की निष्पत्ति के सम्बन्ध में यास्क को उद्धृत करना संगत प्रतीत होता है । यास्क का इस सूक्त के सम्बन्ध में तथा मण्डूक की निष्पत्ति के सम्बन्ध मे यह कथन है—'वसिष्ठो वर्षकामः पर्जन्य तुष्टाव त मण्डूका अन्वमोदन्त स मण्डूकाननुमोदमानान् दृष्ट्वा तुष्टाव' इति । 'मण्डूका मज्जूका मज्जनान्मदतेर्वा मोदतिकर्मणो मन्दतेर्वा तृप्तिकर्मणो मण्डयतेरिति वैयाकरणा मण्ड एषामोक इति वा मण्डो मुदेर्वा तेषामेषा भवति' (निरु० ९,५; ६) ।

इस प्रकार उन्होने मण्डूक की निष्पत्ति का अन्दाज़ 'मद्', 'मन्द', 'मण्डय्' और 'मुद्' धा० से लगाया है, किन्तु फिर भी यह निष्पत्ति स्पष्ट नही है। इसे 'मडि गतौ' (माधवीय धा० वृत्ति) से निष्पन्न कर सकते है।

(प्र) अवादिषुः—'वद्' (बोलना) धा० का लुङ्, प्र० पु० ब० व० का रूप है।

दिव्या आपो अभि यदेनमायन्दृतिं न शुष्कं सरसी शयानम्।
गवामह न मायुर्वत्सिनीनां मण्डूकानां वग्नुरत्रा समेति ॥ २ ॥

पदपाठ

दिव्याः। आपः। अभि। यत्। एनम्। आयन्। दृतिम्। न। शुष्कम्। सरसी इति। शयानम्। गवाम्। अह। न। मायुः। वत्सिनीनाम्। मण्डूकानाम्। वग्नुः। अत्र। सम्। एति ॥ २ ॥

सायण—दिव्याः दिवि भवाः आपः दृतिं न दृतिमिव शुष्कं नीरसं सरसी। महत्सरः सरसी। गौरादिलक्षणो ङीष्। सरस्याम्। 'सुपां सुलुक्०' इति सप्तम्या लुक्। 'ईदूतौ च सप्तम्यर्थे' इति प्रगृह्यसंज्ञा। महति सरसि निर्जले घर्मकाले शयानं निवसन्तं एनं मण्डूकगणं यत् यदा आयन् अभिगच्छन्ति तदा अत्र अस्मिन् वर्षणे पर्जन्ये वा सति वत्सिनीनां वत्सयुक्तानां गवां न मायुः गवां शब्द इव मण्डूकानां वग्नुः शब्दः समेति संगच्छते। यथा वत्सैः संगतासु गोषु महान् घोषो जायते तद्वद् वृष्टे पर्जन्ये महान् कलकलशब्दो जायत इत्यर्थः। अह इति पूरकः ॥

अनुवाद

महत्सर मे शुष्क दृति (मशक) के समान शयन करते हुये इनके (मण्डूकगणो के) ऊपर जब स्वर्गीय जल (वर्षा का जल) आगमन करता है तब वत्स से युक्त गौओ के शब्द के समान मण्डूको का समवेत स्वर यहाँ गमन करता है (सुनाई पड़ता है)।

टिप्पणी

(अभि) आयन्—'अभि' उपसर्ग पूर्वक 'इण् गतौ' धा० का लङ्, प्र० पु० ब० व० का रूप है।

दृतिं न''' शयानम्—जिस प्रकार शुष्क मशक सीधी पड़ी रहती है वैसे ही तालाबो आदि के सूख जाने पर मण्डूक भी सूखे से पडे रहते है। 'सरसी' पद सप्तम्यन्त है।

गवामह न मायु. वत्सिनीनाम् —बछडो के साथ रहती हुई गौओ के रँभाने का वर्णन ऋ० के अन्य सन्दर्भों मे भी मिलता है (जैसे ऋ० २,२, २, ३,५७,३, ९,१३,७, १०,१२३,३ इत्यादि)।

वग्नुः —इस शब्द की निष्पत्ति 'वच्' धा० से 'ग' प्रत्यय करके हो सकती है जिसके पश्चात् 'नु' प्रत्यय होगा जो 'च' के स्थान पर आदेश रूप होगा ('वचेर्गश्च'—उ० सू० ३,३१३)। 'चित्' होने से अन्तोदात्त होगा ('चित.' पा० ६,१,१६३)।

समेति —'सम्' उप० पूर्वक 'इ' (जाना) धा० का अर्थ यहाँ 'एक साथ होना या समवेत होना' है। क्योकि मण्डूको की वाणी एक साथ ही समवेत रूप मे सुनाई पडती है।

यदीमेनाँ उशतो अभ्यवर्षीत् तृष्यावतः प्रावृष्यागतायाम्।
अख्खलीकृत्या पितरं न पुत्रो अन्यो अन्यमुप वदन्तमेति ॥ ३ ॥

पदपाठ

यत्। ईम्। एनान्। उशतः। अभि। अवर्षीत्। तृष्याऽवतः। प्रावृषि। आऽगतायाम्। अख्खलीकृत्य। पितरम्। न। पुत्रः। अन्यः। अन्यम्। उप। वदन्तम्। एति ॥ ३ ॥

सायण—उशतः कामयमानान् तृष्यावतः तृष्णावतः एनान् मण्डूकान् प्रावृषि वर्षर्तौ आगतायाम् आगते सति यत् यदा अभ्यवर्षीत् पर्जन्यो जलैरभिषिञ्चति। ईम् इति पूरणः। तदानीम् अख्खलीकृत्य। अख्खल इति शब्दानुकरणम्। अख्खलशब्दं कृत्वा पुत्रः पितरं न पितरमिव अन्यः मण्डूकः वदन्त शब्दयन्तम् अन्यं मण्डूकम् उप एति प्राप्नोति ॥

अनुवाद

वर्षा काल आने पर जब कामना करने वाले प्यासे इनके (मण्डूकों के) ऊपर वर्षा हो चुकती है तो अख्खल शब्द करके इनमे एक दूसरे के समीप शब्द करते हुये उसी प्रकार जाता है जैसे कि पिता के समीप पुत्र।

टिप्पणी

उशतः —'वश्' (कामना करना) धा० से 'क्त' प्रत्यय (सम्प्रसारण होने पर) करके यह रूप बनेगा।

(अभि) अवर्षीत्—'वृष सेचने' धा० का लुङ् का रूप। इसका कर्ता यहाँ उपर्युक्त मंत्र का 'पर्जन्य' है।

अख्खलीकृत्य—'अख्खल' शब्द 'शब्दानुकरण' मात्र है।

पितर न पुत्र. —इसकी तुलना हम २,३३,१२ (कुमारश्चित् पितरं वन्दमानम्) से कर सकते है।

अन्य. —इसके पश्चात् 'वदन्' क्रियापद जोडना पडेगा क्योकि दोनो बोलते है।

अन्यो अन्यमनु गृभ्णात्येनोरपां प्रसर्गे यदमन्दिषाताम्।
मण्डूको यदभिवृष्टः कनिष्कन्पृश्निः संपृङ्क्ते हरितेन वाचम् ॥ ४ ॥

पदपाठ

अन्यः। अन्यम्। अनु। गृभ्णाति। एनोः। अपाम्। प्रऽसर्गे। यत्। अमन्दिषाताम्। मण्डूकः। यत्। अभिऽवृष्टः। कनिस्कन्। पृश्निः। सम्ऽपृङ्क्ते। हरितेन। वाचम् ॥ ४ ॥

सायण—एनोः एनयोर्द्वयोर्मण्डूकयो अन्यः मण्डूकः अन्यं मण्डूकमनुगम्य गृभ्णाति गृह्णाति। अपाम् उदकानां प्रसर्गे प्रसर्जने वर्षणे सति यत् यदा अमन्दिषाताम् हृष्टावभूताम्। यत् यदा च अभिवृष्टः पर्जन्येनाभिषिक्तः कनिष्कन्। स्कन्दतेर्यङ्लुगन्तस्य रूपम्। भृशं स्कन्दन्नुत्प्लव उभावप्येकविधं शब्दं कुर्वाते। तदानीमन्योऽन्यमनु गृभ्णातीत्यन्वय ॥

अनुवाद

जल-वृष्टि होने पर जब दोनो आनन्दित हो चुकते है तो इनमे से (दोनों) एक दूसरे को ग्रहण करता है (एक दूसरे का स्वागत करता है।) वर्षा होने पर मण्डूक उछलते हुये चितकबरे रगवाला पीले रंग वाले के साथ अपनी वाणी को सम्पृक्त करता है।

टिप्पणी

अमन्दिषाताम् —'मन्द्' (हर्षित होना) धा० का लुङ्, आत्म०, प्र० पु० द्वि० व० का रूप है।

कनिष्कन् —'स्कन्द्' (उछलना, कूदना) धा० का यङन्त लुङ् का 'अट्' रहित प्र० पु० ए० व० का रूप है। यह रूप ऋ० मे केवल यही पर आया है।

सम्पृङ्क्ते—'सम्' उप० पूर्वक 'पृची सम्पर्के' धा० का आत्म० लट्, प्र० पु० ए० व० का रूप है जो ऋ० मे केवल यही पर आया है।

यदे॑षाम॒न्यो अ॒न्यस्य॒ वाचं॑ शा॒क्तस्ये॑व॒ वद॑ति॒ शिक्ष॑माणः।
सर्वं॒ तदे॑षां स॒मृधे॑व॒ पर्व॒ यत्सु॒वाचो॒ वद॑थ॒नाध्य॒प्सु॥ ५॥

पदपाठ

यत्। ए॒षा॒म्। अ॒न्यः। अ॒न्यस्य॑। वाच॑म्। शा॒क्तस्य॑ऽइव। वद॑ति। शिक्ष॑माणः। सर्व॑म्। तत्। ए॒षा॒म्। स॒मृधा॑ऽइव। पर्व॑। यत्। सु॒ऽवाचः॑। वद॑थन। अधि॑। अ॒प्ऽसु॥ ५॥

सायण-हे मण्डूकाः यत् यदा एषां युष्माकं मध्ये अन्यः मण्डूक अन्यस्य मण्डूकस्य वाचं वदति अनुवदति अनुकरोति शिक्षमाण शिक्ष्यमाण शिष्यः शाक्तस्येव शक्तिमतः शिक्षकस्य वाच यथानुवदति तद्वत्। यत् यदा च सुवाचः शोभनवाचो यूयं सर्वे अप्सु वृष्टेषूदकेषु अधि उपरि प्लवन्तः वदथन वदत शब्दं कुरुत। तत् तदा एषां युष्माकं सर्व पर्व परुष्मच्छरीरं समृधेव समृद्धमेवाविकलावयवमेव भवति। इव शब्दोऽवधारणे। घर्मकाले मृद्भाव-मापन्ना मण्डूका. पुनर्वर्षणे सत्यविकलाङ्गाः प्रादुर्भवन्तीत्यर्थ.॥

अनुवाद

जब इनमे एक दूसरे की वाणी को शिक्षमाण (शिष्य) के रूप में शिक्षक की वाणी के समान बोलता है तब हे मण्डूक, जब तुम जल के ऊपर अपनी सुन्दर वाणी बोलते हो, इनका यह सभी यज्ञ के विशेष पर्व के रूप समृद्ध होता है।

टिप्पणी

शाक्तस्य···शिक्षमाणः—ये दोनो 'शिक्ष्' धा० से निष्पन्न है। यहाँ उपमा का अर्थ यह है कि जिस प्रकार शिष्य अपने शिक्षक की वाणी का अनुकरण कर उसे आवृत्त करता है उसी प्रकार मण्डूकगण भी एक दूसरे की वाणी को दुहराते हैं।

स॒मृधा॑—इसका अन्वय दोनों के साथ होगा। मण्डूकों की वाणी भी समृद्ध होती है और उपमान 'पर्व' भी समृद्ध होता है। इस प्रकार इसका अन्वय—'समृधा पर्व इव सर्वं तद् एषाम् (समृधा अस्ति')—कर सकते है।

पर्व॑—इसके यहाँ दो अर्थ हो सकते है। प्रथम रूप में यह यज्ञ के एक

सत्र के रूप में है जैसा कि ऋ० १,९,१; ९४,४ आदि में (सोमपर्वभिः ; पर्वणा पर्वणा) आया है। दूसरे अर्थ मे 'पर्वन्' को वैदिक मत्रपाठ मे एक 'खण्ड' के रूप मे ले सकते है जैसा कि ऋ० के विभिन्न विभाजन मे 'वर्ग' आदि का रूप है। गेल्डनर (डेर ऋ०, द्वि० भा०, पृ० २७२, टिप्पणी) और मैक्डॉनेल (वे० री० पृ० १४४, टि०) ने इसे इसी 'खण्ड' रूप में ही ग्रहण किया है। गेल्ड० ने अपने विचार की पुष्टि हेतु पारस्कर गृह्यसूत्र २, १०, २० और श० ब्रा० १३,४,३,७ को उद्धृत किया है। इसके विपरीत ओल्डेन० का मत यह है कि 'पर्वन्' यहाँ शरीर के गाँठ रूप मे प्रयुक्त है। जब बरसात होती है तभी मण्डूको की समस्त ग्रन्थियाँ पूर्ण होकर समृद्ध शरीर का रूप धारण करती है। इसकी पुष्टि के लिये उन्होने ऋ० १०,७९,७ के 'समानृधे पर्वभिर्वा-वृधाना' को उद्धृत किया है। किन्तु यहाँ पर ये सभी विचार असगत प्रतीत होते है। यहाँ 'समृधा' और 'पर्व' से यज्ञ के सत्र या विशेष अंश का ग्रहण करना ही सगत होगा जैसा कि वेलण्कर ने किया है (द्र० ऋ० स० म०, पृ० २२३)।

वदथन —'वद्' धा० का लेट्, म० पु०, ब० व० का छान्दस् रूप है।

गोमा॑यु॒रेको॑ अ॒जमा॑युरेकः॒ पृश्नि॒रेको॒ हरि॑त॒ एक॑ एषाम्।
स॒मा॒नं नाम॒ बिभ्र॑तो॒ विरू॑पाः पुरु॒त्रा वाचं॑ पिपिशु॒र्वद॑न्तः ॥ ६ ॥

पदपाठ

गोऽमा॑युः। एकः॑। अ॒जऽमा॑युः। एकः॑। पृश्निः॑। एकः॑। हरि॑तः। एकः॑। ए॒षाम्। स॒मा॒नम्। नाम॑। बिभ्र॑तः। विऽरू॑पाः। पु॒रु॒ऽत्रा। वाच॑म्। पि॒पि॒शुः॒। वद॑न्तः ॥ ६ ॥

सायण—एषां मण्डूकानां मध्ये एक. मण्डूकः गोमायुः गोर्मायुरिव मायुः शब्दो यस्य तादृशो भवति। एक: अन्यो मण्डूक· अजमायुः अजस्य मायुरिव मायुर्यस्य तादृशो भवति। एकः पृश्निः पृश्निवर्णः। एकः अपरः हरितः हरित-वर्णः। एवं विरूपा नानारूपा अपि समानम् एकं मण्डूका इति नाम बिभ्रत: धारयन्त. पुरुत्रा बहुषु देशेषु वाचं वदन्तः शब्दं कुर्वन्त. पिपिशुः अवयवी-भवन्ति प्रादुर्भवन्ति। 'पिश अवयवे'। पुरुशब्दात् 'देवमनुष्यं' इत्यादिना त्राप्रत्ययः ॥

अनुवाद

इनमे एक गो के समान शब्द वाला है तो दूसरा बकरी के शब्द का अनुकरण करता है। एक चितकबरा है तो दूसरा पीतवर्ण का। इनमे सबके नाम समान (अर्थात् मण्डूक) है, किन्तु विभिन्न रूपो को धारण करने वाले ये विभिन्न प्रकार की वाणी बोलते हुये अपने को प्रकाशित करते है।

टिप्पणी

विरूपा: —वाणी और वर्ण दोनो मे अलग-अलग रूप वाले मण्डूक गण।

पिपिशु: —'पिश्' (अवयव करना, सजाना) धा० का लिट्, प्र० पु०, ब० व० का रूप। कुछ व्याख्याकारो ने इसे 'वाचम्' के साथ अन्वित किया है, किन्तु यहाँ इसे अलग रूप मे रख कर इसका अर्थ 'मण्डूक प्रकट हुये' भी किया जा सकता है।

ब्राह्मणासो अतिरात्रे न सोमे सरो न पूर्णमभितो वदन्तः।
संवत्सरस्य तदहः परिष्ठ यन्मण्डूकाः प्रावृषीणं बभूव ॥ ७ ॥

पदपाठ

ब्राह्मणासः। अतिऽरात्रे। न। सोमे। सरः। न। पूर्णम्। अभितः। वदन्तः। संवत्सरस्य। तत्। अहरिति। परि। स्थ। यत्। मण्डूकाः। प्रावृषीणम्। बभूव ॥ ७ ॥

सायण—रात्रिमतीत्य वर्तत इत्यतिरात्रः। अतिरात्रे न सोमे। यथा अतिरात्राख्ये सोमयागे ब्राह्मणास ब्राह्मणा रात्रौ स्तुतशस्त्राणि पर्यायेण शंसन्ति हे मण्डूका.। द्वितीयो नशब्द. सम्प्रत्यर्थे। न सम्प्रति पूर्णं सर: अभित. सर्वत वदन्त रात्रौ शब्द कुर्वाणा यूयं तदह. तद्दिनं परि ष्ठ परित सर्वतो भवथ। यत् अह: प्रावृषीणं प्रावृषेण्य प्रावृषि भवं बभूव तस्मिन्नहनि सर्वतो वर्तमाना भवथेत्यर्थ ॥

अनुवाद

'जिस प्रकार अतिरात्र नामक सोमयाग मे ब्राह्मण स्तुतियों का क्रम से रात्रि भर पाठ करते रहते है, उसी प्रकार हे मण्डूको, तुम लोग भरे हुए तालाब के चारो ओर बोलते हुए वर्ष के इस दिन का वर्तमान रहो जो वर्षा का सूचक है।

टिप्पणी

अतिरात्र—सोमयाग जो पूरे दिन और बाद मे आनेवाली रात्रि तक चलता रहता है। यहाँ आशय यह है कि मण्डूकगण रात्रि में भी शान्त नही होते, बोलते रहते है।

सरः —यहाँ तालाब और सोम से पूर्ण उस कुण्ड का सूचक है, जिसके चारो ओर बैठकर ब्राह्मण मन्त्रोच्चार करते है।

प्रावृषीणम्—वर्षा का प्रारम्भ करनेवाला।

ब्राह्मणासः सोमिनो वाचमक्रत ब्रह्म कृण्वन्तः परिवत्सरीणम्।
अध्वर्यवो घर्मिणः सिष्विदाना आविर्भवन्ति गुह्या न के चित् ॥ ८ ॥

पदपाठ

ब्राह्मणासः। सोमिनः। वाचम्। अक्रत। ब्रह्म। कृण्वन्तः। परि-वत्सरीणम्। अध्वर्यवः। घर्मिणः। सिस्विदानाः। आविः। भवन्ति। गुह्याः। न। के। चित् ॥ ८ ॥

सायण—सोमिनः सोमयुक्ताः परिवत्सरीणं सांवत्सरिकं गवामयनिकं ब्रह्म स्तुतशस्त्रात्मक कृण्वन्त. कुर्वन्त ब्राह्मणास.। लुप्तोपममेतत्। ब्राह्मणा इव वाचं शब्दम् अक्रत अकृषतेमे मण्डूका.। अपि च घर्मिणः घर्म्येण प्रवर्ग्येण चरन्तः अध्वर्यव· अध्वरस्य नेतार ऋत्विज इव सिष्विदाना स्विद्यद्गात्रा गुह्या घर्मकाले बिलेऽभिगूढा के चित् केचन मण्डूका न संप्रति वृष्टौ सत्याम् आविर्भवन्ति जायन्ते ॥

अनुवाद

सांवत्सरिक (वार्षिक) मन्त्र का उच्चारण करते हुए सोमयुक्त ब्राह्मणो ने वाणी का घोष किया (उसी प्रकार मण्डूको ने भी वाणी की) घर्म से संतप्त पसीना बहाते हुये अध्वर्यु बाहर आ जाते हैं, कोई भी लुप्त नही रहता (धूप निकलने पर सभी मण्डूक बाहर आ जाते है।)

टिप्पणी

घर्मिण. —यहाँ घर्म से युक्त का अर्थ 'अग्नि से तप्त' और 'तप्त दुग्ध की हवि' दोनो है। मण्डूको के साथ इसका अर्थ 'सूर्य की गर्मी' है।

सिष्विदाना —अग्नि से तप्त होकर स्वेद-बिन्दुओ से युक्त अध्वर्यु तथा वर्षा से भीगे हुए मण्डूको का भाव द्योतित होता हैं।

दे॒वहि॑तिं जुगुपुर्द्वाद॒शस्य॑ ऋ॒तुं नरो॑ न प्र मि॑नन्त्ये॒ते ।
सं॒व॒त्स॒रे प्रा॒वृष्याग॑तायां त॒प्ता घ॒र्मा अ॑श्नुवते विस॒र्ग॑म् ॥ ९ ॥

पदपाठ

दे॒वऽहि॑तिम् । जुगुपुः । द्वा॒द॒शस्य॑ । ऋ॒तुम् । नरः॑ । न । प्र । मि॒न॒न्ति॒ । एते । सं॒व॒त्स॒रे । प्रा॒वृषि॑ । आऽग॑तायाम् । त॒प्ताः । घ॒र्माः । अ॒श्नु॒व॒ते॒ । वि॒ऽस॒र्ग॑म् ॥ ९ ॥

सायण—नरः नेतार एते मण्डूका देवहितिं देवैः कृतं विधानम् अस्यतीरयम् धर्म इत्येवं रूपं जुगुपु गोपायन्ति । काले काले रक्षन्ति । अत एव द्वादशस्य द्वादशमासात्मकस्य संवत्सरस्य ऋतुं त त वसन्तादिकं न प्र मिनन्ति न हिंसन्ति । पर्जन्यस्तुतेरनुमोदनेन तत्तत्काले वृष्टिहेतवो भवन्ति इत्यर्थः । संवत्सरे सम्पूर्णे प्रावृषि वर्षर्तौ आगतायाम् आगते सति घर्माः पूर्व घर्मकाले वर्तमाना. तप्ताः तापेन पीडिताः सम्प्रति विसर्गं विसर्जनं बिलान्मोचनम् अश्नुवते प्राप्नुवन्ति ॥

अनुवाद

उन्होने द्वादश मास की दैवी विधि का गोपन (रक्षा) किया है। ये लोग ऋतु के नियमो का उल्लघन नही करते। वर्ष मे वर्षा के आ जाने पर घर्म से तप्त (ये) विसर्जन को प्राप्त करते है।

टिप्पणी

जु॒गु॒पुः—'गुप्' (रक्षा करना) धा० का लिट्, प्र० पु०, ब० व० का रूप।

द्वा॒द॒शस्य॑—स्वर की दृष्टि से इसके दो अर्थ—'बारहवाँ' और 'बारह (मासो) का'—है। इसी के आधार पर याकोबी ने वैदिक काल में वर्ष का प्रारम्भ वर्षा ऋतु से माना है।

गोमा॑युरदाद॒जमा॑युरदा॒त्पृश्नि॑रदा॒द्धरि॑तो नो॒ वसू॑नि ।
गवां॑ मण्डू॒का दद॑तः श॒तानि॑ सहस्रसा॒वे प्र ति॑रन्त॒ आयुः॑ ॥ १० ॥

पदपाठ

गोऽमा॑युः । अ॒दा॒त् । अ॒जऽमा॑युः । अ॒दा॒त् । पृश्निः॑ । अ॒दा॒त् । हरि॑तः । नः॒ । वसू॑नि । गवा॑म् । म॒ण्डू॒का॑ः । दद॑तः । श॒तानि॑ । स॒ह॒स्र॒ऽसा॒वे । प्र । ति॒र॒न्ते॒ । आयुः॑ ॥ १० ॥

सायण—गोमायुः गोरिव मायु शब्दो यस्य तादृशो मण्डूक वसूनि धनानि न. अस्मभ्यम् अदात् ददातु । अजमायुः च अदात् ददातु । हरित. हरितवर्णश्च अदात् ददातु । पृश्नि पृश्निवर्णश्च अदात् ददातु । तथा सहस्रसावे सहस्रसंख्याका ओषधय सूयन्त उत्पद्यन्त इति वर्षर्तु. सहस्र-साव. । तस्मिन् सति सर्वे मण्डूका गवां शतानि अपरिमिता गा ददत. अस्मभ्यं प्रयच्छन्त. आयु जीवनं प्र तिरन्ते प्रवर्धयन्तु ॥

अनुवाद

गाय के समान शब्द करने वाले, बकरी की भाँति बोलने वाले, चितकबरे तथा पीतवर्ण वाले मण्डूकों ने हमे धन प्रदान किया है। सहस्रसाव वाले सोमयाग मे सैकड़ो गायो को प्रदान करते हुए मण्डूकों ने आयु का वर्धन किया है।

टिप्पणी

सहस्रसावे—एक प्रकार का सोमयाग जो एक वर्ष तक चलता है और जिसमे सहस्र बार सोम रस निचोडा जाता है।

सोम ९. ५९

देवता सोम, ऋषि आङ्गिरस उचथ्य, छन्दः गायत्री

पवस्व गोजिदश्वजिद्विश्वजित्सोम रण्यजित् । प्रजावद्रत्नमा भर ॥ १ ॥

पदपाठ

पवस्व । गोऽजित् । अश्वऽजित् । विश्वऽजित् । सोम । रण्यऽजित् । प्रजाऽवत् । रत्नम् । आ । भर ॥ १ ॥

सायण—हे सोम गोजित् शत्रूणां गवां जेता अश्वजित् अश्वानामपि जेता विश्वजित् विश्वस्य जगतो जेता रण्यजित् रमणीयस्य धन्यस्यापि जेता त्वं पवस्व धारया क्षर । अपि चास्मभ्यं प्रजावत् पुत्राद्युपेतं रत्नं रमणीयं धनम् आ भर आहर ॥

अनुवाद

हे सोम, प्रवाहित होओ, (जिससे तुम) गौओं के जीतने वाले, अश्वो के जीतने वाले, सबके जीतने वाले और रमणीय सम्पत्तियो के जीतने वाले हो। (हमारे लिये) प्रजाओं (सन्तानो) के सहित तुम कोष का आहरण करो।

टिप्पणी

'गोजित्' —आदि विशेषणों को यहाँ विधेय रूप में ग्रहण करना चाहिये, क्योकि 'पवस्व' क्रिया द्वारा सोम सूक्तो मे अनेक बार सोम को इनका विजेता या धारक कहा गया है।

रण्यजित् —'रण्य' शब्द 'रण्' धा० (प्रसन्न करना, आनन्दित करना) से निष्पन्न है। 'रण्' धा० का इस सन्दर्भ में वही अर्थ है जो अन्य सन्दर्भों मे 'मन्द्' (मद्-हर्षित होना) धा० का है। सोम को 'रण्य' या 'वार्य' वस्तुओ को लाने के लिये कहा गया है (ऋ० ९,३५,३, ६३,३, ६६,४ इत्यादि) और स्वयं सोम 'रण्य' है (ऋ० ९,९६,९)। (विशेष द्रष्टव्य–भाव, सोम सूक्त, प्रथम भाग मे ऋ० ९,७,७ पर 'रणा' सम्बन्धी टिप्पणी, पृ० ४०)।

पवस्वाद्भ्यो अदाभ्यः पवस्वौषधीभ्यः। पवस्व धिषणाभ्यः ॥ २ ॥

पदपाठ

पवस्व। अत्ऽभ्यः। अदाभ्यः। पवस्व। ओषधीभ्यः। पवस्व। धिषणाभ्यः ॥ २ ॥

सायण—हे सोम त्वम् अद्भ्यः वसतीवरीभ्यः अदाभ्यः अंशुभ्यश्च पवस्व क्षर। अपि च ओषधीभ्यः पवस्व क्षर। किंच धिषणाभ्यः ग्रावभ्यः पवस्व क्षर ॥

अनुवाद

(हे सोम) तुम जल के लिये स्रवित होओ, तुम अहिंसित (अविजित) हो, ओषधियो के लिये प्रवाहित होओ। ग्रावाणो (पत्थरों) के लिये स्रवित होओ।

टिप्पणी

अदाभ्य. —सा० ने इसका अर्थ 'अशुभ्य' किया है। वे० मा० ने भी यही किया है। किन्तु अन्य स्थलो पर (ऋ० १,२२,१८, ३,११,५ इत्यादि) सा० ने इसकी व्याख्या 'केनापि हिंसितुमशक्य' (किसी के द्वारा हिंसित न किया जाने वाला) किया है। गेल्ड० के अनुसार इस मंत्र का पाठ क्रम मे नही है (डेर ऋ०, ३,४१)। आपस्तम्ब श्रौतसूत्र १२,१५,८ में यह इस प्रकार है—'पवतेऽद्भ्य· पवत ओषधीभ्य. पवते वनस्पतीभ्य. पवते द्यावापृथिवीभ्याम्'—जो यजुष् मन्त्रो की शैली में है। 'अदाभ्य' यहाँ 'अदाभ्य' शब्द का प्र० ए० व० का रूप है।

यहाँ 'अद्भ्य.' आदि चतुर्थी के अर्थ मे प्रयुक्त है जिसकी तुलना ऋ० ९, ११,३ (स न पवस्व शं गवे शं जनाय शमर्वते । श राजन्नोषधीभ्यः) से की जा सकती है ।

त्वं सो॑म॒ पव॑मानो॒ विश्वा॑नि दुरि॒ता त॑र । क॒विः सी॑द॒ नि ब॒र्हिषि॑ ॥ ३ ॥

पदपाठ

त्वम् । सो॒म॒ । पव॑मानः । विश्वा॑नि । दुः॒ऽइ॒ता । त॒र॒ । क॒विः । सी॒द॒ । नि । ब॒र्हिषि॑ ॥ ३ ॥

सायण—हे सोम पवमानः पूयमान: कवि. क्रान्तकर्मा त्वं विश्वानि सर्वाणि दुरितानि राक्षसै. कृत्यान्युपद्रवाणि तर निराकुरु । अस्मिन् बर्हिषि नि षीद च ॥

अनुवाद

हे सोम, तुम प्रवाहित होते हुए सभी बुराइयो पर विजय प्राप्त करो। क्रान्तिदर्शी तुम बर्हियो (कुशाओ) पर बैठो।

टिप्पणी

✓ दुरि॒ता —यहाँ स्वर की दृष्टि से तत्पुरुष और बहुव्रीहि—दोनो हो सकता है । पा० सू० ६,२,१४४ (थाथघञ्क्ताजबित्रकाणाम्) के अनुसार इसे तत्पुरुष समास होना चाहिये और यदि 'दु.' को 'सु' के बराबर मानें तो पा० ६,२,१७२ (नञ्सुभ्याम्) के अनुसार इसे बहुव्रीहि समास होना चाहिये । किन्तु अर्थ की दृष्टि से इसे तत्पुरुष मानना सगत है । इसका सीधा अर्थ है 'बुराइयाँ', जिसका स्पष्टीकरण ऋ० १,२३,२२ के इस अश से कर सकते है—''इदमाप प्रवहत यत्कि च दुरितं मयि''—'यह जल जो कुछ मुझमें बुराइयाँ (अशुद्धियाँ) है उन्हे बहा ले जाय ।

पव॑मान॒ स्व॑र्विदो॒ जाय॑मानोऽभवो म॒हान् । इन्दो॒ विश्वाँ॑ अ॒भीद॑सि ॥ ४ ॥

पदपाठ

. **पव॑मान । स्वः॑ । वि॒दः॒ । जाय॑मानः । अ॒भ॒वः॒ । म॒हान् । इन्दो॒ इति॑ । विश्वा॑न् । अ॒भि । इत् । अ॒सि॒ ॥ ४ ॥**

सायण—हे पवमान सोम त्वं स्व. सर्वं विद' यजमानाय प्रयच्छ । अपि च जायमानः प्रादुर्भवन्नेव महान् पूजनीय' अभव. असि । किच हे इन्दो सोम त्वं विश्वानित् सर्वानेव शत्रून् अभि असि तेजसाभिभवसि ॥

अनुवाद

हे पवमान, प्रकाशमय बनो। उत्पन्न होते हुए तुम महान् हो गये। हे इन्दु, तुम सभी का अभिभव करते हो।

टिप्पणी

स्वर् —यहाँ 'प्रकाश' के अर्थ मे है। इसकी तुलना अवेस्ता के 'ख्वर' से कर सकते है जिसका अर्थ 'प्रकाश' है।

विद् . —'अट्' रहित लुङ् का रूप है जो यहाँ विध्यर्थ मे प्रयुक्त है।

(अभि) असि —अभि + अस् धा० का अर्थ 'अभिभव' करना होता है।

अक्ष १०. ३४

देवता अक्ष, ऋषि ऐलूष कवष, छन्दः स० जगती शेष त्रिष्टुभ्

प्रावेपा मा बृहतो मादयन्ति प्रवातेजा इरिणे वर्वृतानाः।
सोमस्येव मौजवतस्य भक्षो विभीदको जागृविर्मह्यमच्छान् ॥ १ ॥

पदपाठ

प्रावेपाः। मा। बृहतः। मादयन्ति। प्रवातेऽजाः। इरिणे। वर्वृतानाः। सोमस्यऽइव। मौजऽवतस्य। भक्षः। विऽभीदकः। जागृविः। मह्यम्। अच्छान् ॥ १ ॥

सायण—बृहतः महतो विभीतकस्य फलत्वेन सम्बन्धिनः प्रवातेजा. प्रवणे देशे जाताः इरिणे आस्फारे वर्वृताना. प्रवर्तमानाः प्रावेपाः प्रवेपिणः कम्पनशीला अक्षा. मा मा मादयन्ति हर्षयन्ति। किंच जागृविः जयपराजययोर्हर्षशोकाभ्यां कितवानां जागरणस्य कर्ता विभीदकः विभीतकविकारोऽक्षो मह्यं माम् अच्छान् अचच्छदत् अत्यर्थं मादयति। तत्र दृष्टान्तः। सोमस्येव यथा सोमस्य मौजवतस्य। मुजवति पर्वते जातो मौजवत.। तस्य। तत्र ह्युत्तमः सोमो जायते। भक्षः पानं यजमानान् देवांश्च मादयति तद्वदित्यर्थः ॥

अनुवाद

बृहद् (वृक्ष से) प्रवात मे उत्पन्न हुये पट्टे पर लुढ़कते हुये कम्पायमान (अक्ष) मुझे हर्षित करते है (उन्मादित करते है)। मुञ्जवान् पर्वत पर उत्पन्न होने वाले सोमरस के समान जागृत करनेवाले विभीदक (अक्ष) ने मुझे अत्यन्त हर्षित किया है।

टिप्पणी

प्रावेपा —यह शब्द ऋ० मे केवल यही पर आया है। इसे 'प्र' पूर्वक 'टुवेपृ कम्पने' से निष्पन्न कर सकते है।

प्रावातेजा. —यह शब्द भी ऋ० में केवल यही पर आया है। इसके दो अर्थ सभव है—(१) प्रवण या निम्न प्रदेश मे उत्पन्न, जैसा कि सायण ने किया है, या (२) अधिक या तीव्र वायु जहाँ बहती है ऐसे स्थान में उत्पन्न। दूसरा अर्थ 'प्रवात' के सन्दर्भ मे अधिक उपयुक्त है, क्योकि ऋ० मे अन्यत्र 'प्र वाता वान्ति पतयन्ति विद्युत' (५,८३,४) भी 'प्रवात' के 'तीव्र वायु' अर्थ का द्योतक है।

इरिणे—यह शब्द ऋ० मे छ बार आया है (१, ८६, ९, ८, ४, ३; ८७, १, ४, १०, ३४, १, ९), किन्तु इसका अर्थ सदिग्ध है। इन स्थलो प्रथम सूक्त को छोडकर अन्य मत्रो मे यह मृग से सम्बन्धित है और वहाँ उपमाओ से यह स्पष्ट होता है कि मृग जिस प्रकार मरुस्थल में पानी की लालसा से दौडकर जाता है अर्थात् मृगमरीचिका की भाँति लुभानेवाला, उसी प्रकार देवता भी दौडकर आये। प्रस्तुत सन्दर्भ में भी 'ईरिणे' का अर्थ व्यञ्जनात्मक रूप से 'मृग-मरीचिका' के भाव को द्योतित करता है। यहाँ 'ईरिणे' 'अक्ष' के खेलने का स्थान है जो सभी को अपनी ओर प्रलुब्ध करता है तथा जिस पर पाँसे लुढकते है। दूसरे अर्थ मे विभीदक के उत्पत्ति-स्थान 'मरुभूमि' का भी द्योतक हो सकता है। इसे 'ईर गतौ' से निष्पन्न कर सकते है और इस रूप मे इसका मूल अर्थ होगा—'वह स्थान जहाँ लोग गमन करते है। सायण ने कुछ स्थलो पर इसका अर्थ 'तडाक' किया है। साथ ही 'मरुस्थल' अर्थ भी माना है (ऋ० भा० १, ८६, ९)।

वर्वृताना: —'वृत्' (घूमना, लुढ़कना) धा० से शतृ प्रत्ययान्त यह रूप ऋ० मे केवल यही पर आया ह।

मौजवतस्य—'मुञ्जवान्' पर्वत को सोम का उत्पत्ति स्थान माना गया है।

अच्छान्—'छन्द्' (प्रसन्न करना) धा० प्र० पु० ए० व० लुङ् का रूप है।

न मा मिमेथ न जिहीळ एषा शिवा सखिभ्य उत महामासीत्।
अक्षस्याहमेकपरस्य हेतोरनुव्रतामप जायामरोधम्॥ २॥

पदपाठ

न। मा। मिमेथ। न। जिहीळे। एषा। शिवा। सखिऽभ्यः। उत। मह्यम्। आसीत्। अक्षस्य। अहम्। एकऽपरस्य। हेतोः। अनुऽव्रताम्। अप। जायाम्। अरोधम्॥ २॥

सायण—एषा अस्मदीया जाया मा मां कितवं न मिमेथ न च चुक्रोध न जिहीळे न च लज्जितवती। सखिभ्य. अस्मदीयेभ्य. कितवेभ्यः शिवा सुखकरी आसीत् अभूत्। उत अपि च मह्यम् शिवासीत्। इत्थम् अनुव्रताम् अनुकूलां जायाम् एकपरस्य एकः पर. प्रधानं यस्य तस्य अक्षस्य हेतो. कारणात् अहम् अप अरोध परित्यक्तवानस्मि इत्यर्थ.॥

अनुवाद

यह (मेरी पत्नी) न मुझ पर क्रोधित हुयी और न ही लज्जित हुयी। (यह) मेरे लिये तथा मेरे मित्रो के लिये सुखकरी (या कल्याणकारी) थी। मैने एकपक्षीय अक्ष के हेतु अपनी अनुव्रता पत्नी को छोड़ दिया है।

टिप्पणी

मिमेथ—'मिथ्' (झगडा करना, झूठ बोलना, क्रोधित होना, हिसा करना) धा० का लिट्, प्र० पु० ए० व० का रूप। यहाँ इसका अर्थ 'डाँटना' या 'झगडा करना' भी हो सकता है।

जिहीळे—'हीड्' (लज्जा करना, क्रोधित होना) धा० का लिट्, प्र० पु० ए० व० का रूप है। यह रूप ऋ० मे केवल यही पर आया है। बहुवचनान्त रूप 'जिहीळिरे' भी एक बार (७,५८,५) आया है।

एकपरस्य—स्वर के अनुसार यह तत्पुरुष समास है और यहाँ विशेषण रूप मे प्रयुक्त है। इसका अर्थ है—पाँसे का दाँव एकपक्षीय है अथवा पूरी गणना में चार का भाग देने से यदि एक शेष रह जाता है जो 'कलि' कहलाता है। कुछ भी शेष न रहना सर्वोत्तम है जिसे 'कृत' कहते है।

द्वेष्टि श्वश्रूरप जाया रुणद्धि न नाथितो विन्दते मर्डितारम्।
अश्वस्येव जरतो वस्न्यस्य नाहं विन्दामि कितवस्य भोगम्॥ ३॥

पदपाठ

द्वेष्टि। श्वश्रूः। अप। जाया। रुणद्धि। न। नाथितः। विन्दते। मर्डितारम्। अश्वस्यऽइव। जरतः। वस्न्यस्य। न। अहम्। विन्दामि। कितवस्य। भोगम्॥ ३॥

सायण—श्वश्रू जायाया माता गृहगतं कितवं द्वेष्टि निन्दतीत्यर्थः। किंच जाया भार्या अप रुणद्धि निरुणद्धि। अपि च नाथित. याचमानः कितवो धनं मर्डितारं धनदानेन सुखयितारं न विन्दते न लभते। इत्थं बुद्ध्या विमृशन्

अहं जरतः वृद्धस्य वस्न्यस्य। वस्न मूल्यम्। तदहंस्य अश्वस्येव कितवस्य भोगं न विन्दामि न लभे ॥

अनुवाद

(मेरी) सास (मुझसे) द्वेष करती है और पत्नी (मुझे) रोकती है। याचना करने वाला (कितव) अनुकम्पा करने वाले को नही पाता है। वृद्ध अश्व के मूल्य के समान मै कितव (जुआरी) के भोग को नही प्राप्त करता (अर्थात् जिस प्रकार जर्जर अश्व का कोई मूल्य नही प्राप्त होता वैसे ही जुआरी का भी कोई मूल्य नही है)।

टिप्पणी

अप॑ रुणद्धि—'अप' पूर्वक 'रुध' (रोकना, अवरोध करना) धा० का लट्, प्र० पु० ए० व० का रूप है। यहाँ इसके दो अर्थ सभव हैं—(१) पत्नी बाहर जाने से रोकती है या (२) पैसे माँगने पर पत्नी उसे बाहर कर देती है अर्थात लौटा देती है। दूसरा अर्थ मैक्डॉनेल ने स्वीकार किया है (वे० री० पृ०१८८)।

म॒र्डि॒तार॑म्—'मृड सुखने' धा० से 'तृच्' और इडागम करके 'मडिता' शब्द की निष्पत्ति कर सकते है। 'चित्' होने से अन्तोदात्त स्वर होगा ('चित'— पा० ६, १, १६३)।

जर॑तः—'जॄ वयोहानौ' से 'शतृ' करके यह शब्द बनेगा।

वस्न्य॑स्य—यह पद ऋ० मे केवल यही पर आया है। 'वस्न' शब्द का अर्थ 'मूल्य' है जैसा कि ऋ० ४, २४, ९ (भूय॑सा व॒स्नम॑चर॒त् कनी॑योऽवि॑क्रीतो अकानिषम्...) से स्पष्ट है। हिन्दी का 'बसनी' (पैसा रखने की थैली) शब्द इसी 'वस्न' (धन, मूल्य) से आया होगा। 'वस्न्य' का अर्थ 'मूल्यवान्' या 'मूल्य के योग्य' होगा।

अ॒न्ये जा॒यां परि॑ मृशन्त्यस्य॒ यस्याग॑धद्वेदने वा॒ज्य१॑क्षः।

पि॒ता मा॒ता भ्रात॑र एनमाहु॒र्न जा॑नीमो नय॑ता बद्धमे॒तम् ॥ ४ ॥

पदपाठ

अ॒न्ये। जा॒याम्। परि॑। मृ॒शन्ति॒। अ॒स्य॒। यस्य॑। अग॑धत्। वेद॑ने। वा॒जी। अ॒क्षः। पि॒ता। मा॒ता। भ्रात॑रः। ए॒न॒म्। आ॒हुः॒। न। जा॒नी॒मः॒। नय॑त। ब॒द्धम्। ए॒तम् ॥ ४ ॥

सायण—यस्य कितवस्य वेदने धने वाजी बलवान् अक्ष: देवः अगृधत् अभिकाङ्क्षां करोति तस्य अस्य कितवस्य जायां भार्याम् अन्ये प्रतिकितवा. परि मृशन्ति वस्त्रकेशाद्याकर्षणेन संस्पृशन्ति । किंच पिता जननी च भ्रातर सहोदराश्च एनं कितवम् आहु. वदन्ति । न वयमस्मदीयमेन जानीम । रज्ज्वा बद्धमेतं कितव हे कितवाः यूय नयत यथेष्टदेशं प्रापयतेति ॥

अनुवाद

इसकी पत्नी का अन्य लोग संस्पर्श करते है जिसके धन मे बलवान् अक्ष ने अभिकाक्षा (लालच) की है। पिता, माता और बन्धुगण इसे कहते है, 'हम लोग इसे नही जानते, बँधे हुये इसे ले जाओ।'

टिप्पणी

अगृधत्—'गृध्' (लालच करना) धातु का लङ्, प्र० पु० ए० व० का रूप है। 'लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्त.' (पा० ६, ४, ७१) से आद्युदात्त है।

वाज्य१क्ष.—यहाँ 'वाजी' और 'अक्ष' मे 'क्षैप्र' (यण्) सन्धि है और उसी के कारण क्षैप्र स्वरित है।

एनम्—यह पद यहाँ 'आहु' और 'जानीम' दोनो क्रियापदो के साथ सबद्ध है जिसे 'Ward Economy ın Vedıc Interpretatıon' के आधार पर समझा जा सकता है (द्र० वेलण्कर, Word Economy···, ABORI)

यदादीध्ये न दविषाण्येभिः परायद्भ्योऽव हीये सखिभ्यः ।
न्युप्ताश्च बभ्रवो वाचमक्रतँ एमीदेषां निष्कृतं जारिणीव ॥ ५ ॥

पदपाठ

यत् । आऽदीध्ये । न । दविषाणि । एभिः । परायत्ऽभ्यः । अव । हीये । सखिभ्यः । निऽउप्ताः । च । बभ्रवः । वाचम् । अक्रत । एमि । इत् । एषाम् । निःऽकृतम् । जारिणीऽइव ॥ ५ ॥

सायण—यत् यदा अहम् आदीध्ये ध्यायामि तदानीम् एभिः अक्षै. न दविषाणि न दूषये न परितपामि । यद्वा । न दविषाणि न देविष्यामीत्यर्थः । परायद्भ्यः स्वयमेव परागच्छद्भ्य· सखिभ्य: सखिभूतेभ्यः कितवेभ्यः अव हीये अवहितो भवामि । नाहं प्रथममक्षान् विसृजामीति । किंच बभ्रव. बभ्रुवर्णा अक्षाः न्युप्ताः कितवैरवक्षिप्ता सन्त: वाचमक्रत शब्दं कुर्वन्ति । तदा संकल्पं परित्यज्य अक्षव्यसनेनाभिभूयमानोऽहम् एषामक्षाणां निष्कृतं स्थानं जारिणीव यथा काम-व्यसनेनाभिभूयमाना स्वैरिणी संकेतस्थानं याति तद्वत् एमीत् गच्छाम्येव ॥

अनुवाद

जब मै विचार करता हूँ कि इनके साथ नही जाऊँगा (और) मैं जाते हुये मित्रो के द्वारा छोड़ दिया जाऊँगा; (किन्तु जब भी) फेंके गये भूरे रंग वाले (अक्षो ने) वाणी की तब मै अभिसारिका की भाँति इनके स्थान पर सीधा चला जाता हूँ।

टिप्पणी

आदीध्ये—'धी' (विचार करना) धा० का आत्म०, लट्, उ० पु० ए० व० का रूप है जो ऋ० मे केवल यही पर आता है।

दविषाणि—'दु' (जाना) धा० का लेट्, उ० पु० ए० व० का रूप है जो ऋ० मे यही पर आया है। इसके रूप और मूल धा० के सम्बन्ध में विद्वानो में मतभेद है। वें० मा० और सायण के अनुसार यह 'दु' (परितापे) या 'दीव्' (खेलना) धातु का रूप है जिसे रोठ ने भी स्वीकार किया है। किन्तु इसमें सन्देह है। ग्रासमान के अनुसार यह दु (गतौ) का रूप है। उन्होने प्रथम दो पादो का अनुवाद 'जब मै सोचता हूँ कि आगे मै अब नही खेलूँगा और मैं अपने सभी मित्रो के द्वारा छोड दिया जाऊँगा'—किया है और इसे 'दिव्' (खेलना) या 'दु' (परितापे) का रूप माना है। किन्तु डेलब्रुक ने इसे 'दु' (गतौ) का रूप माना है (Vedischen Chrestomathie, P.39 Anm 5) जिसे श्रोडर (L. von Schroeder) ने अपने लेख में स्वीकार किया है और दविषाणि' का अर्थ 'भविष्य मे गमन करना' (in die Ferne gehen) किया है (द्र० WZKM 13,119-122)। आउफ्रेश्ट ने भी यही अर्थ स्वीकार किया है (द्र० Kuhn's Zeitschrift 26,610)। प्रस्तुत मंत्र मे 'एमि' (गमन करता हूँ) क्रियापद से भी 'दविषाणि' का अर्थ 'गमन करूँगा' ही परिलक्षित होता है। अर्थात्—'एक बार संकल्प करता हूँ कि इनके साथ नही जाऊँगा, किन्तु पाँसो का शब्द सुनते ही चला जाता हूँ'—अर्थ ही अभिधेय प्रतीत होता है।

(अव) हीये—'हा' (छोडना, त्यागना) धा० का कर्मवाच्य में उ० पु० ए० व० का रूप पचमी के साथ।

(नि) उप्ता.—'वप्' (छितराना, बोना) धा० से शतृ प्रत्ययान्त रूप।

अक्रत—'कृ' (करना) धा० का लुङ्, प्र० पु०, ब० व०, आत्म० रूप। 'यत' के सम्बन्ध से आद्युदात्त है (पा० ८,१,३०)। अन्यथा 'लुङ्लङ्'......

उदात्त.' (पा० ६,४,७१) से 'अ' पर उदात्त संभव है। सहितापाठ मे अन्त्य 'त' को आनुनासिक (तँ) हो गया है जो उसके पश्चात् आने वाले पाद मे 'ए' से संधि न होने का साकेतिक रूप है ।

एषाम्—यह 'बभ्रव' के प्रति संकेत करता है जो 'अक्षो' के लिए आया है।

मंत्र का अन्तिम पाद जगती छन्द मे है जो त्रिष्टुभ् के साथ सम्मिश्रित है।

सभामे॑ति कित॒वः पृच्छमा॑नो जे॒ष्यामीति॒ त॒न्वा॒ ३ शूशु॑जानः ।
अ॒क्षासो॑ अस्य॒ वि ति॑रन्ति॒ कामं॑ प्रति॒दीव्ने॒ दध॑त॒ आ कृ॒तानि॑ ॥ ६ ॥

पदपाठ

स॒भाम् । एति॒ । कि॒तवः॑ । पृच्छमा॑नः । जे॒ष्यामि॑ । इति॑ । त॒न्वा॑ । शूशु॑जानः । अ॒क्षासः॑ । अ॒स्य॒ । वि । ति॒र॒न्ति॒ । काम॑म् । प्र॒ति॒ऽदीव्ने॑ । दध॑तः । आ । कृ॒तानि॑ ॥ ६ ॥

सायण—तन्वा शरीरेण शूशुजानः शोशुचानो दीप्यमानः कितवः कोऽत्रास्ति धनिकस्तं जेष्यामि इति पृच्छमानः पृच्छन् सभां कितवसम्बन्धिनीम् एति गच्छति । तत्र प्रतिदीव्ने प्रतिदेवित्रे कितवाय कृतानि देवनोपयुक्तानि कर्माणि आ दधतः जयार्थमाभिमुख्येन मर्यादया वा दधतः अस्य कितवस्य कामम् इच्छाम् अक्षासः अक्षा. वि तिरन्ति वर्धयन्ति ॥

अनुवाद

शरीर से वर्धित होता हुआ जुआरी 'जीतूँगा' ऐसा स्वयं से पूछता हुआ सभा मे आगमन करता है, और पाँसे उसके विरोधी के पक्ष मे जाते हुए उसकी (खेलने की) इच्छा को और वर्धित करते है।

टिप्पणी

त॒न्वा॑—यहाँ पर स्वतंत्र स्वरित है और उसके कारण उसके पश्चात् संख्या का विधान है।

शूशु॑जानः —इस शब्द की व्युत्पत्ति मे विद्वानो मे मतभेद है। सायण ने इसे 'शुच्' का रूप माना है, परन्तु अन्यत्र (१०, २७, २) 'शूशुजानान्' की व्याख्या 'दीप्त्या युक्तान् पुष्टान् इत्यर्थ' की है जहाँ इसके साथ 'त॒न्वा॑' भी है। इसके समान दूसरे रूप न मिलने के कारण मैकडॉनेल ने इसके अर्थ पर सन्देह

व्यक्त किया है। अन्य व्याख्याकार भी स्पष्ट नही है। मैक्डॉनेल का यह कहना कि इससे 'भय' या 'विश्वास' प्रकट होता है (वे० री० पृ० १९०) निरर्थक प्रतीत होता है।

'शूशुजान:' 'शू' धा० से निष्पन्न हो सकता है जिसका मूल अर्थ 'फूलना' (to swell) है जिससे बाद मे 'शक्तिशाली होना', 'वर्धित होना' आदि अर्थ निकले है। लेटिन का 'कवुस्' और ग्रीक का 'खोइलोस्' इसी अर्थ का द्योतक है। ऋ० के अन्य पद शूशुवाम (८, २१, १२), शूशुवत् (१,५४,७; २, २५, १; ८, ३१,३), शूशुवास (१, १६७, ९), शूशुवान (४, २७, २; ७, २०, २, १०, २८, ९), शूशुवानस्य (१०, १११, ६) आदि इसी धातु से निष्पन्न रूप है। यह शरीर के फूलने या वर्धित होने या शक्तिशाली बनने अर्थ मे ही सर्वत्र प्रयुक्त है। वास्तव मे 'शूशुवान' और 'शूशुजान' दोनो एक ही अर्थ के द्योतक है। 'शूशुजान' का एकमात्र प्रयोग इस बात का द्योतक है कि यह प्रचलित नही था। आज भी हिन्दी मे शरीर के फूलने या शक्तिशाली होने के लिए 'सुसुआ जाना' (फूलना, मजबूत होना) प्रयोग इस बात का द्योतक है कि 'शूशुजान' पद शरीर के वर्धित होने या उत्साह में फूलने अथवा शक्तिशाली होने अर्थ का ही द्योतक है, प्रदीप्त होने या कम्पित होने अर्थ का नही। 'शू' या 'श्वि' से ही हम 'शुज्' (सूजना, फूलना) धा० का विकास मान सकते है जो इन्ही अर्थो की द्योतक है। इससे 'तूतुंजान' (१, ३, ६, ६१, १२; ६, २९, ५, ३७, ५) के तादात्म्य पर 'लिट कानज्वा' (पा० ३, २, १०६) से 'कानच्' प्रत्यय कर अभ्यास को दीर्घ (पा० ६, १, ७) करके 'शूशुंजान' शब्द निष्पन्न कर सकते है जिसमे अभ्यास के आदि पर उदात्त स्वर होगा ('अभ्यस्तानामादि:'—पा० ६, १, १८९)। इसी प्रकार 'तूतुंजान:' और 'शूशुवान:' भी है। 'शुज्' धा० को मॉनि० वि० (स० को०) और ह्विटनी ने भी माना है।

(वि) तिरन्ति—'वि' उपसर्ग पूर्वक 'तॄ' (वर्धित होना) धा० का लट्, प्र० पु०, ए० व० का रूप है। यहाँ खेलने की इच्छा के वर्धित होने का संकेत है।

प्रतिदीव्ने—यह शब्द ऋ० मे केवल यही पर आया है। यहाँ यह विरोधी खिलाडी (जुआरी) के लिए प्रयुक्त चतुर्थ्यन्त पद है।

कृतानि—यह पद 'कृत' (विरोध मे जानेवाले पाँसे) का ब० व० रूप है।

अक्षास इदङ्कुशिनो नितोदिनो निकृत्वानस्तपनास्तापयिष्णवः।
कुमारदेष्णा जयतः पुनर्हणो मध्वा संपृक्ताः कितवस्य बर्हणा ॥ ७ ॥

पदपाठ

अक्षासः । इत् । अङ्कुशिनः । निऽतोदिनः । निऽकृत्वानः । तपनाः । तापयिष्णवः । कुमारऽदेष्णाः । जयतः । पुनःऽहनः । मध्वा । सम्ऽपृक्ताः । कितवस्य । बर्हणा ॥ ७ ॥

सायण—अक्षास इत् अक्षा एव अङ्कुशिन. अङ्कुशवन्तः नितोदिनः नितोदितवन्तश्च निकृत्वान. पराजये निकर्तनशीलाश्छेत्तारो वा तपना. पराजये कितवस्य संतापकाः तापयिष्णवः सर्वस्वहारकत्वेन कुटुम्बस्य संतापनशीलाश्च भवन्ति । किंच जयत. कितवस्य कुमारदेष्णा. धनदानेन धान्यतां लम्भयन्तः कुमाराणां दातारो भवन्ति । अपि च मध्वा मधुना सम्पृक्ता. प्रतिकितवेन बर्हणा परिवृद्धेन सर्वस्वहरणेन कितवस्य पुनर्हण. पुनर्हन्तारो भवन्ति ॥

अनुवाद

ये अक्ष अंकुशवाले, तीक्ष्ण, धूर्त, तप्त और तप्त करने वाले है। बालकों की भाँति उपहार देकर (छीन लेने वाले), विजयी का पुन. हनन करने वाले, कितव की बर्हणा (जादू) से युक्त मधु से सम्पृक्त है।

टिप्पणी

अंकुशिनो नितोदिनः—इससे यह ध्वनित होता है कि वे खेलने के लिए बार-बार बाध्य करते है।

तापयिष्णवः.—हार जाने पर कितव स्वय और दूसरो को भी कष्ट देता है, इस लिए अक्ष तप्त करने वाले है।

बर्हणा—यह तृतीया ए० व० का रूप है। सा० की व्याख्या 'परिवृद्धेन' सगत नही प्रतीत होती। गेल्ड० ने इसका अर्थ 'अति उत्साह' (übereifer) और 'विश्वास' (Zuversicht) किया है। 'बर्ह' की निष्पत्ति 'बर्ह वळ्ह परिभाषणहिंसाच्छादनेषु' से होगी जिसके आधार पर यह 'मधु के सम्पर्क मे' विशेष नशा या जादू का अर्थ सभव है। अन्यथा विशेष 'शक्ति' का भी द्योतक हो सकता है जिसमे जीतने के उत्साह का भाव निहित है।

त्रिपञ्चाशः क्रीळति व्रात एषां देवइव सविता सत्यधर्मा ।
उग्रस्य चिन्मन्यवे ना नमन्ते राजा चिदेभ्यो नम इत्कृणोति ॥ ८ ॥

पदपाठ

त्रिऽपञ्चाशः । क्रीळति । व्रातः । एषाम् । देवःऽइव । सविता । सत्यऽधर्मा । उग्रस्य । चित् । मन्यवे । न । नमन्ते । राजा । चित् । एभ्यः । नमः । इत् । कृणोति ॥ ८ ॥

सायण—एषाम् अक्षाणा त्रिपञ्चाश. त्र्यधिकपञ्चाशत्संख्याक. व्रातः संघः क्रीळति आस्फारे विहरति । अक्षिकाः प्रायेण तावद्भिरक्षैर्दीव्यन्ति हि । तत्र दृष्टान्त. । सत्यधर्मा सविता सर्वस्य जगत प्रेरक: सूर्यो देव इव । यथा सविता देवो जगति विहरति तद्वदक्षाणां संघ आस्फारे विहरतीत्यर्थ. । किंच उग्रस्य चित् क्रूरस्यापि मन्यवे क्रोधाय एते अक्षा न नमन्ते न प्रह्वीभवन्ति । न वशे वर्तन्ते । तं नमयन्तीत्यर्थ । राजा चित् जगत ईश्वरोऽपि एभ्यः नम इत् नमस्कारमेव देवनवेलायां कृणोति । नावज्ञां करोतीत्यर्थः ॥

अनुवाद

सत्य धर्म वाले सवितृ देवता के समान इनका एक सौ पचास का गण क्रीड़ा करता है । ये उग्र व्यक्ति के क्रोध के सामने भी नही नमित होते और राजा भी इनके सामने नमस्कार करता है ।

टिप्पणी

त्रिपञ्चाशः —सायण के अनुसार 'तिरपन' अर्थ है किन्तु मैक्डॉनेल ने इसे १५० के अर्थ मे ग्रहण किया है (वे० री० पृ० १९१) । गेल्डनर ने भी 'तीन गुणित पचास' (dreimal funfzig) अर्थ किया है (Der RV. III, 184; Vedische Studien I, 141 n) । यह अर्थ ऋ० १,१३३,४ के 'तिस्रः पञ्चास.' और ऋ० १०,९०,१५ के 'त्रि सप्त (समिधः)' से स्पष्ट हो जाता है जहाँ सायण ने भी 'त्रिगुणीकृतसप्तसंख्याका. एकविंशति.' व्याख्या दी है । अतः 'त्रिगुणित' अर्थ की पुष्टि होती है ।

देव इव सविता सत्यधर्मा —यह तुलना का भाव यह है कि जिस प्रकार सवितृ देवता के नियम का उल्लघन नही होता है वैसे ही अक्षो के नियम का भी उल्लंघन नही होता ।

नीचा वर्तन्त उपरि स्फुरन्त्यहस्तासो हस्तवन्तं सहन्ते ।
दिव्या अङ्गारा इरिणे न्युप्ताः शीताः सन्तो हृदयं निर्दहन्ति ॥ ९ ॥

पदपाठ

नीचाः । वर्तन्ते । उपरि । स्फुरन्ति । अहस्तासः । हस्तऽवन्तम् । सहन्ते । दिव्याः । अङ्गाराः । इरिणे । निऽउप्ताः । शीताः । सन्तः । हृदयम् । निः । दहन्ति ॥ ९ ॥

सायण—अपि चैतेऽक्षाः नीचा नीचीनस्थले वर्तन्ते । तथापि उपरि पराजयात् भीतानां द्यूतकराणां कितवानां हृदयस्योपरि स्फुरन्ति । अहस्तास हस्तरहिता अप्यक्षा' हस्तवन्तं द्यूतकर कितव सहन्ते पराजयकरणेनाभिभवन्ति । दिव्या दिवि भवा अपकृताः अङ्गाराः अङ्गारसदृशा अक्षा इरिणे इन्धनरहिते आस्फारे न्युप्ता शीताः शीतस्पर्शा सन्तः अपि हृदयं कितवानामन्तःकरणं निर्दहन्ति पराजयजनितसतापेन भस्मीकुर्वन्ति ॥

अनुवाद

(अक्ष) नीचे को लुढकते है और ऊपर को स्फुरित होते है तथा हस्त रहित होने पर भी हाथ वालो को अभिभूत करते है । ये दिव्य अङ्गार (के समान) फलक पर बिखरे हुये शीतल होने पर भी हृदय को दग्ध करते है ।

टिप्पणी

इस मंत्र मे प्रत्येक पाद मे दो विरोधी भावनाएँ प्रस्तुत की गई है, जैसे— नीचा –उपरि; अहस्तास –हस्तास , दिव्या –हरिणे, शीता -निर्दहन्ति । 'दिव्या.' पद से अक्षो की दिव्य शक्ति का सकेत है जिसके समक्ष राजा भी नमित होता है ।

अङ्गारा —अक्षो की तुलना अङ्गारो से की गई है क्योकि ये हारने वालो के हृदय को अङ्गार के समान ही तप्त करते है । इसकी तुलना श० ब्रा० के 'अधि-देवन वा अग्निस्तस्यैतेऽङ्गारा यद् अक्षा.' (फलक अग्नि है और अक्ष उसके अङ्गार हैं)—से कर सकते है ।

जाया तप्यते कितवस्य हीना माता पुत्रस्य चरतः क्व स्वित् ।
ऋणावा बिभ्यद्धनमिच्छमानोऽन्येषामस्तमुप नक्तमेति ॥ १० ॥

पदपाठ

जाया । तप्यते । कितवस्य । हीना । माता । पुत्रस्य । चरतः । क्व । स्वित् । ऋणऽवा । बिभ्यत् । धनम् । इच्छमानः । अन्येषाम् । अस्तम् । उप । नक्तम् । एति ॥१०॥

सायण—क्व स्वित् क्वापि चरतः निर्वेदाद्गच्छतः कितवस्य जाया भार्या हीना परित्यक्ता सती तप्यते वियोगजसंतापेन संतप्ता भवति। माता जनन्यपि पुत्रस्य क्वापि चरतः कितवस्य संबन्धाद्धीना तप्यते। पुत्रशोकेन संतप्ता भवति। ऋणावा अक्षपराजयादृणवान् कितवः सर्वतो बिभ्यद्धन स्तेयजनितम् इच्छमानः कामयमानः अन्येषां ब्राह्मणादीनाम् अस्तं गृहम्। 'अस्तं पस्त्यम्' इति गृहनामसु पाठात्। नक्तं रात्रौ उप एति चौर्यार्थमुपगच्छति॥

अनुवाद

कितव की परित्यक्ता पत्नी दु खित होती है और पुत्र के अनिश्चित भ्रमण के कारण माता भी परितप्त होती है। ऋणी होने के कारण भय-भीत होता हुआ धन की कामना से वह रात्रि मे दूसरो के घर (चोरी करने) जाता है।

टिप्पणी

तप्यते—इस क्रियापद का सम्बन्ध 'जाया' और 'माता' दोनो से है।

ऋणावा—'व' के परे होने के कारण 'व' के पूर्व का 'अ' दीर्घ हो गया है। इसी प्रकार 'ऋतावा' आदि भी है।

बिभ्यत्—'भी' (डरना) धा० का शतृ प्रत्ययान्त रूप है।

उप एति—यहाँ गमन का अर्थ दो अर्थों में ग्रहण किया जा सकता है। या तो वह ऋणभय से अपने घर न आकर रात्रि मे दूसरो के घर सोता है अथवा दूसरो के घर रात्रि मे चोरी करने जाता है। 'धनमिच्छमान' के सन्दर्भ मे दूसरा अर्थ अधिक उपयुक्त है। 'धनमिच्छमानः' की तुलना अथर्व० ३, १५, ५ से कर सकते है।

स्त्रियं दृष्ट्वाय कितवं ततापान्येषां जायां सुकृतं च योनिम्।
पूर्वाह्णे अश्वान्युयुजे हि बभ्रून्त्सो अग्नेरन्ते वृषलः पपाद॥ ११॥

पदपाठ

स्त्रियम्। दृष्ट्वाय। कितवम्। ततापृ। अन्येषाम्। जायाम्। सुऽकृतम्। च। योनिम्। पूर्वाह्णे। अश्वान्। युयुजे। हि। बभ्रून्। सः। अग्नेः। अन्ते। वृषलः। पपाद॥ ११॥

सायण—कितवं कितव. । विभक्तिव्यत्यय. । अन्येषां स्वव्यतिरिक्तानां पुरुषाणां जायां जायाभूतां स्त्रियं नारीं सुखेन वर्तमानां सुकृतं सुष्ठु कृतं योनिं गृहं च दृष्ट्वाय मज्जाया दुःखिता गृहं चासंस्कृतमिति ज्ञात्वा तताप तप्यते । पुनः पूर्वाह्णे प्रातःकाले बभ्रून् बभ्रुवर्णान् अश्वान् व्यापकानक्षान् युयुजे युनक्ति । पुनश्च वृषल. वृषलकर्मा सः कितवो रात्रौ अग्नेरन्ते समीपे पपाद शीतार्तः सन् शेते ॥

अनुवाद

किसी स्त्री को, दूसरे की पत्नी को तथा सुनिर्मित गृह को देखकर कितव को दु ख होता है। प्रात.काल वह भूरे रगवाले अश्वो को (अक्षो को) जोतता है और (सायकाल) अग्नि के समीप वृषल के समान गिरता है।

टिप्पणी

दृष्ट्वाय—'दृश्' धा० का वैदिक 'क्त्वा' प्रत्ययान्त रूप ।

तताप— तप्' धा० का लिट् का रूप जो यहाँ वर्तमान अर्थ मे प्रयुक्त है। इसी के समान 'युयुजे' और 'पपाद' का प्रयोग भी लट् अर्थ में है ।

युयुजे—'युजिर् योगे' धा० का लिट्, प्र० पु० ए० व० का रूप है। यहाँ 'हि' परे होने पर क्रियापद पर उदात्त स्वर है ('हि च'—पा० ८,१,३४) ।

पपाद —'पत्' धा० का लिट् का रूप ।

यहाँ तात्पर्य यह है कि कितव हारने पर अग्नि के समीप भिखारी की तरह रात व्यतीत करता है ।

यो वः सेनानीर्महतो गणस्य राजा व्रातस्य प्रथमो बभूव ।
तस्मै कृणोमि न धना रुणध्मि दशाहं प्राचीस्तदृतं वदामि ॥ १२ ॥

पदपाठ

यः । वः । सेनानीः । महतः । गणस्य । राजा । व्रातस्य । प्रथमः । बभूव । तस्मै । कृणोमि । न । धना । रुणध्मि । दश । अहम् । प्राचीः । तत् । ऋतम् । वदामि ॥ १२ ॥

सायण—हे अक्षा. वः युष्माकं महतो गणस्य संघस्य यः अक्षः सेनानीः नेता बभूव भवति व्रातस्य च । गणव्रातयोरल्पो भेदः । राजा ईश्वरः प्रथमः

मुख्यो बभूव तस्मै अक्षाय कृणोमि अहमञ्जलिं करोमि । अतः परं धना धनानि अक्षार्थमहं न रुणध्मि न सम्पादयामीत्यर्थः । एतदेव दर्शयति । अहम् दश दशसंख्याका अङ्गुलीः प्राचीः प्राङ्मुखीः करोमि । तत् एतत् अहं ऋतं सत्यमेव वदामि । नानृतं ब्रवीमीत्यर्थ ॥

अनुवाद

(हे अक्ष !) जो तुम्हारे महान् गण का सेनानी और संघ का प्रथम राजा है उनके समक्ष मै अपनी दशो अगुलियो को उठाकर सत्य कहता हूॅ कि मै धन का निरोध नही कर रहा हूॅ (अर्थात् मेरे पास धन नही है ।)

टिप्पणी

यहाँ 'गण' और 'व्रात' एक ही अर्थ—'समूह' के द्योतक है और राजा तथा सेनानी उस विजयी अक्ष का संकेत करते है जो कितव के धन का हरण करते है ।

दश कृणोमि प्राचीः —इससे यहाँ दोनो हाथो उठाकर शपथ खाने की मुद्रा का भाव प्रकट होता है अथवा घोषणा (Declaration) का भाव द्योतित होता है । इसकी तुलना अथर्व० ५, २८, ११ से कर सकते है ।

'प्राची.' 'प्राञ्च' शब्द का (स्त्री०) द्वि० ब० व० का रूप है ।

न धना रुणध्मि—अर्थात् अब मेरे पास खेलने के लिये धन नही रह गया है ।

अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित्कृषस्व वित्ते रमस्व बहु मन्यमानः ।
तत्र गावः कितव तत्र जाया तन्मे वि चष्टे सवितायमर्यः ॥ १३ ॥

पदपाठ

अक्षैः । मा । दीव्यः । कृषिम् । इत् । कृषस्व । वित्ते । रमस्व । बहु । मन्यमानः । तत्र । गावः कितव । तत्र । जाया । तत् । मे । वि । चष्टे । सविता । अयम् । अर्यः ॥ १३ ॥

सायण—हे कितव बहु मन्यमानः मद्वचने विश्वासं कुर्वंस्त्वम् अक्षैर्मा दीव्यः द्यूतं मा कुरु । कृषिमित् कृषिमेव कृषस्व कुरु । वित्ते कृष्या संपादिते धने रमस्व रतिं कुरु । तत्र कृषौ गावः भवन्ति । तत्र जाया भवति । तत् एव धर्मरहस्य श्रुतिस्मृतिकर्ता सविता सर्वस्य प्रेरकः अयं दृष्टिगोचरः अर्यः ईश्वरः वि चष्टे विविधमाख्यातवान् ॥

अनुवाद

हे कितव ! अक्षों से मत खेलो, कृषि करो (और उसी) धन मे अति-सन्तुष्ट होकर रमण करो (प्रसन्न रहो)। उसी मे तुम्हारी, हे कितव ! गाये और पत्नी है। इस सवितृ देवता ने मुझे यह आदेश किया है।

टिप्पणी

यहाँ पर कितव दूसरे कितवो को यह सलाह दे रहा है जो उसे सवितृ देवता की उपासना से प्राप्त हुयी है। कृषि करने से वह अपना अतीत का धन, पत्नी, गायें आदि पुन: प्राप्त कर लेगा।

दीव्यः—'दिव्' (खेलना) धा० का विधि०, म० पु० ए० व० का रूप है। अन्यथा 'मा' के योग मे अट् रहित लुङ् हो सकता है। यह रूप ऋ० में केवल यही पर आया है।

चष्टे—'चक्ष्' (निरीक्षण करना) धा० का लट्, प्र० पु० ए० व० का रूप है।

मित्रं कृणुध्वं खलु मृळता नो मा नो घोरेण चरताभि धृष्णु।
नि वो नु मन्युर्विशतामरातिरन्यो बभ्रूणां प्रसितौ न्वस्तु ॥ १४ ॥

पदपाठ

मित्रम्। कृणुध्वम्। खलु। मृळत। नः। मा। नः। घोरेण। चरत। अभि। धृष्णु। नि। वः। नु। मन्युः। विशताम्। अरातिः। अन्यः। बभ्रूणाम्। प्रऽसितौ। नु। अस्तु ॥ १४ ॥

सायण—हे अक्षाः यूयं मित्रं कृणुध्वम् अस्मासु मैत्री कुरुत। खलु इति पूरणः। नः अस्मान् मृळत सुखयत च। न. अस्मान् धृष्णु धृष्णुना। तृतीयार्थे प्रथमा। घोरेण असह्येन मा अभि चरत मा गच्छत। किंच वः युष्माकं मन्युः क्रोधः अरातिः अस्माकं शत्रु नि विशताम् अस्मच्छत्रुषु तिष्ठतु। अन्यः अस्माक शत्रुः कश्चित् बभ्रूणां बभ्रुवर्णानां युष्माकं प्रसितौ प्रबन्धने नु क्षिप्रम् अस्तु भवतु ॥

अनुवाद

हे अक्ष ! तुम मेरे साथ मित्रता करो और मेरे ऊपर कृपा करो। अपनी घोर अभिचार शक्ति के द्वारा हमे हर्षित न करो। तुम्हारा क्रोध

और तुम्हारी शत्रुता अब शान्त हो (बैठे)। इन भूरे रंग वालो के बन्धन मे अब दूसरे लोग होवे।

टिप्पणी

मृळता—'मृळ्' (कृपा करना, सुख देना) धा० का म० पु० ए० व० का लोट् का रूप है। अन्त्य स्वर को छन्द की दृष्टि से दीर्घ हो गया है।

इस अन्तिम मत्र मे कितव ने अक्ष से उसकी अभिचारमय शक्ति के बन्धन से मुक्ति पाने की प्रार्थना की है। इसकी तुलना अथर्व० ७,१०९ १ से कर सकते है।

बृहस्पति (ज्ञानसूक्त) १० ७१

देवता बृहस्पति, ऋषि-आङ्गिरस्; छन्दः त्रिष्टुभ्, जगती (९)

बृह॑स्पते प्रथ॒मं वा॒चो अग्रं॒ यत्प्रैर॑त नाम॒धेयं॒ दधा॑नाः।
यदे॑षां श्रेष्ठं॒ यद॑रि॒प्रमासी॑त्प्रे॒णा तदे॑षां निहि॑तं॒ गुहा॒विः॥ १॥

पदपाठ

बृह॑स्पते। प्र॒थ॒मम्। वा॒चः। अग्र॑म्। यत्। प्र। ऐर॑त। ना॒म॒ऽधेय॑म्। दधा॑नाः। यत्। ए॒षा॒म्। श्रेष्ठ॑म्। यत्। अ॒रि॒प्रम्। आसी॑त्। प्रे॒णा। तत्। ए॒षा॒म्। नि॒ऽहि॑तम्। गुहा॑। आ॒विः॥ १॥

सायण—बृहस्पतिरनेन सूक्तेन विदितवेदार्थान् बालान् दृष्ट्वा स्मयमानः स्वात्मानं संबोध्याह। हे बृहस्पते अन्तरात्मन् प्रथमम् उत्पत्त्यनन्तरमितरवागुच्चारणात्प्रागेव नामधेयं नाम दधानाः पदार्थेषु निदधाना बालाः यत् प्रैरत प्रेरितवन्त. तत् वाचोऽग्र भवति। यत्तत तातेत्यादिकं वाक्य पूर्वमभिधाय पश्चादन्या वाचो वदिष्यन्ति खलु तस्माद्वाचोऽग्रम्। अस्या दशायामवस्थितान् बालान् पश्य। तथेदानीम् एषा श्रेष्ठ प्रशस्यतमं यत् यच्च अरिप्रं पापरहितं वेदार्थज्ञानम् आसीत् एषां तज्ज्ञानं गुहा गुहायां निहितं गोप्यं तत् प्रेणा। मकारलोपश्छान्दसः। प्रेम्णाविर्भवति। वेदाभ्यासकाले सरस्वती स्वार्थमेभ्यः प्रकाशयतीत्यर्थः। एवं विस्मये 'बृहस्पते प्रथमं वाचो अग्रम्' (ऐ० आ० १,३,६) इत्यादिकमारण्यकमनुसन्धेयम्॥

अनुवाद

हे बृहस्पति, जब लोगो ने विभिन्न वस्तुओं का नामकरण करते हुए वाणी को सर्वप्रथम प्रेरित किया उस समय- उनका जो कुछ श्रेष्ठ और

पापरहित (भाव) वह उनकी ही प्रेरणा के द्वारा उनके अन्तरतम मे निहित था (जिसे उन्होने प्रकट नही किया)।

टिप्पणी

इस सूक्त का मुख्य विषय परमब्रह्मज्ञान है। इस सूक्त के द्वारा ऋषि ने परमपुरुषार्थरूपी जो परमब्रह्मज्ञान है उसी की स्तुति की है। जैसा कि बृहद्देवता में कहा गया है—

सुज्योति परमं ब्रह्मयद्योगात्समुपाश्नुते।
तज्ज्ञानाभितुष्टाव सूक्तेनाथ बृहस्पति ॥ बृ०दे० ७,१०९

इसी कारण इस सूक्त को 'ज्ञानसूक्त' के नाम से अभिहित किया गया है। हमारी अन्तरात्मा मे जो कुछ श्रेष्ठ और ईर्ष्या, द्वेषादि पापो से रहित भाव है उन्ही का प्रस्फुटन होना ही ज्ञान का मार्ग है। हमारी वाणी में जो गूढार्थ निहित है उनका अनुसन्धान हम तभी कर सकते हैं जब कि हम वाणी को पाप रहित एव पवित्र करने का प्रयास करें। इस सूक्त के माध्यम से आर्य अपनी वाणी को पवित्र बनाने और अन्तरात्मा मे निहित गूढ भावो को समझने का प्रयास करता है। सर्वप्रथम उन्होने उन्ही वस्तुओ का वाणी के द्वारा नामकरण किया जिनके नामकरण से अन्तर्ज्ञान की बातें स्पष्ट नही होती।

प्रैरत—'प्र' उपसर्ग पूर्वक 'ईर्' (गतौ कम्पने च) धातु का प्रथम पु०, ब० व०, लङ् का रूप है। यहाँ इसका अर्थ 'प्रेरित किया' या वाणी को प्रकम्पित किया' अर्थात् 'उच्चारित किया' होगा। 'ईर्' धा० का यह रूप ऋ० मे केवल यही पर आया है।

प्रे॒णा—सा० के अनुसार 'प्रेम्णा' (तृ० ए० व०) का वैदिक रूप है। मूलत यह 'प्रेणि' शब्द है जिसकी निष्पत्ति 'प्रेणृ गतिप्रेरणश्लेषणेषु' धातु मे औणादिक 'इ' प्रत्यय लगाकर होगी। इस प्रकार इसका मूल अर्थ 'प्रेरणा' या 'प्रेरणा देने वाला' होगा। सा० ने इसे 'प्रेम' अर्थ मे ग्रहण किया है, जिसका अनुसरण ग्रिफिथ, गेल्ड आदि पाश्चात्त्य विद्वानो ने इसी सूक्त के द्वितीय मंत्र के 'सखाय सख्यानि' अंश को आधार मानकर किया है किन्तु मंत्र मे 'प्रैरत' पद इस बात की पुष्टि करता है कि यह 'प्रेम' अर्थ मे नही, अपितु 'प्रेरणा' अर्थ मे ही ग्रहण करने योग्य है। जो कुछ ऋषियो का श्रेष्ठ और पाप रहित था वह उनकी ही प्रेरणा से उनकी अन्तरात्मा मे निहित था, उसे उन्होने 'नाम' नही दिया। नाम केवल ऊपरी वाणी को ही दिया। यह बात चतुर्थ और पंचम मत्र के द्वारा भी स्पष्ट होती है कि वाणी का अद्भुत रूप तो कोई ही देख पाता है।

सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत ।
अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि ॥ २ ॥

पदपाठ

सक्तुम्ऽइव । तितउना । पुनन्तः । यत्र । धीराः । मनसा । वाचम् । अक्रत । अत्र । सखायः । सख्यानि । जानते । भद्रा । एषाम् । लक्ष्मीः । निऽहिता । अधि । वाचि ॥ २ ॥

सायण—तितउना । परिपूयतेऽनेनेति । यद्वा । तता विस्तृता भृष्टयवा अत्रेति तितउ । 'तनोतेर्डउ. सन्वच्च' (उ० सू० ५,२२) इति डउ प्रत्यय. । सन्वद्भावादित्वम् । उक्तनिर्वचनेन सूर्पेण सक्तुमिव यथा कश्चित् सक्तुं दुर्धाव पुनाति तद्वत् प्रकृतित. प्रत्ययतश्च शब्दानुत्पुनन्तः धीरा धीमन्तो विद्वांस यत्र यस्मिन् काले विद्वत्संघे वा मनसा प्रज्ञायुक्तेन वाचमक्रत अकृषत कुर्वन्ति । करोतेर्लुङि रूपम् । तत्र यत्र काले सखाय. समानख्याना. शास्त्रादि-विषयज्ञानास्ते सखयानि तेषु भवानि ज्ञानानि जानते जानन्ति । यद्वा । सखायो वाचा बद्धसख्यास्ते तस्यास्तस्या वाच. सख्यानि जानन्ति । वाक्ययुक्तानभ्यु-दयॉल्लभन्त इत्यर्थः । तस्मात् एषां वाचि भद्रा कल्याणी निहिता लक्ष्मीः भवति । अधि. सप्तम्यर्थद्योतक । अर्थज्ञान वाचि पश्याम इत्यर्थ. । 'तितउ परिपवन भवति ततवद्वा तुन्नवद्वा तिलमात्रतुन्नमिति वा सक्तुमिव तितउना' (निरु० ४,१०) इत्यादि निरुक्तमनुसन्धेयम् ॥

अनुवाद

जहाँ धीर पुरुष चलनी (छत्री) मे सत्तू के समान छानते हुये (पवित्र करते हुये), मन के द्वारा वाणी को (पवित्र करते हुये) बोलते है, वहाँ (उस समय) उनके मित्र सख्य भाव को ज्ञात करते है । इनकी (धीरो की) वाणी मे कल्याणमयी लक्ष्मी अधिष्ठित रहती है ।

यज्ञेन वाचः पदवीयमायन् तामन्वविन्दन्नृषिषु प्रविष्टाम् ।
तामाभृत्या व्यदधुः पुरुत्रा तां सप्त रेभा अभि सं नवन्ते ॥ ३ ॥

पदपाठ

यज्ञेन । वाचः । पदऽवीयम् । आयन् । ताम् । अनु । अविन्दन् । ऋषिषु । प्रऽविष्टाम् । ताम् । आऽभृत्य । वि । अदधुः । पुरुत्रा । ताम् । सप्त । रेभाः । अभि । सम् । नवन्ते ॥ ३ ॥

सायण—विदितार्था धीरा. पदवीयम् । वेतेः 'अचो यत्' । संज्ञापूर्वकस्य विधेरनित्यत्वाद् गुणाभावः । पदेन यातव्यः पन्था पदवीयः । त वाचः मार्गं यज्ञेन आयन् प्राप्तवन्तः । ऋषिषु अतीन्द्रियार्थदर्शिषु प्रविष्टां तां वाचम् अविन्दन् अलभन्त । अनन्तर तां वाचम् आभृत्य आहृत्य पुरुत्रा बहुषु देशेषु व्यदधु व्यकार्षु । सर्वान् मनुष्यानध्यापयामासुरित्यर्थः । एतादृशीं वाचं रेभा शब्दायमाना पक्षिण पक्षिरूपाणि गायत्र्यादीनि सप्त छन्दासि अभि सं नवन्ते अभित सगच्छन्ते ॥

अनुवाद

यज्ञ के द्वारा (धीर पुरुषो ने) वाणी के मार्गो को अनुकम्पन किया एव उसे ऋषियो मे प्रविष्ट उस वाणी को प्राप्त किया । उसके पश्चात् उस वाणी को विभिन्न स्थानो मे लाकर स्थापित किया । सात स्तोतागण उसके समीप गमन करते है (उसका गायन करते है) ।

टिप्पणी

यज्ञेन वाच· पदवीयमायन्—धीर पुरुषो ने यज्ञ के द्वारा कि वाणी को समझने वाले अथवा उसमे निहित गूढ सत्य को जानने वाले केवल ऋषि है । ऋषियो के अन्तरतम मे ही वाणी का प्रकाश निहित है और उन्ही के द्वारा इसका ज्ञान किया जा सकता है । उनमे निहित वाणी के दिव्य भावो के समझने के पश्चात् लोगो ने उसे विभिन्न लोगो तक प्रसारित किया एव परम्परया ज्ञान की रेखा विस्तीर्ण होती चली गई ।

सप्त रेभा—सायण ने यहाँ 'सप्त' का सम्बन्ध गायत्री आदि सात छन्दो से मानकर 'रेभाः' का अर्थ 'शब्द करते हुये' किया है । किन्तु यह यहाँ पर छन्द के लिये प्रयुक्त है, इसमे सन्देह है । ऋ० १,१६४,३ मे 'सप्त स्वसारो अभि संनवन्ते' मन्त्राश है जिसकी तुलना प्रस्तुत मंत्राश से की जा सकती है । 'रेभाः' के स्थान पर वहाँ 'स्वसार' पद है जो 'रश्मियो' के लिये प्रयुक्त प्रतीत होता है, किन्तु वहाँ भी सन्दर्भ—'वाणी' का ही है । 'रेभस्' शब्द की निष्पत्ति 'रेभृ शब्दे' (रेभते स्तौति इति रेभ.) से 'अच्' (पचाद्यच्) प्रत्यय जोडकर होगी । 'रेभ्' या 'रिभ्' धातु के अन्य अर्थ 'शोर मचाना', 'प्रशसा करना', 'चिडियो की भाँति चहचहाना', 'गाना' आदि हैं । ऋ० १,११३,१७ में 'स्तवानो रेभ' (स्तुति करता हुआ 'रेभ') वाणी को उद्गमित करता हुआ रेभ') वाणी को उद्गमित करता हुआ (वाच उदियर्ति) कहा गया है जिससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि 'रेभा.' पद यहाँ 'स्तोता' या 'उद्गाता' के लिये प्रयुक्त हुआ है और 'सप्त'

से केवल 'समूह' का अर्थ प्रतीत होता है। सात स्तोतागण वाणी को उद्गमित करते हैं या उसका सान्निध्य प्राप्त करते हैं।

उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्।
उतो त्वस्मै तन्वं वि सस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः॥ ४॥

पदपाठ

उत। त्वः। पश्यन्। न। ददर्श। वाचम्। उत। त्वः। शृण्वन्। न। शृणोति। एनाम्। उतो इति। त्वस्मै। तन्वम्। वि। सस्रे। जायाऽइव। पत्ये। उशती। सुऽवासाः॥ ४॥

सायण—त्वशब्द एकवाची। एक। उतशब्दोऽप्यर्थे। पश्यन् अपि मनसा पर्यालोचयन्नपि वाचं न ददर्श दर्शनफलाभावान्न पश्यति। त्व. एक. शृण्वन् अपि एनां वाचं न शृणोति श्रवणफलाभावात्। इत्यनेनार्धेन अविद्वानभिहितः। तृतीयपादेन विदितवेदार्थमाह। त्वस्मै एकस्मै अपि तन्वम् आत्मीयं शरीरं वि सस्रे स्वयं वाग्विविधं गमयति। आत्मान विवृणुते प्रकाशयतीत्यर्थ.। तत्र दृष्टान्तः। जायेव यथा उशती सभोग कामयमाना सुवासा शोभनवसना जाया पत्ये भर्त्रे ऋतुकाले सभोगार्थं स्वयमात्मानं विवृणुते। तद्वदेनां पश्यति शृणोति चेति विदितवेदार्थस्य प्रशसा। 'अप्येकः पश्यन् न पश्यति वाचम्' (निरु० १, ९) इत्यादि निरुक्तमत्र द्रष्टव्यम्॥

अनुवाद

कोई तो वाणी को देखते हुये भी नही देख सका, और कोई सुनता हुआ भी इसे सुन नही पाता। किसी के लिये यह स्वयं ही अपने को इस प्रकार प्रकाशित करती है जैसे कि पति के लिये भोग की कामना करती हुयी शोभनपरता पत्नी अपने शरीर को प्रकाशित करती है।

टिप्पणी

यहाँ पर इस बात पर बल दिया गया है कि वाणी अपने को विद्वान् के समक्ष भोग की कामना वाली नारी के समान स्वयमेव प्रकाशित करती है अर्थात् उसके गूढ भाव भी विद्वान् के लिये स्वयं ही स्पष्ट होती है।

ददर्श—'दृश्' (देखना) धा० का लिट्, प्र० पु०, ए० व० का रूप है।

सस्रे—'सृगतौ' (बहना, गमन करना, फैलना) धा० का लिट्, प्र०

पु०, ए० व० का रूप है। 'वि सस्रे' का यहाँ विशिष्ट अर्थ है वाणी अपने शरीर को फैलाती है' अर्थात् वह विद्वान् के लिये अपने आप को स्पष्ट करती है।

उशती—यह पद 'वश कान्तौ' (कामना करना, प्रकाशित होना) धा० से 'शतृ' (शट शतृ) प्रत्यय एव 'शप्' प्रत्यय, जिसका लोप हो जायगा (आदिप्रभृतिम्य शप), करके सम्प्रसारण होकर (ग्रहिज्यावयिव्यधिवष्टिविचतिवृश्चतिपृच्छतिभृज्जतीना ङिति च—पा० सू० ६ १.१६) एवं 'ङिप्' (उगितश्च) प्रत्यय से निष्पन्न होगा। अन्त्य 'ई' पर उदात्त स्वराङ्कन 'शतुरनुमो नद्यजादी' (पा० सू० ६,१,१७३) के आधार पर होगा।

उत त्वं सख्ये स्थिरपीतमाहुर्नैनं हिन्वन्त्यपि वाजिनेषु।
अधेन्वा चरति माययैष वाचं शुश्रुवाँ अफलामपुष्पाम् ॥ ५ ॥

पदपाठ

उत। त्वम्। सख्ये। स्थिरऽपीतम्। आहुः। न। एनम्। हिन्वन्ति। अपि। वाजिनेषु। अधेन्वा। चरति। मायया। एषः। वाचम्। शुश्रुवान्। अफलाम्। अपुष्पाम् ॥ ५ ॥

सायण—त्वम् उत एकमपि सख्ये विदुषां ससदि। या सत्कथा सा सखिकर्मत्वात् सख्यमित्युच्यते। सा च वाचा क्रियते। अतो वाक्यसम्बन्धाद् वाक्सख्ये स्थिरपीतम्। मधु यस्य हृदये स्थिरं भवति। यद्वा स्थिरपीतम् स्थिरप्राप्तिम्। आहु.। यद्वा। तस्मिञ्ज्ञातार्थमाहुः। लोके यथा ज्ञातार्थं पुरुषं पीतार्थमिति वदन्ति। किंच एनं विज्ञातार्थं पुरुष वाजिनेषु। वाक् इना ईश्वरा येषां ते वाजिना अर्था वाच आयत्ताः खलु। वाग्ज्ञेयेष्वर्थेषु न अपि हिन्वन्ति। अपिशब्दोऽन्वर्थे। केचिदपि नानुगच्छन्ति। अयमेवातिशयेन विद्वानित्यर्थः। यद्वा। वाजिनेषु सारभूतेषु निरूपणीयेष्वर्थेषु एन न हिन्वन्ति न बहिः कुर्वन्ति। एन पुरस्कृत्यैव सर्वं वेदार्थं विचारयन्तीत्यर्थः। इत्यर्थज्ञ. प्रशस्त.। अनन्तरमुत्तरार्धेन केवलपाठको निन्द्यते। एषः अविज्ञातार्थः पुरुषः अधेन्वा धेनुत्व-विवर्जितया कामानामदोग्ध्र्या देवमनुष्यस्थानेषु वाक्प्रतिरूपया मायया चरति। किं कुर्वन्। अफलामपुष्पाम्। वाचोऽर्थः पुष्पफलम्। अर्थवर्जिताम्। यद्वा। वाचोऽर्थो याज्ञदैवते। यज्ञे भवं ज्ञानं याज्ञ देवतासु भवं ज्ञानं दैवतम्। तद्वर्जितां कर्मादिविषयज्ञानवर्जितां वाचं शुश्रुवान्। केवलं पाठमात्रेणैव श्रुतवान् स चरति। यथा वन्ध्या पीना गौः किं द्रोणमात्रं क्षीरं दोग्धीति माया-

मुत्पादयन्ती चरति यथा वन्ध्यो वृक्षोऽकाले पल्लवादियुक्तः सन् पुष्प्यति फलतीति भ्रान्तिमुत्पादयंस्तिष्ठति तथा पाठं प्रब्रुवाणः चरतीत्यर्थः। 'अप्येकं वाक्सख्ये स्थिरपीतम्' (निरु० १, २०) इत्यादि निरुक्तमत्रानुसन्धेयम् ॥

अनुवाद

तुम (वाक्) किसी को अपने सख्य भाव मे स्थिर प्राप्ति वाला करती हुयी कही जाती हो किन्तु इतने पर भी लोग उसे शक्तिशाली (मेधावियो) के अन्तर्गत प्रेरित नही करते, क्योकि उसकी वाणी कामनाओ को फलीभूत करने वाली न होकर माया के द्वारा ही प्रचारित होती है और वह केवल श्रोता बनकर उस वाणी के फल और पुष्प से रहित होता है।

टिप्पणी

सख्ये—यहाँ पर सख्ये का अर्थ 'वाणी के साथ सख्यभाव मे' अथवा 'विद्वानो के साथ मे या उनकी ससद् मे' सभव है। किन्तु 'वाक्' का सन्दर्भ यहाँ प्रबल है, इसलिये 'वाणी अपने सख्यभाव मे जिसे स्थिरता से निहित करती है'—अर्थ करना अधिक सगत होगा।

स्थिरपीतम्—यह समास ऋ० में केवल यही पर आया है। यह 'वृत्तपीन' जैसा कर्मधारय समास है। इसका भाव यह है कि—'वाणी अपने सख्यरूपी मधु को जिसे स्थिरता से पिला चुकी है।' वाल रूपी अमृत का पान किया हुआ व्यक्ति 'स्थिरपीत' है। स्वराङ्कन के आधार पर इसके बहुव्रीहि समास होने का सन्देह हो सकता है, क्योकि बहुव्रीहि मे पूर्वपद पर प्रकृति स्वर ('बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्' पा० सू० ६,२,१) होगा। किन्तु यहाँ यह कर्मधारय तत्पुरुष समास है जिसमे द्वितीया विभक्ति के होने पर पूर्वपद का मूल स्वर बना रहेगा (तत्पुरुषे तुल्यार्थतृतीयासप्तम्युपमानाव्ययद्वितीयकृत्याः'—पा० सू० ६,२,२)।

हिन्वन्ति—'हि गतौवृद्धो च' धा० का लट् का प्र० पु०, ब० व० का रूप है। यहाँ इसका अर्थ 'इसके समीप गमन नही करते' अथवा 'इसका वर्धन नही करते'—सम्भव है। मेधावियो मे या तो इसके (जिसने वेद को केवल सुनकर कण्ठस्थ किया है, अर्थ नही समझा है) समीप लोग नही जाते अथवा इसे कोई प्रोत्साहन नही देता—दोनो बातें संभाव्य है।

वाजिनेषु—यहाँ 'वाजिनेषु' का सम्बन्ध मेधावी एवं शक्तिशाली विद्वानों के समूह से है जैसा कि ऋ० ७,९३,३ (उपो ह यद् विदथ वाजिनो गुर्धीभिर्विप्राः प्रमतिं इच्छमाना) एव ऋ० ७,५६,१५; ८,२०,१६ आदि सन्दर्भों से स्पष्ट

है। इससे पुरोहित वर्ग की महत्ता का भास होता है जिसके माध्यम से अन्य लोग अपना उद्देश्य पूर्ण करते हैं। इन मेधावियो के समाज मे वाक् के अर्थ का सम्यक् ज्ञान न रखने वाले के समीप कोई नही जाता है।

अधेन्वा—इसका अन्वय 'मायया' के साथ होने से इसका अर्थ—'कामनाओ को पूर्ण न करने वाली माया के साथ' अर्थात् अविज्ञातार्थपुरुष माया या असत्यज्ञान से युक्त होकर ऐसी वाणी के साथ युक्त होता है जो उसको किसी प्रकार का फल नही प्रदान करती। वह पुरुष केवल शब्द को सुनकर उसका भारवाही बनता है, किसी फूल या पुष्प की प्राप्ति नही कर पाता। इसकी तुलना—'स्थाणुरयं भारहार. किलाभूदधीत्य वेद न विजानाति योऽर्थम्' से कर सकते है।

यस्तित्याज सचिविदं सखायं न तस्य वाच्यपि भागो अस्ति।
यदीं शृणोत्यलकं शृणोति नहि प्रवेद सुकृतस्य पन्थाम्॥ ६॥

पदपाठ

यः। तित्याज। सचिऽविदम्। सखायम्। न। तस्य। वाचि। अपि। भागः। अस्ति। यत्। ईम्। शृणोति। अलकम्। शृणोति। नहि। प्रऽवेद। सुऽकृतस्य। पन्थाम्॥ ६॥

सायण—सचिविदम्। सचिशब्दः सखिवाची। सखिविदम्। योऽध्येता स वेदस्य सखा सम्प्रदायोच्छेदनिवारकत्वेन वेदं प्रत्युपकारित्वात्। तादृशमुपकारिणमध्येतारं वेत्तीति सचिवित्। तमभिज्ञं सखायम् अध्येतॄणां पुरुषाणां स्वार्थबोधनेनोपकारित्वात्सखिभूत वेदं यः पुमान् तित्याज तत्याज परार्थविनियोगेन परित्यजति। त्यजतेर्लिटि 'अपस्पृधेथामानृचुः०' इत्यादिना निपातितः। तस्य पुरुषस्य वाचि सर्वस्यां लौकिक्यां शास्त्रीयायां वाच्यपि भागः भजनीय कश्चिदर्थ न अस्ति। ईम् अयं पुरुष यत् वेदव्यतिरिक्त शृणोति तत् अलकम् अलीकं व्यर्थमेव शृणोति। हि यस्मात् कारणात् सुकृतस्य पन्थां पन्थानं न प्रवेद श्रद्धाराहित्यादनुष्ठानमार्गं न जानाति। तस्मात्तदीयश्रवणमपि निष्फलमित्यर्थः। द्वितीयचतुर्थपादयोरभिप्राय आरण्यके दर्शितः 'न तस्यानूक्ते भागोऽस्ति' (ऐ० आ० ३,२,४) इत्यादिना। तथा 'तं योऽनूत्सृजत्यभागो वाचि भवत्यभागो नाके तदेषाभ्युक्ता' (तै० आ० २,१५,५) इत्यध्वर्युभिश्च॥

अनुवाद

जिसने सख्य के सत्य को जानने वाले अपने मित्र का परित्याग कर दिया है उसका वाणी मे भी कोई भाग नही होता। वह जो कुछ सुनता है व्यर्थ सुनता है। वह सुकृत के मार्ग को अच्छी प्रकार नही जानता है।

टिप्पणी

तित्याज—'त्यज्' (त्यागना, छोडना) धा० का लिट् लकार प्र० पु० ए० व० का रूप है। यह रूप अनियमित ढंग से बना है, जिसकी विवेचना 'अपस्पृधेथामानृचुरानृहुश्चिच्युषेतित्याजश्राता श्रितमाशीराशीर्तः' (पा० सू० ६,१,३६) सूत्र के अन्तर्गत की गई है। इसका नियमित रूप 'तत्याज' होगा। ऋ० मे 'तित्याज' रूप केवल यही पर आया है।

सचिऽविदम्—'सचि' शब्द की निष्पत्ति 'सच्' (साथ चलना) धा० से कर सकते हैं। यहाँ 'सचिवित्' का अर्थ 'वाणी के साथ सख्यभाव को स्थापित करने वाला' है।

अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सखायो मनोजवेष्वसमा बभूवुः।
आदघ्नास उपकक्षास उ त्वे ह्रदाइव स्नात्वा उ त्वे ददृश्रे ॥ ७ ॥

पदपाठ

अक्षण्ऽवन्तः। कर्णऽवन्तः। सखायः। मनःऽजवेषु। असमाः। बभूवुः। आदघ्नासः। उपऽकक्षासः। ऊँ इति। त्वे। ह्रदाःऽइव। स्नात्वाः। ऊँ इति। त्वे। ददृश्रे ॥ ७ ॥

सायण— अक्षण्वन्तः अक्षिमन्तः। 'छन्दस्यपि दृश्यते' इत्यक्षिशब्दादनङ्। 'अनो नुट्' इति नुट्। अनेन दृश्यते सर्वमित्यक्षि। यद्वा। तैजसत्वात् अनेभ्योऽङ्गेभ्यो व्यक्ततरम्। तथा च श्रूयते—'तस्मादेते व्यक्ततरे इव' इति। तादृशाक्षियुक्ताः कर्णवन्त। कर्णौ निकृत्तद्वार.। गर्भावस्थायामेव केनापि निर्मितबिल इत्यर्थः। यद्वा शरीरस्य शिरसो वोर्ध्वं गते उच्चैः स्थिते। कर्णबिलक्षणाकाशवन्तः। तथा चाम्नायते—'ऋच्छन्ती इव खे उदगन्ताम्' इति। तादृशाः सखाय। समानं ख्यान ज्ञानं येषामिति सखाय'। तेषु वाक्येषु बाह्येष्विन्द्रियेषु समानज्ञाना इत्यर्थ। ते मनोजवेषु। मनसा गम्यन्ते ज्ञायन्त इति मनोजवा प्रज्ञाद्या'। तेषु असमा. अतुल्याः बभूवु' भवन्ति। तेषु मध्ये केचित् आदघ्नास.। आस्यशब्दस्य पृषोदरादित्वादाकारादेशः। आस्यदघ्ना आस्यप्रमा-

णोदका ह्रदा इवेति मध्यमप्रज्ञानाह। अथ त्वे एके। सर्वनामत्वाज्जसः शीभावः। उपकक्षासः। कक्षसमीपप्रमाणोदका ह्रदा इव। अल्पोदका इत्यर्थ.। अनेनाल्पप्रज्ञानाह। तथा त्वे एके स्नात्वा.। स्नाते. कृत्यार्थे त्वन्प्रत्ययः (पा० सू० ३,४,१४)। स च 'अर्हे कृत्यतृचश्च' (पा० सू० ३,३,१६९) इत्यर्हार्थे च भवति। स्नानार्हा अक्षोभ्योदकाः ह्रदाइव ददृश्रे दृश्यन्ते। अनेन महाप्रज्ञानाह। उः पूरण·। अक्षिमन्तः कर्णवन्तः सखायोऽक्षि चष्टेः' (निरु० १,९) इत्यादिकं निरुक्तमत्र द्रष्टव्यम्॥

अनुवाद

समान नेत्र और कर्णवाले होते हुये भी मित्रगण असमान हुआ करते है। कुछ तो मुख तक जलवाली और कक्षप्रकोष्ठ तक गहरे जलवाली झीलो के समान होते है और कुछ गहरी झीलो के समान स्नान करने के योग्य (गहराई वाले) दिखलायी पड़ते है।

टिप्पणी

मनोजवेषु—यहाँ 'मन की गतिवालो में' या 'मन के समान गतिवालो में' से तात्पर्य यह है कि सभी की गति मानसिक या प्रज्ञा की दृष्टि से समान नही होती। नेत्रो से देखनेवाले और कानो से सुनने वाले अथवा नेत्र और कर्ण समान रूप से रखने वाले तो हो सकते है किन्तु उन सभी मे प्रज्ञा भी समान रूप से होगी—यह नही सम्भव है। प्रज्ञा या प्रतिभा की मात्रा भिन्न लोगो मे भिन्न-भिन्न होती है।

आदघ्नासः —यह शब्द दो प्रकार से बन सकता है—या तो आ (स्) + दघ् (धा०) अथवा आ + दघ् (धा०) से। सा०, ग्रासमान, मेयर्होफर, रोठ, गेल्ड० सभी ने 'दघ्' धा० के साथ 'आस्' (मुख) शब्द को जोडा है, जिसके कारण इसका अर्थ 'मुखतक पहुँचने वाले' हो जाता है। 'दघ्' धा० का अर्थ निघण्टु (२,४) और निरुक्त (१,९) के आधार पर 'गमन करना' है, जिससे 'अधोगमन', 'अनुगमन', 'पश्चगमन', 'उपगमन' आदि अर्थो की कल्पना उपसर्गों के साथ की जा सकती है। यहाँ यदि 'आ' (आङ्) को उपसर्ग मानें तो 'समीप तक गमन करने वाले' अर्थ सम्भव है, किन्तु 'उपकक्षास·' पद 'मुख के समीप तक गमन करने वाले' अर्थ की पुष्टि करता है। ऋग्वेद मे यह शब्द केवल यही पर आया है।

स्नात्वाः —यह वैदिक तुमुनन्त रूप प्रतीत होता है जिसका अर्थ सा० ने 'स्नान योग्य' माना है ।

ददृश्रे—'दृश्' धा० का० लिट् का प्र० पु०, ब० व० का रूप है । 'दृश्' धा० से लिट् के साथ 'इरयो रे' (पा० सू० ६,४,७६) के आधार पर 'इरे' के स्थान पर रे' का आदेश होकर यह रूप सिद्ध होगा ।

हृदा तष्टेषु मनसो जवेषु यद्ब्राह्मणाः संयजन्ते सखायः ।
अत्राह त्वं वि जहुर्वेद्याभिरोहब्रह्माणो वि चरन्त्यु त्वे ॥ ८ ॥

पदपाठ

हृदा । तष्टेषु । मनसः । जवेषु । यत् । ब्राह्मणाः । सम्ऽयजन्ते । सखायः । अत्र । अह । त्वम् । वि । जहुः । वेद्याभिः । ओहऽब्रह्माण. । वि । चरन्ति । ऊँ इति । त्वे ॥ ८ ॥

सायण—सखाय समानख्याना. ब्राह्मणा हृदा बुद्धिमता हृदयेन तष्टेषु निश्चितेषु परिकल्पितेषु मनसो जवेषु गन्तव्येषु वेदार्थेषु गुणदोषनिरूपणाः यत् यदा संयजन्ते संगच्छन्ते । यजिरत्र संगतिकरणवाची । यत्र अस्मिन् ब्राह्मण- सघे त्वम् अविज्ञातार्थमेक पुरुषं वेद्याभिः वेदितव्याभि. विद्याभि प्रवृत्तिभिर्वा वि जहु. विशेषेण परित्यजन्ति । अह इति विनिश्चये । ओहब्रह्माणः । ऊह्यमानं ब्रह्म विद्याश्रुतिमतिबुद्धिलक्षणं येषां ते तथोक्ता । तादृशास्त एके विद्वांस. वि चरन्ति यथाकाम वेदार्थेषु विनिश्चयार्थं प्रवर्तन्ते । उः प्रसिद्धौ । 'हृदा तष्टेषु मनसां प्रजवेषु (निरु० १३,१३) इत्यादिक निरुक्तं द्रष्टव्यम् ॥

अनुवाद

हृदय के द्वारा उद्भूत मानसिक वेगो मे (प्रज्ञा मे) जब ब्राह्मण- मित्रगण सगमन करते है या एक साथ यजन करते है, तब वे अपनी विद्याओ के द्वारा एक को (उनके मध्य जो वेदार्थ का ज्ञाता नही है) पीछे छोड देते है, और जो शब्दज्ञान को प्राप्त करने वाले है वे चारो ओर विचरण करते है ।

टिप्पणी

हृदा तष्टेषु— यहाँ 'हृदय के द्वारा निर्मित किये गये'—का तात्पर्य 'हृदय और मन' दोनो के द्वारा उद्भूत 'प्रतिभा' से है । अर्थात् मित्रगण समान हृदय

वाले होकर (समानी व आकूतिः समानो हृदयानि वः—ऋ० १०,१९१,४) जब एक साथ यजन करते है उस समय प्रज्ञा की दृष्टि से उनमे जो शक्तिशाली होते है वे अपनी गति प्रत्येक क्षेत्र मे बना लेते है। जो सम्यक् प्रकार से वेदार्थ का ज्ञान रखते है वे वेदार्थ को न समझने वाले से आगे बढ ज ते है।

जहुः —'हा' (त्यागना) धा० का लिट्, प्र० पु०, ब० व० का रूप है।

ओहब्रह्माण —इसका अर्थ है—'जिसने 'ब्रह्म' या 'मत्र' का ओहन या 'वहन' किया है। 'ओह' शब्द की निष्पत्ति 'वह्' (वहन करना) धा० से कर्म अर्थ मे 'घञ् प्रत्यय करके होगी जिसमे छान्दस् सम्प्रसारण होगा। अथवा 'उहिर् अर्दने' (तुहिर् दुहिर् उहिर् अर्दने) से 'घञ्' प्रत्यय करके निष्पत्ति की जा सकती है। यहाँ 'अर्दन' से तात्पर्य 'मन्त्र' या 'वाक्' या 'शब्द' का अच्छी प्रकार मन्थन करके ज्ञान प्राप्त करना' है।

'ओहब्रह्माण' पद ऋग्वेद मे केवल यही पर आया है।

इमे ये नार्वाङ्न परश्चरन्ति न ब्राह्मणासो न सुतेकरासः।
त एते वाचमभिपद्य पापया सिरीस्तन्त्रं तन्वते अप्रजज्ञयः॥ ९॥

पदपाठ

इमे। ये। न। अर्वाक्। न। परः। चरन्ति। न। ब्राह्मणासः। न। सुतेऽकरासः। ते। एते। वाचम्। अभिऽपद्य। पापया। सिरीः। तन्त्रम्। तन्वते। अप्रऽजज्ञयः॥ ९॥

सायण—अनया वेदार्थानभिज्ञा निन्द्यन्ते। इमे ये अविद्वांसः अर्वाक् अर्वाचीनमधोभाविन्यस्मिँल्लोके ब्राह्मणैः सह न चरन्ति ये परः परस्तात् देवैः सह न चरन्ति ते ब्राह्मणासः ब्राह्मणा. वेदार्थतत्पराः न भवन्ति। तथा सुतेकरासः। सोमं सुतमभिषुतं कुर्वन्तीति सुतेकरा ऋत्विजः। तेऽपि न भवन्ति। अप्रजज्ञयः। जानाते· 'आदृगमहन.०' इति किप्रत्ययः। अविद्वांसः त एते मनुष्याः वाचं लौकिकीम् अभिपद्य प्राप्य तया पापया पापकारिण्या वाचा युक्तास्ते सिरीः। 'छन्दसीवनिपौ' इतीप्रत्ययः। 'सुपां सुलुक्०' इति जसः सु। सीरिणो भूत्वा तन्त्र कृषिलक्षणं तन्वते विस्तारयन्ति। कुर्वन्तीत्यर्थ. सर्वथा वेदार्थो ज्ञेय इत्यभिप्रायः॥

अनुवाद

ये (अविद्वान्), जो लोग न तो आगे चलते हैं और न पीछे ही, न तो ब्राह्मण हैं और न सोमाभिषव करने वाले ही; पापबुद्धि के द्वारा

वाणी को प्राप्त करके मूढ रूप वाले वे लोग उसे (वाणी को) केवल धागा बुनने वाले के समान विस्तृत करते रहते है।

टिप्पणी

ब्राह्मणास. —यहाँ 'ब्राह्मणो' का तात्पर्य वेदार्थ को जानने वाले या मंत्रो की रचना करने वालो से है।

सुतेकरासः —'षुञ् अभिषवे' धा० से 'क्त' प्रत्यय के साथ 'सुत' के सप्तम्यन्त रूप के साथ (भावेसप्तमी) 'सुतेकर'—(सोमाभिषव करने वाला) रूप बनकर प्र० ब० व० मे 'सुतेकरास' रूप होगा। वे लोग जो न तो वेदार्थ को जानते हैं और न सोमाभिषव जैसे कार्य को ही कर सकते हैं विद्वानों के साथ वे न तो आगे ही रहते है और न उनका अनुसरण ही करते हैं। उनकी वाणी केवल पापबुद्धि द्वारा प्राप्त की गई होती है।

सिरीः —ऋ० मे यह शब्द केवल यही पर आया है। सा० के अनुसार पापयुक्त वाणी वाले लोग ही 'सिरी.' है। किन्तु इससे शब्द का मूल अर्थ स्पष्ट नही होता। बेर्गेन्य और ओल्डेनबर्ग ने भी सा० का ही अनुसरण किया है। लुडविग् ने 'जल' (बालूकण ?) अर्थ किया है जिसका अनुसरण गेल्ड० ने अपने ऋ० अनुवाद (डेर ऋ०, तृ० भा०, पृ० २५०) मे किया है। ग्रिफिथ ने 'अविवाहित स्त्री बुनकर' (Spinster) अर्थ किया है, जो प्रो० आउफ्रेश्ट के द्वारा किये गये 'बुनने वाली स्त्रियाँ' (female weavers) अर्थ पर आधारित प्रतीत होता है। म्यूर ने भी spinsters (अविवाहित स्त्रियाँ) अर्थ किया है।

सिरीः के अर्थ निर्धारण के लिये हम उन सन्दर्भों की तुलना कर सकते है जहाँ 'तन्वते' पद आया है। 'तन्त्रम्' शब्द भी ऋ० मे केवल यही पर प्रयुक्त हुआ है, इसलिये उसके सन्दर्भो का तो कोई प्रश्न ही नही उठता। 'तन्वते' का सम्बन्ध अनेक स्थानो पर 'वस्त्र' से है, जैसे—'भद्रा वस्त्रा तन्वते' (ऋ० १,१३४,४), वि तन्वते धियो···वस्त्रा पुत्राय मातरो वयन्ति (ऋ० ५,४७,६), ते सुप्रेचतस नव्य नव्य तन्तुमातन्वते (ऋ० १,१५९,४)। इसके आधार पर कहा जा सकता है कि 'सिरी' 'वस्त्रो को बुनने वाली स्त्रियो' के अर्थ मे प्रयुक्त है। दूसरी संभावना इसको 'सीरा' शब्द के साथ सम्बन्धित करने पर हो सकती है जो 'नदियो' के लिये प्रयुक्त हुआ है, जैसे—'सीरा· न स्रवन्ती.' (बहती हुयी नदियो के समान')—ऋ० १,१७,४, (तुलना कीजिये—ऋ० १०,४९,९)। इस प्रकार 'सीरा.' और 'सिरी' में मूलधातु एक ही प्रतीति

होती है। प्रत्यय भिन्न हो सकते है। अत 'सिरी' की निष्पत्ति 'सृ' (सरण करना, प्रवाहित होना) धा० से हो सकती है जिसका अर्थ धीरे-धीरे सरण करने वाली' होगा। अत. धीरे-धीरे खिसक कर ताने-बाने (तन्त्र) को विस्तृत करने वाली स्त्रियो को सिरी ' कहा गया है।

अप्रजज्ञय. —ऋ० मे यह सामासिक पद केवल यही पर प्रयुक्त हुआ है। 'प्रजज्ञिवान्' एक बार ऋ० ३,२,११ मे आया है जिसका अर्थ सा० ने 'जात' (उत्पन्न हुआ) किया है, जिससे इसकी निष्पत्ति 'जनीप्रादुर्भावे' (धा०) से सभव है, किन्तु प्रस्तुत सन्दर्भ मे सा० ने इसे 'ज्ञा' (जानना) धा० से 'कि' प्रत्यय जोडकर निष्पन्न किया है। यहाँ 'अविद्वान्' के सन्दर्भ में 'ज्ञा' धा० से निष्पन्न करना ही सगत होगा।

सर्वे॑ नन्दन्ति य॒शसाग॑तेन सभासा॒हेन॒ सख्या॒ सखा॑यः।
कि॒ल्बि॒ष॒स्पृत्पि॑तु॒षणि॒र्ह्ये॑षा॒मरं॑ हि॒तो भव॑ति॒ वाजि॑नाय ॥ १० ॥

पदपाठ

सर्वे॑। न॒न्द॒न्ति॒। य॒शसा॑। आऽग॑तेन। स॒भा॒ऽस॒हेन॑। सख्या॑। सखा॑यः। कि॒ल्बि॒ष॒ऽस्पृत्। पि॒तु॒ऽसनिः॑। हि। ए॒षा॒म्। अर॑म्। हि॒तः। भव॑ति। वाजि॑नाय ॥ १० ॥

सायण—सखाय. समानख्याना समानज्ञाना सर्वे सभ्या मनुष्या सभासहेन सभां सोढुं शक्नुवता सख्या ऋत्विजां सखिभूतेन यज्ञं प्रति आगतेन यशसा यशस्विना सोमेन हेतुना नन्दन्ति हृष्टा भवन्ति। स हि स एव सोमः एषां जनानां किल्बिषस्पृत्। य स्वस्मादन्य पुरुषः श्रेष्ठतामश्नुते स किल्बिषं भवति बाध्यत्वेन। यथा पापं सदाचारै बाधितव्यं भवति तद्वत्। पापरूपस्य शत्रोर्बाधक। यद्वा। यज्ञे साध्वनुप्रवचनाकरणेन यत्किल्बिषमेषां जायते तद्यो बाधते स किल्बिषस्पृत्। तथा त्वं पितुषणि। पितुरित्यन्ननाम दक्षिणा वा। तमनेन सोमेन सनोति यजमान संभजत इति तादृश.। तेषामन्नदक्षिणा-दातेत्यर्थः। किंच हित पात्रेषु निहितः सोमः वाजिनाय। इन्द्रियं वीर्यं वाजिनम्। तेषां वीर्याय तत्कर्तुम् अरम् अलम् पर्याप्तः समर्थो भवति। 'सर्वे नन्दन्ति यशसागतेनेत्यन्वाह यशो वै सोमो राजा' इत्यादिकम् 'इन्द्रियं वै वीर्यं वाजिनमाजरसं हास्मै वाजिनं नापच्छिद्यते 'इत्यन्तं ब्राह्मणमत्रानुसन्धेयम् (ऐ० ब्रा० १,१३) ॥

अनुवाद

सभा को अभिभूत करने वाले, यश के साथ आये हुये मित्र के द्वारा सभी मित्रगण हर्षित होते है। वह सभी के अपयश को दूर करने वाला एवं सभी के लिये अन्न का षोषण करने वाला होता है। वह शक्ति सम्बन्धी (प्रतिभायुक्त) कार्यो के लिये सदैव तैयार रहता है।

टिप्पणी

यशसा —सायण ने यहाँ ऐ० ब्रा० के आधार पर, जहाँ इस मन्त्र के प्रथम पाद का विनियोग सोम के लिए किया गया है, इसे 'सोम' के साथ सम्बन्धित किया है। किन्तु प्रस्तुत सन्दर्भ में 'सोम' का कोई सन्दर्भ न होने से यहाँ 'यशसा' से विद्वान् द्वारा सभा मे विजयी होने का भाव द्योतित होता है जो 'सभासाहेन' (सभा को अभिभूत करने वाले के द्वारा) पद से और अधिक स्पष्ट हो जाता है।

किल्बिषस्पृत् —ऋ० मे यह सामासिक पद केवल यही पर आया है। ऋ० ५,३४,४ मे एक बार 'किल्बिषात्' पद आता है जहाँ इन्द्र के लिये कहा गया है कि 'वह किल्बिष' (पाप या पापाचरण करने वाले) से डरता या भागता नही है। 'पृत्' का सामान्य अर्थ 'युद्ध' या 'आक्रमण' है। इस प्रकार इस समास का अर्थ 'पाप या अपयश पर आक्रमण करने वाला' होगा।

पितुसनिः—इस समास का मूल अर्थ—'पेय या भोज्य पदार्थ का वितरक' है। 'पितुसनि' शब्द केवल यही पर आया है। 'पितु' शब्द को निघण्टु (२,७) मे 'अन्न' का पर्याय माना गया है जिससे 'पितुकृत्'—(ऋ० १०,७६,५), पितुभाज—(ऋ० १,१२४,१२), पितुभृत—(ऋ० १०,१,४) पितुमत्—(ऋ० १,१०१,१) आदि अनेक सामासिक पदो की कल्पना की गई। इसकी निष्पत्ति 'पी' धा० या 'प्यै' धा० से होगी जिसका मूल अर्थ 'पान करना' है और इससे निष्पन्न 'पितु' शब्द का अर्थ 'रस' या 'भोजन' होगा। 'सनि' शब्द 'वन षण सभक्तौ' धा० से 'विभाजन' अर्थ मे बनेगा। इस प्रकार इस सामासिक पद का अर्थ 'सोमरस को बाँटने वाला' या 'भोजन प्रदान करने वाला' होगा।

ऋचां त्वः पोषमास्ते पुपुष्वान् गायत्रं त्वो गायति शक्वरीषु।
ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्यां यज्ञस्य मात्रां वि मिमीत उ त्वः ॥ ११ ॥

पदपाठ

ऋचाम्। त्वः। पोषम्। आस्ते। पुपुष्वान्। गायत्रम्। त्वः। गायति। शक्करीषु। ब्रह्मा। त्वः। वदति। जातऽविद्याम्। यज्ञस्य। मात्राम्। वि। मिमीते। ॐ इति। त्वः॥ ११॥

सायण—अनया होत्राद्यृत्विक् कर्मणां विनियोगमाचष्टे। त्वः एको होता ऋचां पोषं यथाविधि कर्मणि प्रयोग पुपुष्वान्। एको धातुरनुवादार्थः बह्वीरृचः पुष्यन् शंसन् आस्ते। त्वः एक उद्गाता शक्वरीषु। शक्वर्य ऋचः। आभिरृग्भिर्वृत्रं हन्तुमिन्द्रः समर्थोऽभूदिति शक्वर्यः। तासु गायत्रं साम गायति। त्व एकः ब्रह्मा च जातविद्यां जाते जाते कर्तव्ये प्रायश्चित्तादौ वेदयित्रीं वाचं वदति। ब्रह्मा हि सर्वं वेदितुं योग्यो भवति खलु। 'चादिलोपे विभाषा' इति न निघातः। त्व एकोऽध्वर्युश्च यज्ञस्य मात्रां यज्ञौ यया मीयतेऽभिषवग्रहणादिकया क्रियया तां मात्रां यज्ञशरीरं वि मिमीते अत्यर्थं निर्मिमीते। 'ऋचामेक पोषमास्ते पुपुष्वान् होतर्गर्चनी' (निरु० १,८) इत्यादिनिरुक्तानुसारेणार्थोऽभ्यधायि। एवं बृहस्पतिर्विदितवेदार्थं तुष्टाव॥

अनुवाद

एक ('होता' नामक ऋत्विक्) ऋचाओ की पुष्टि का पोषण करते हुये (वर्धित करते हुये) बैठता है और एक (उद्गाता) शक्वरी ऋचाओ के गान का गायन करता है। ब्रह्मा (नामक ऋत्विक्) प्राणिविद्या (अथवा ऋचाओ की उत्पत्ति विद्या) को कहता है और एक (अध्वर्यु नामक ऋत्विक्) यज्ञ के प्रमाण का मापन (या निर्माण) करता है।

टिप्पणी

प्रस्तुत मंत्र में यज्ञ के चार मुख्य ऋत्विको—होता, उद्गाता, ब्रह्मा और अध्वर्यु—के कार्यों का सकेत रूप में कथन किया गया है।

'होतृ' नामक ऋत्विक् यज्ञकाल मे अपने वेद (ऋग्वेद) की ऋचाओ को विभिन्न सन्दर्भों से संकलित करके यज्ञस्थान मे बैठता है और उनके विनियोग के अवसर पर ऋग्वेद की ऋचाओ का पाठ करता है। ऋचाओ के इस संकलन और पाठ को ही यहाँ 'पोषम्' और 'पुपुष्वान्' पदो से क्रमशः अभिहित किया गया है। 'ऋक्' शब्द की व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है—'अर्च्यते प्रशस्यतेऽनया देवविशेषः क्रियाविशेषस्तत्साधनविशेषो वा इति ऋक्' (किसी देव विशेष या क्रिया विशेष अथवा उसका साधन विशेष जिसके द्वारा अर्चित या

पूजित होता हो या जिसके द्वारा उसकी प्रशंसा की जाती है उसे 'ऋक्' कहते है)।

शक्वरीषु—'उद्गाता' नामक ऋत्विक् केवल सामवेद मे गायत्री छन्दो में जो मंत्र है उन्ही का गायन करता है। वहाँ पर वृत्रवध से सम्बन्धित जो मंत्र हैं उन्हे 'शक्वरी' ('शक्वर्य ऋच शक्नोतेस्तद्यदाभिर्वृत्रमशकद्धन्तु तच्छक्वरीणा शक्वरीत्वम्'—नि० १,८) कहा जाता है। इसका दूसरा नाम 'महानाम्नी' भी है। ऋ० मे एक स्थान पर कहा गया है कि इन शक्वरी ऋचाओ के उच्च स्वर मे गान द्वारा वसिष्ठ ने इन्द्र मे बल का आधान किया—

यच्छक्वरीषु बृहता रवेणेन्द्रे शुष्ममदधाता वसिष्ठाः। (ऋ० ७,३३,४) इससे 'शक्वरी' का अर्थ 'समर्थ या शक्य बनाने वाली' या 'शक्ति प्रदात्री' हो सकता है।

पुरुष सूक्त १०.९०

देवता पुरुष, ऋषि नारायण, छन्द: १-१५ अनुष्टुभ्, १६ त्रिष्टुभ्

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।
स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ॥ १ ॥

पदपाठ

सहस्रऽशीर्षा । पुरुषः । सहस्रऽअक्षः । सहस्रऽपात् । सः । भूमिम् । विश्वतः । वृत्वा । अति । अतिष्ठत् । दशऽअङ्गुलम् ॥ १ ॥

सायण—सर्वप्राणिसमष्टिरूपो ब्रह्माण्डदेहो विराडाख्यो य पुरुषः सोऽय सहस्रऽशीर्षा। सहस्रशब्दस्योपलक्षणत्वादनन्तैः शिरोभिर्युक्त इत्यर्थः। यानि सर्वप्राणिनां शिरांसि तानि सर्वाणि तद्देहान्त.पातित्वात्तदीयान्येवेति सहस्र-शीर्षत्वम्। एवं सहस्राक्षित्वं सहस्रपादत्वं च। स पुरुष. भूमि ब्रह्माण्ड-गोलकरूपां विश्वतः सर्वत वृत्वा परिवेष्ट्य दशाङ्गुलं दशाङ्गुलपरिमित देशम् अत्यतिष्ठत् अतिक्रम्य व्यवस्थितः। दशाङ्गुलमित्युपलक्षणम्। ब्रह्माण्डाद्बहिरपि सर्वतो व्याप्यावस्थित इत्यर्थः॥

अनुवाद

पुरुष (परमात्मन्) सहस्र सिरो वाला, सहस्र नेत्रो वाला और सहस्र पैरो वाला है। उसने भूमि को चारो ओर से ढक करके अपने को इसके ऊपर दस अङ्गुल उठाया।

टिप्पणी

सहस्रशीर्षा—यहाँ 'सहस्र' शब्द से केवल अनन्तता का बोध कराया गया है।

अत्यतिष्ठत् दशाङ्गुलम्—पुरुष ने समस्त सृष्टि मे व्याप्त होकर इसके बाहर भी अपने को प्रतिष्ठित किया, अर्थात् इसकी सीमा से अतिक्रमण किया। इससे सर्वव्यापकता का बोध कराया गया है।

पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम्।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ॥ २ ॥

पदपाठ

पुरुषः। एव। इदम्। सर्वम्। यत्। भूतम्। यत्। च। भव्यम्। उत। अमृतऽत्वस्य। ईशानः। यत्। अन्नेन। अतिऽरोहति ॥ २ ॥

सायण—यत् इदं वर्तमानं जगत् तत् सर्वं पुरुष एव। यत् च भूतम् अतीतं जगत् यच्च भव्यं भविष्यज्जगत् तदपि पुरुष एव। यथास्मिन् कल्पे वर्तमाना. प्राणिदेहा सर्वेऽपि विराट्पुरुषस्यावयवाः तथैवातीतागामिनोरपि कल्पयोर्द्रष्टव्यमित्यभिप्राय। उत अपि च अमृतत्वस्य देवत्वस्य अयम् ईशानः स्वामी। यत् यस्मात् कारणात् अन्नेन प्राणिनां भोग्येनान्नेन निमित्तभूतेन अतिरोहति स्वकीयां कारणावस्थामतिक्रम्य परिदृश्यमानां जगदवस्थां प्राप्नोति तस्मात्प्राणिनां कर्मफलभोगाय जगदवस्थास्वीकारान्नेदं तस्य वस्तुत्वमित्यर्थः ॥

अनुवाद

यह सब कुछ (समस्त सृष्टि) पुरुष ही है, जो कुछ हो गया है और जो होने वाला है। और वह अमृतत्त्व का (देवताओं का) स्वामी है क्योकि वह अन्न के द्वारा जीवित रहने वालो (मर्त्यो) का अतिक्रमण करता है (अर्थात् अन्न बिना वर्तमान रहता है)।

टिप्पणी

अतिरोहति—यहाँ 'अति' के साथ 'रुह्' (चढना, रोहण करना) धा० का अर्थ 'अतिक्रमण करने' से है। साधारण प्राणी जिस अन्न से जीवित रहते हैं पुरुष उससे परे है।

एतावा॑नस्य महि॒मातो॒ ज्याया॑ँश्च॒ पूरु॑षः।
पादो॑ऽस्य॒ विश्वा॑ भू॒तानि॑ त्रि॒पाद॑स्या॒मृतं॑ दि॒वि ॥ ३ ॥

पदपाठ

एता॒वा॑न्। अ॒स्य॒। म॒हि॒मा। अतः॑। ज्याया॑न्। च॒। पुरु॑षः। पादः॑। अ॒स्य॒। विश्वा॑। भू॒तानि॑। त्रि॒ऽपात्। अ॒स्य॒। अ॒मृत॑म्। दि॒वि ॥ ३ ॥

सायण—अतीतानागतवर्तमानरूपं जगद्यावदस्ति एतावान् सर्वोऽपि अस्य पुरुषस्य महिमा स्वकीयसामर्थ्यविशेषः। न तु तस्य वास्तवस्वरूपम्। वास्तवस्तु पुरुषः अत महिम्नोऽपि ज्यायान् अतिशयेनाधिक.। एतच्चोभयं स्पष्टीक्रियते। अस्य पुरुषस्य विश्वा सर्वाणि भूतानि कालत्रयवर्तीनि प्राणिजातानि पाद: चतुर्थोऽशः। अस्य पुरुषस्य अवशिष्ट त्रिपात् स्वरूपम् अमृतं विनाशरहित सत् दिवि द्योतनात्मके स्वप्रकाशस्वरूपे व्यवतिष्ठत इति शेष.। यद्यपि 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० आ० ८,१, तै० उ० २,१) इत्याम्नातस्य परब्रह्मण इयत्ताभावात् पादचतुष्टय निरूपयितुमशक्यं तथापि जगदिदं ब्रह्मस्वरूपापेक्षयाल्पमिति विवक्षितत्वात् पादत्वोपन्यासः ॥

अनुवाद

इस प्रकार की उसकी महिमा है और पुरुष उससे भी बड़ा है। इसके एक चतुर्थांश से समस्त सृष्टि है और इसका तीन भाग जो कुछ स्वर्ग मे अमर है वह है।

टिप्पणी

एता॒वा॑न्—इससे पुरुष द्वारा की गई दिखलाई पड़ने वाली सृष्टि का बोध होता है। वैदिक सन्धि की दृष्टि से इसे 'एतावाँ' होना चाहिये था। इससे भाषा की दृष्टि से इस सूक्त की अवान्तरकालीनता परिलक्षित होती है।

पूरु॑ष—छन्द की दृष्टि से 'उ' को दीर्घ हो गया है।

त्रि॒पादू॒र्ध्व उदै॒त्पुरु॑षः॒ पादो॑ऽस्ये॒हाभ॑व॒त् पुनः॑।
ततो॒ विष्व॒ङ् व्य॑क्रामत्साशनानश॒ने अ॒भि ॥ ४ ॥

पदपाठ

त्रि॒ऽपात्। ऊ॒र्ध्वः। उत्। ऐ॒त्। पुरु॑षः। पादः॑। अ॒स्य॒। इ॒ह। अ॒भ॒व॒त्। पुनरिति॑। ततः॑। विष्व॑ङ्। वि। अ॒क्रा॒म॒त्। सा॒श॒ना॒न॒श॒ने इति॑। अ॒भि ॥ ४ ॥

सायण—योऽयं त्रिपात् पुरुष संसाररहितो ब्रह्मस्वरूपः सोऽयम् ऊर्ध्व उदैत् अस्मादज्ञानकार्यात्संसाराद्बहिर्भूतोऽत्रत्यैर्गुणदोषैरस्पृष्ट उत्कर्षेण स्थितवान्। तस्य अस्य सोऽयं पादः लेशः सोऽयम् इह मायायां पुनः अभवत् सृष्टिसंहाराभ्यां पुनः पुनरागच्छति। अस्य सर्वस्य जगत. परमात्मलेशत्वं भगवताप्युक्तं प्युक्तम्—'विष्टभ्याहमिद कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्' (भ० गी० १०,४२) इति। तत माययामागत्यानन्तरं विष्वङ् देवमनुष्यतिर्यगादिरूपेण विविध सन् व्यक्रामत् व्याप्तवान्। किं कृत्वा। साशनानशने अभिलक्ष्य। साशनं भोजनादिव्यवहारोपेतं चेतनं प्राणिजातम् अनशन तद्रहितमचेतन गिरिनद्यादिकम्। तदुभयं तथा स्यात्तथा स्वयमेव विविधो भूत्वा व्याप्तवानित्यर्थः॥

अनुवाद

अपने तीन-चौथाई भाग के साथ पुरुष ऊपर उठ गया और उसका एक-चौथाई भाग इस सृष्टि के रूप मे हुआ। उसी एक-चौथाई से वह भोजन करने वाले एव न करने वालो मे चारो ओर व्याप्त हो गया।

टिप्पणी

त्रिपादूर्ध्वः—तीन चौथाई अशो का तात्पर्य उपर्युक्त तीन भागो से है जो द्युलोक या स्वर्ग मे अमृतत्व रूप मे वर्तमान है। अपने एक अश से ही वह समस्त सृष्टि का सृजन करता है।

उदैत्—'उत्' उपसर्ग पूर्वक 'इ' (जाना) धा० का लङ्, प्र० पु०, एक व० का रूप है।

इह—इससे तात्पर्य है 'इस लोक या सृष्टि' का।

विष्वङ् विक्रामत्—चारो ओर परिक्रमण किया अर्थात् अपने को सृष्टि के कण-कण मे व्याप्त किया।

साशन-अनशने—अशन (भोजन) के सहित और उससे परे या रहित का तात्पर्य जीवधारी प्राणी और नदी, पर्वतादि अजीवधारी उपादानो से है। ऋ० मे जो द्वन्द्व समास है उनका यह सबसे बाद मे आने वाला स्वरूप है।

तस्माद्विराळजायत विराजो अधि पूरुषः।
स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद्भूमिमथो पुरः॥ ५॥

पदपाठ

तस्मात्। विऽराट्। अजायत। विऽराजः। अधि। पुरुषः। सः। जातः। अति। अरिच्यत। पश्चात्। भूमिम्। अथो इति। पुरः॥ ५॥

सायण—विष्वङ् व्यक्रामदिति यदुक्तम् तदेवात्र प्रपञ्चयते । तस्मात् आदि पुरुषात् विराट् ब्रह्माण्डदेह. अजायत उत्पन्न. । विविधानि राजन्ते वस्तून्यत्रेति विराट् । विराजोऽधि विराड्देहस्योपरि तमेव देहमधिकरण कृत्वा पुरुषः तद्देहाभिमानी कश्चित् पुमान् अजायत । सोऽय सर्ववेदान्तवेद्यः परमात्मा स्वयमेव स्वकीयया मायया विराड्देह ब्रह्माण्डरूप सृष्ट्वा तत्र जीवरूपेण प्रविश्य ब्रह्माण्डाभिमानी देवतात्मा जीवोऽभवत् । एतच्चाथर्वणिका उत्तरतापनीये विस्पष्टमामनन्ति—'स वा एष भूतानीन्द्रियाणि विराजं देवता कोशांश्च सृष्ट्वा प्रविश्यामूढो मूढ इव व्यवहरन्नास्ते माययैव' (नृ० ता० २,१,९) इति । स जातः विराट् पुरुष अत्यरिच्यत अतिरिक्तोऽभूत् । विराड्व्यतिरिक्तो देवतिर्यङ्मनुष्यादिरूपोऽभूत् । पश्चात् देवादिजीवभावादूर्ध्वं भूमि ससर्जेति शेष । अथो भूमिसृष्टेरनन्तरं तेषां जीवानां पुर ससर्ज । पूर्यन्ते सप्तभिर्धातुभिरिति पुर. शरीराणि ॥

अनुवाद

उस आदि पुरुष से विराट् (पुरुष) उत्पन्न हुआ और विराट् से अधि-पुरुष (की उत्पत्ति हुयी)। वह (विराट्) उत्पन्न होकर अत्यन्त वर्धित हुआ और उसी ने बाद मे पृथिवी और नगर आदि उत्पन्न किये ।

टिप्पणी

विराट्—पुरुष और अधिपुरुष के मध्य विराट् पुरुष का स्थान है जिस विराट् पुरुष के अन्तर्गत सभी प्राणी और लोक व्याप्त है। भ०गीता के ग्यारहवें अध्याय मे इसी विराट् पुरुष का वर्णन किया गया है ।

अत्यरिच्यत—'अति' उपसर्ग पूर्वक 'रिच्' ('रिचिर् विरेचने' धा० पा० २९, ४) धा० का अर्थ यहाँ 'अपने को चारो ओर विस्तीर्ण किया—' है । इस धा० का मूल अर्थ 'अलग करना', 'त्यागना', 'खाली करना' आदि है, किन्तु यहाँ 'उत्पन्न होते ही अपने स्थान से अलग होकर या आगे बढ़कर पृथिवी एवं अन्य उपादानो मे व्याप्त हो गया'— अर्थ प्रतीत होता है ।

पश्चात्—इसका अर्थ अनेक व्याख्याकारो ने 'पुर.' के साथ अन्वित करके 'पीछे' (परे) किया है । किन्तु 'पृथिवी के सामने और पीछे, अर्थ उपयुक्त नही प्रतीत होता, क्योकि यहाँ सृष्टि के उत्पन्न होने का विषय है और उसमें भी एक क्रमिक विकास है । अतः विराट् ने उत्पन्न होने के बाद पृथिवी एवं अन्य पुरो, नगरो या शरीरो को उत्पन्न किया'— भाव ही समीचीन प्रतीत होता है ।

यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत ।
वसन्तो अस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः ॥ ६ ॥

पदपाठ

यत् । पुरुषेण । हविषा । देवाः । यज्ञम् । अतन्वत । वसन्तः । अस्य । आसीत् । आज्यम् । ग्रीष्मः । इध्मः । शरत् । हविः ॥ ६ ॥

सायण – यत् यदा पूर्वोक्तक्रमेणैव शरीरेषूत्पन्नेषु सत्सु देवा उत्तरसृष्टि-सिद्ध्यर्थं बाह्यद्रव्यस्यानुत्पन्नत्वेन हविरन्तरासंभवात् पुरुषस्वरूपमेव मनसा हविष्ट्वेन संकल्प्य पुरुषेण पुरुषाख्येन हविषा मानसं यज्ञम् अतन्वत अन्वतिष्ठन् तदानीम् अस्य यज्ञस्य वसन्त वसन्तर्तुरेव आज्यम् आसीत् अभूत् । तमे-वाज्यत्वेन संकल्पितवन्त इत्यर्थः । एवं ग्रीष्म इध्मः आसीत् । तमेवेध्मत्वेन सकल्पितवन्त इत्यर्थ । तथा शरद्धवि. आसीत् । तामेव पुरोडाशादिहविष्ट्वेन संकल्पितवन्त इत्यर्थः । पूर्वं पुरुषस्य हवि सामान्यरूपत्वेन संकल्प । अनन्तर वसन्तादीनामाज्यादिविशेषरूपत्वेन संकल्प इति द्रष्टव्यम् ॥

अनुवाद

जब देवताओ ने पुरुष रूपी हवि के द्वारा यज्ञ का विस्तार किया तो (उस समय) वसन्त इस यज्ञ का आज्य (घृत) था, ग्रीष्म इंधन और शरद् ऋतु हवि थी ।

टिप्पणी

प्रारम्भ में देवताओ ने पुरुष को हवि बनाया अर्थात् उसकी सहायता से यज्ञ का विस्तार किया । मानवीय यज्ञ का प्रारूप प्राकृतिक यज्ञ के स्वरूप के साथ समन्वय रखता है । यज्ञ का विधान प्रकृति के उपादानो का ही एक स्वरूप है ।

अतन्वत—'तनु विस्तारे' धा० का लङ्, प्र० पु०, ब० व० का आत्मने० का रूप है ।

वसन्त —वसन्तादि से उस काल में इन तीन ऋतुओं की प्रधानता का-द्योतन होता है । संभवतः वसन्त से ही वर्ष का प्रारम्भ होने से इसको प्रथम रखा गया है ।

तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन् पुरुषं जातमग्रतः ।
तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये ॥ ७ ॥

पदपाठ

तम् । यज्ञम् । बर्हिषि । प्र । औक्षन् । पुरुषम् । जातम् । अग्रतः । तेन । देवाः । अयजन्त । साध्याः । ऋषयः । च । ये ॥ ७ ॥

सायण—यज्ञ यज्ञसाधनभूत तं पुरुषं पशुत्वभावनया यूपे बद्ध बर्हिषि मानसे यज्ञे प्रौक्षन् प्रोक्षितवन्तः । कीदृशमित्यत्राह । अग्रतः सर्वसृष्टे पूर्वं पुरुष जातं पुरुषत्वेनोत्पन्नम् । एतच्च प्रागेवोक्तम् 'तस्माद्विराळजायत विराजो अधि पूरुष' इति । तेन पुरुषरूपेण पशुना देवा अयजन्त । मानसयाग निष्पादितवन्त इत्यर्थः । के ते देवा इत्यत्राह । साध्या. सृष्टिसाधनयोग्याः प्रजापतिप्रभृतय: तदनुकूला. ऋषयः मन्त्रद्रष्टार' च ये सन्ति । ते सर्वेऽप्ययजन्तेत्यर्थः ॥

अनुवाद

सर्वप्रथम उत्पन्न उस यज्ञ पुरुष को (देवताओ ने) बर्हियो (कुशाओ) पर प्रोक्षित किया (फैलाया, सीचा) और उसी से देवताओ, सिद्धपुरुषो और ऋषियो ने यजन किया ।

टिप्पणी

जातमग्रतः—जो पुरुष विराट् रूप मे उत्पन्न कहा गया है, उसी का कथन इस मंत्र मे भी है ।

प्रौक्षन्—'प्र' उपसर्ग पूर्वक 'उक्ष सेचने' (सिंचन करना, वर्धित होना, शक्तिशाली होना आदि) धा० का लङ्, प्र० पु०, ब० व० का रूप है ।

अयजन्त—'यज्' (यजन करना, पूजा करना) धा० का लङ्, प्र० पु०, ब० व० आत्मने० रूप है । इसकी तुलना इसके पूर्व मत्र मे आये हुये 'अतन्वत' रूप से कर सकते है ।

साध्याः—देवताओ की ही एक कोटि प्रतीत होती है ।

तस्माद्यज्ञात् सर्वहुतः संभृतं पृषदाज्यम् ।
पशून् ताँश्चक्रे वायव्यानारण्यान् ग्राम्याश्च ये ॥ ८ ॥

पदपाठ

तस्मात् । यज्ञात् । सर्वऽहुतः । सम्ऽभृतम् । पृषत्ऽआज्यम् । पशून् । तान् । चक्रे । वायव्यान् । आरण्यान् । ग्राम्याः । च । ये ॥ ८ ॥

सायण—सर्वहुतः । सर्वात्मकः पुरुषः यस्मिन् यज्ञे हूयते सोऽयं सर्वहुत् । तादृशात् तस्मात् पूर्वोक्तात् मानसात् यज्ञात् पृषदाज्यं दधिमिश्रमाज्यं सम्भृतं संपादितम् । दधि चाज्यं चेत्येवमादिभोग्यजातं सर्वं संपादितमित्यर्थः । तथा वायव्यान् वायुदेवताकान् लोकप्रसिद्धान् आरण्यान् पशून् चक्रे उत्पादितवान् । आरण्या हरिणादयः । तथा ये च ग्राम्याः गवाश्वादयः तानपि चक्रे । पशूनामन्तरिक्षद्वारा वायुदेवत्यत्वं यजुर्ब्राह्मणे समाम्नायते—'वायवः स्थेत्याह वायुर्वा अन्तरिक्षस्याध्यक्षाः । अन्तरिक्षदेवत्याः खलु वै पशव. । वायव एवैनान्परिददाति' (तै० ब्रा० ३,२,१,३) इति ॥

अनुवाद

उस सर्वहुत यज्ञ से घृत के बिन्दुओ को एकत्रित किया गया और उन बिन्दुओं को वायु मे विचरण करने वाले, जंगली एव ग्राम्य पशुओ के रूप मे बनाया (उत्पन्न किया) ।

टिप्पणी

सर्वहुतः —'सर्वहुत्' का अर्थ है 'जिसमे सब कुछ हवन कर दिया गया है । पूर्व मंत्रो मे पुरुष को ही हवि बनाकर हवन करने की बात कही गई है । पुरुष ही सब कुछ था और उसी को हवन करने से यह यज्ञ 'सर्वहुत' कहा गया है ।

पृषद्—(आज्यम्) सा० ने इसका अर्थ दधिमिश्रित किया है । किन्तु इसका अर्थ 'घृत की छूटी हुई या थाली मे लगी हुई बूंदो' से ग्रहण करना उचित होगा । इसी के समान दूसरा समास 'पृषदश्व.' (ऋ० १, ८७, ४) है जहाँ सा० ने 'पृषद्' की व्याख्या 'श्वेतबिन्द्वङ्किता ' किया है । अत उससे भी 'बिन्दु' अर्थ ही सिद्ध होता है ।

'समासस्य' (पा० सू० ६, १, २२३) से इसमे अन्तोदात्त स्वर का विधान है ।

तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे ।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ॥ ९ ॥

पदपाठ

तस्मात् । यज्ञात् । सर्वऽहुतः । ऋचः । सामानि । जज्ञिरे । छन्दांसि । जज्ञिरे । तस्मात् । यजुः । तस्मात् । अजायत ॥ ९ ॥

सायण—सर्वहुत तस्मात् पूर्वोक्तात् यज्ञात् ऋच. सामानि च जज्ञिरे उत्पन्नाः। तस्मात् यज्ञात् छन्दांसि गायत्र्यादीनि जज्ञिरे। तस्मात् यज्ञात् यजु. अपि अजायत ॥

अनुवाद

उस सर्वहुत यज्ञ से ऋचायें और साम उत्पन्न हुये। उसी से छन्द (गायत्री आदि) उत्पन्न हुये और यजुष् (गद्य) भी उसी से पैदा हुआ।

टिप्पणी

✓जज्ञिरे—'जनी प्रादुर्भावे' (उत्पन्न होना) धा० का लिट्, प्र० पु० ब० व० का रूप है।

तस्मादश्वा अजायन्त ये के चोभयादतः।

गावो ह जज्ञिरे तस्मात् तस्माज्जाता अजावयः ॥ १० ॥

पदपाठ

तस्मात्। अश्वाः। अजायन्त। ये। के। च। उभयादतः। गावः। ह। जज्ञिरे। तस्मात्। तस्मात्। जाताः। अजावयः ॥ १० ॥

सायण—तस्मात् पूर्वोक्ताद्यज्ञात् अश्वा अजायन्त उत्पन्नाः। तथा ये के च अश्वव्यतिरिक्ता गर्दभा अश्वतराश्च उभयादत. ऊर्ध्वाधोभागयोरुभयो. दन्तयुक्ता. सन्ति तेऽप्यजायन्त। तथा तस्मात् यज्ञात् गाव च जज्ञिरे। किंच तस्मात् यज्ञात् अजावय. च जाता. ॥

अनुवाद

उस (सर्वहुत यज्ञ) से अश्व उत्पन्न हुये एवं जो कोई भी (ऊपर-नीचे) दोनो ओर दाँत वाले थे (उत्पन्न हुये)। उसी से गाये उत्पन्न हुयी तथा उसी से बकरियाँ और भेड़ें भी उत्पन्न हुयी।

टिप्पणी

ये के—घोडे के अतिरिक्त दूसरे पशु जिनके दोनो ओर दाँत होते है सभी उत्पन्न हुये।

अजावयं —द्वन्द्व समास है जो पदपाठ मे अलग नही किया जाता।

यत्पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन्।

मुखं किमस्य कौ बाहू का ऊरू पादा उच्येते ॥ ११ ॥

पदपाठ

यत् । पुरुषम् । वि । अदधुः । कृतिधा । वि । अकल्पयन् । मुखम् । किम् । अस्य । कौ । बाहू इति । कौ । ऊरू इति । पादौ । उच्येते इति ॥ ११॥

सायण—प्रश्नोत्तररूपेण ब्राह्मणादिसृष्टिं वक्तु ब्रह्मवादिनां प्रश्ना उच्यन्ते। प्रजापतेः प्राणरूपा देवा यत् यदा पुरुष विराड्रूपं व्यदधुः संकल्पेनोत्पादितवन्तः तदानी कतिधा कतिभि प्रकारै व्यकल्पयन् विविध कल्पितवन्त । अस्य पुरुषस्य मुख किमासीत् । कौ बाहू अभूताम् का ऊरू । कौ च पादावुच्येते । प्रथम सामान्यरूपः प्रश्न पश्चात् मुख किमित्यादिना विशेषविषया प्रश्नाः ॥

अनुवाद

जब पुरुष को उत्पन्न किया तो इसे कितने भागो मे विभक्त किया ? इसका मुख क्या था, इसके दोनो बाहु क्या थे और इसके दोनो जघे और दोनो पैर क्या कहे जाते थे ?

टिप्पणी

वि अदधु —'वि' उपसर्ग पूर्वक 'धा' (धारण करना, रखना) धा० का लुङ्, प्र० पु० ब० व० का रूप है । देवताओ ने जब विराट् पुरुष को यज्ञ मे हवि बनाकर हवन किया तो उसे कितने भागो मे काटा और उन भागो को किस-किस नाम से अभिहित किया अथवा किस-किससे उनका तादात्म्य स्थापित किया ।

उच्येते—'वच्' (बोलना) धा० का लट् का प्र०पु०, द्विवचन, आत्मने० रूप है । प्रगृह्य सज्ञक होने के कारण पदपाठ मे सभी द्विवचनान्त रूपो के साथ इतिकरण किया गया है ।

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः ।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥ १२ ॥

पदपाठ

ब्राह्मणः । अस्य । मुखम् । आसीत् । बाहू इति । राजन्यः । कृतः । ऊरू इति । तत् । अस्य । यत् । वैश्यः । पत्ऽभ्याम् । शूद्रः । अजायत ॥ १२॥

सायण—इदानी पूर्वोक्ताना प्रश्नानामुत्तराणि दर्शयति । अस्य प्रजापतेः ब्राह्मण ब्राह्मणत्वजातिविशिष्ट पुरुषः मुखमासीत् मुखादुत्पन्न इत्यर्थ । योयंऽ राजन्य क्षत्रियत्वजातिमान् पुरुषः स. बाहू कृत बाहुत्वेन निष्पादितः । बाहु-

भ्यामुत्पादित इत्यर्थ । तत् तदानीम् अस्य प्रजापते यत् यौ ऊरू तद्रूपः वैश्य सम्पन्नः । ऊरुभ्यामुत्पन्न इत्यर्थः । तथास्य पद्भ्यां पादाभ्यां शूद्र शूद्रत्वजातिमान् पुरुष अजायत । इय च मुखादिभ्यो ब्राह्मणादीनामुत्पत्तिर्यजु.सहितायां सप्तम-काण्डे 'स मुखतस्त्रिवृतं निरमिमीत' (तै० स० ७,१ १,४) इत्यादौ विस्पष्ट-माम्नाता । अत: प्रश्नोत्तरे उभे अपि तत्परतयैव योजनीये ॥

अनुवाद

इसका मुख ब्राह्मण था, उसके दोनो बाहुओ को क्षत्रिय बनाया गया। उसके दोनो जघे वैश्य थे और उसके दोनो पैरो से शूद्र उत्पन्न हुआ।

टिप्पणी

ब्राह्मणः —ऋ० मे पहली बार इन चार वर्णो का कथन यहाँ पर हुआ है।

च॒न्द्रमा॒ मन॑सो जा॒तश्चक्षो॒: सूर्यो॑ अजायत।

मु॒खादिन्द्र॑श्चा॒ग्निश्च॑ प्रा॒णाद्वा॒युर॑जायत॥ १३ ॥

पदपाठ

च॒न्द्रमा॑ः । मन॑सः । जा॒तः । चक्षो॑ः । सूर्य॑ः । अ॒जा॒य॒त॒ । मु॒खा॑त् । इन्द्र॑ः । च॒ । अ॒ग्निः । च॒ । प्रा॒णात् । वा॒युः । अ॒जा॒य॒त॒ ॥ १३ ॥

सायण—यथा दध्याज्यादिद्रव्याणि गवादय. पशव ऋगादिवेदा ब्राह्मणा-दयो मनुष्याश्च तस्मादुत्पन्ना एव चन्द्रादयो देवा अपि तस्मादेव उत्पन्ना इत्याह । प्रजापते मनसः सकाशात् चन्द्रमाः जातः । चक्षोः च चक्षुष. सूर्य. अपि अजायत । अस्य मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च देवावुत्पन्नौ । अस्य प्राणाद्वायुरजायत ॥

अनुवाद

इस (पुरुष) के मन से चन्द्रमा उत्पन्न हुआ और नेत्र से सूर्य उत्पन्न हुआ। मुख से इन्द्र और अग्नि एव प्राण से वायु उत्पन्न हुआ।

टिप्पणी

मनस —मन अत्यन्त शीतल और सौन्दर्य का प्रतीक है जिससे चन्द्रमा की उत्पत्ति हुयी। नेत्र पुरुष की तेजस्विता के प्रतीक होने के कारण सूर्य से सम्ब-न्धित किये गये। मुख अन्तरिक्ष और अग्नितत्त्व का प्रतीक होने के कारण इन्द्र और अग्नि से सम्बधित है। इसी प्रकार प्राण जीवनतत्त्व होने के कारण वायु से

सम्बन्धित किया गया। इसी सन्दर्भ मे ऋ० १०, १६, ३ मे कहा गया है—'सूर्यं चक्षुर्गच्छतु वातमात्मा…(चक्षु सूर्य के समीप और आत्मा या प्राण वायु के समीप गमन करे)।

नाभ्या॑ आसीद॒न्तरि॑क्षं शी॒र्ष्णो द्यौः सम॑वर्तत ।
प॒द्भ्यां भूमि॒र्दिशः॒ श्रोत्रा॒त्तथा॑ लो॒काँ अ॑कल्पयन् ॥ १४ ॥

पदपाठ

नाभ्याः॑ । आ॒सी॒त् । अ॒न्तरि॑क्षम् । शी॒र्ष्णः । द्यौः । सम् । अ॒व॒र्त॒त ।
प॒त्ऽभ्याम् । भूमिः॑ । दिशः॑ । श्रोत्रा॑त् । तथा॑ । लो॒कान् । अ॒क॒ल्प॒य॒न् ॥ १४ ॥

सायण—यथा चन्द्रादीन् प्रजापतेर्मनःप्रभृतिभ्योऽकल्पयन् तथा अन्तरिक्षादीन् लोकान् प्रजापते. नाभ्यादिभ्यो देवा अकल्पयन् उत्पादितवन्त.। एतदेव दर्शयति । नाभ्या प्रजापतेर्नाभेः अन्तरिक्षमासीत् । शीर्ष्णः शिरसः द्यौ. समवर्तत उत्पन्ना । अस्य पद्भ्यां पादाभ्यां भूमिः उत्पन्ना । अस्य श्रोत्रात् दिश उत्पन्नाः ॥

अनुवाद

(पुरुष की) नाभि से अन्तरिक्ष उत्पन्न हुआ और शीर्ष से द्यौ (आकाश) उद्भूत हुआ। पैरो से भूमि, कानो से दिशाये और इसी प्रकार (अन्य अङ्गो से) लोको की कल्पना (सृष्टि) उसने की।

टिप्पणी

अ॒क॒ल्प॒य॒न्—'क्लृप्' (बनाना, निर्माण करना, विभाजन करना) धा० का लङ्, प्र० पु०, ब० व० का रूप है।

स॒प्तास्या॑सन् परि॒धय॒स्त्रिः स॒प्त स॒मिधः॑ कृ॒ताः ।
दे॒वा यद्य॒ज्ञं त॑न्वा॒ना अब॑ध्न॒न् पुरु॑षं प॒शुम् ॥ १५ ॥

पदपाठ

स॒प्त । अ॒स्य॒ । आ॒स॒न् । प॒रि॒ऽधयः॑ । त्रिः । स॒प्त । स॒म्ऽइधः॑ । कृ॒ताः ।
दे॒वाः । यत् । य॒ज्ञम् । त॒न्वा॒नाः । अब॑ध्नन् । पुरु॑षम् । प॒शुम् ॥ १५ ॥

सायण—अस्य सांकल्पिकयज्ञस्य गायत्र्यादीनि सप्त छन्दांसि परिधय आसन् । ऐष्टिकस्याहवनीयस्य त्रय. परिधय उत्तरवेदिकास्त्रय आदित्यश्च सप्तमः

परिधिप्रतिनिधिरूपः । अत एवाम्नायते—'न पुरस्तात्परि दधात्यादित्यो ह्येवोद्यन् पुरस्ताद्रक्षांस्यपहन्ति' (तै० सं० २,६,६,३) इति । तत एत आदित्यसहिताः सप्त परिधयोऽत्र सप्त छन्दोरूपाः । तथा समिधः त्रिः सप्त त्रिगुणीकृतसप्तसङ्ख्याकाः एकविंशतिः कृताः । 'द्वादश मासाः पञ्चर्तवस्त्रय इमे लोका असावादित्य एकविंशः' (तै० स० ५,१,१०,३) इति श्रुताः पदार्था एकविंशतिदारुयुक्तेध्मत्वेन भाविताः । यत् यः पुरुषो वैराजोऽस्ति तं पुरुषं देवाः प्रजापतिप्राणेन्द्रियरूपाः यज्ञं तन्वानाः कुर्वाणाः पशुम् अबध्नन् विराट्पुरुषमेव पशुत्वेन भावितवन्तः । एतदेवाभिप्रेत्य पूर्वत्र 'यत्पुरुषेण हविषा' इत्युक्तम् ॥

अनुवाद

उसकी (यज्ञ पुरुष की) सात परिधियाँ थी और इक्कीस समिधाये की गयी, जब देवताओ ने यज्ञ का विस्तार करते हुये (सम्पादन करते हुये) पुरुष रूपी पशु को बाँधा ।

टिप्पणी

परिधयः—यज्ञवेदी के चारो ओर रखी जाने वाली हरी टहनियो को परिधि कहा जाता है । इसकी सख्या प्राय तीन ही होती है ।

अबध्नन्—'बन्ध्' (बाँधना (धा० का लङ्, प्र० पु०, ब० व० का रूप है । इसके पूर्व ७ वें मत्र मे 'यज्ञम् पुरुषम्' से 'पुरुषम् पशुम्' की तुलना की जा सकती है ।

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् ।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः ॥ १६ ॥

पदपाठ

यज्ञेन । यज्ञम् । अयजन्त । देवाः । तानि । धर्माणि । प्रथमानि । आसन् । ते । ह । नाकम् । महिमानः । सचन्त । यत्र । पूर्वे । साध्याः । सन्ति । देवाः ॥ १६ ॥

सायण—पूर्वं प्रपञ्चेनोक्तमर्थं सक्षिप्यात्र दर्शयति । देवाः प्रजापतिप्राणरूपा यज्ञेन यथोक्तेन मानसेन सकल्पेन यज्ञं यथोक्तयज्ञस्वरूपं प्रजापतिम् अयजन्त पूजितवन्तः । तस्मात्पूजनात् तानि प्रसिद्धानि धर्माणि जगद्रूपविकाराणां धारकाणि प्रथमानि मुख्यानि आसन् । एतावता सृष्टिप्रतिपादकसूक्त-

भागार्थ संगृहीतः। अथोपासनतत्फलानुवादकभागार्थः संगृह्यते। यत्र यस्मिन् विराट्प्राप्तिरूपे नाके पूर्वे साध्या पुरातना विराडुपास्तिसाधका देवा सन्ति तिष्ठन्ति तत् नाकं विराट्प्राप्तिरूप स्वर्ग ते महिमान' तदुपासका महात्मान सचन्त समवयन्ति प्राप्नुवन्ति ॥

अनुवाद

देवताओ ने यज्ञ के द्वारा ही यज्ञ का यजन किया और वही प्रथम कर्म थे। ये महिमाएँ उस स्वर्ग को प्राप्त हुयी। (पहुँची) जहाँ पर साध्य देवतागण पहले से ही वर्तमान् है।

टिप्पणी

यज्ञम्—यहाँ पुरुष ब्रह्म के लिये आया है। इसकी तुलना 'यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत' (ऋ० १०, ९०, ६) से कर सकते है।

धर्माणि—यहाँ 'धर्म' का अर्थ कर्म है। सृष्टि का प्रथम कर्म 'यज्ञ सम्पादन' था, जिससे सृष्टि की उत्पत्ति हुयी। प्रोफे० रनू ने इसे संस्था' (Institutions) अर्थ में और मैक्डॉनेल ने आदेश (ordinances) अर्थ मे ग्रहण किया है।

✓**महिमान**—यज्ञ की शक्तियाँ अथवा जिन लोगो ने यज्ञ का सम्पादन किया उनकी 'महिमायें' ही यहाँ अभिप्रेत है।

यह मंत्र ऋ० १,१६४,५० मे भी आया है।

शुक्ल यजुर्वेदान्तर्गत पुरुषसूक्त के शेष मंत्र

(उत्तरनारायणीय सूक्त; शुक्ल यजुर्वेद, अध्याय ३१)

अद्भ्यः संभृतः पृथिव्यै रसाच्च विश्वकर्मणः समवर्तताग्रे।
तस्य त्वष्टा विदधद्रूपमेति तन्मर्त्यस्य देवत्वमाजानमग्रे॥ १७॥

उवट—अद्भ्य. संभृत.। अद्भ्य. सभृव पृथिव्यै रसात् च विश्वकर्मण. समवर्तत अग्रे। तस्य त्वष्टा विदधत् रूपम् एति तत् मर्त्यस्य देवत्वम् आजानम् अग्रे। त्वष्टा प्रजापतिब्रह्मा यद्रूपमेकांशभूत विदधत्कृतवान् तदेव मर्त्यस्य मर्त्ये भूलोके देवत्वं प्रभुत्वम् आजानमाप्तमित्यर्थः। किंभूतोसौ। अद्भ्यः सकाशात् संभृतः पिण्डीभूतः पृथिव्या रसात् च। विश्वकर्मणः अग्रे प्रथमतः समवर्तत संयोगरूपेण कृतः। तस्यैव नान्यस्य तदेन कारणान्मर्त्ये प्राप्तवान् स तु पालनीय-दानवादिविनाशनायेति ॥ १७ ॥

महीधर—'अद्भ्यः संभृत इत्युत्तरनारायणेनादित्यमुपस्थायेति' (३१।३।६। २।२०) षट् कण्डिका उत्तरनारायणम्। उपान्त्ये द्वे अनुष्टुभौ शेषास्त्रिष्टुभः आदित्य देवत्याः। पूर्वकल्पे पुरुषमेधयाजी आदित्यरूपं प्राप्तः स्तूयते। अद्भ्य जलात् पृथिव्याः सकाशाच्च पृथिव्यपां ग्रहणं भूतपञ्चकोपलक्षकम्। भूतपञ्चकात् यो रसः संभृतः पुष्टः। तथा विश्वं कर्म यस्य विश्वकर्मणः कालस्य रसात्प्रीतेः यो रसोऽग्रे प्रथम समवर्तत समभवत्। भूतपञ्चकस्य कालस्य च सर्व प्रति कारणत्वात्पुरुषमेधयाजिनो लिङ्गशरीरे पञ्चभूतानि तुष्टानि कालश्च। ततस्तुष्टेभ्य कश्चिद् रसविशेषफलरूप उत्तमजन्मप्रद उत्पन्न इत्यर्थः। तस्य रसस्य रूप विदधत् धारयन् त्वष्टा आदित्यः एति प्रत्यहमुदय करोति। अग्रे प्रथमं मर्त्यस्य मनुष्यस्य सतस्तस्य पुरुषमेधयाजिनः आजानदेवत्वं मुख्य देवत्वम् सूर्यरूपेण। द्विविधा देवा कर्मदेवा आजानदेवाश्च। कर्मणोत्कृष्टेन देवत्वं प्राप्ताः कर्मदेवाः। सृष्ट्यादावुत्पन्ना आजानदेवाः ते कर्मदेवेभ्यः श्रेष्ठाः 'ये शतं कर्मदेवानामानन्दाः स एक आजानदेवानमानन्दः' (बृह० मा० ४।१। ३५) इति श्रुतेः सूर्यादय आजानदेवाः ॥ १७ ॥

अनुवाद

जल से एवं पृथिवी आदि अन्य पञ्चभूतो के रस से जिस पुरुष का संभरण किया गया तथा जो विश्वकर्मा से पूर्व विद्यमान था ऐसे उस (पुरुष) के रूप का विधान करते हुये त्वष्टा (आदित्य) आगमन करता है। प्रथमत वही मनुष्य की सृष्टि के आदि मे मुख्य देवता था।

टिप्पणी

संभृत.—सम् + √भृ + क्त प्रत्यय।

इस मंत्र मे पुरुष और आदित्य देवता का तादात्म्य स्थापित किया गया है और यह व्यक्त किया गया है सृष्टि के पूर्व वही एकमात्र देवता था।

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥ १८ ॥

उवट—वेदाहम् वेद अहम् एतं पुरुषम् महान्तम् आदित्यवर्णम् तमसः परस्तात्। तमेव विदित्वा अतिमृत्युम् एति न अन्यः पन्था विद्यते अयनाय। ऋषे प्रतिवचनम्। अहमेतं पुरुषं वेद। महान्तं देशकालाद्यवच्छेदरहितम्। आदित्यवर्णं स्वप्रकाशम्। तमसः परस्तात् अविद्यायाः भेददर्शनम्। तमेव

विदित्वा अतिमृत्युम् एति अतिक्रम्य मृत्युं त पुरुषमनुप्रविशति । न अन्य पन्था मार्ग तस्यायनाय गमनाय विद्यते ॥ १८ ॥

महीधर—एतं महान्तं सर्वोत्कृष्ट पुरुष सूर्यमण्डलस्थमहं वेद जानामि इति ऋषेर्वचनम् । कीदृशम् । आदित्यवर्णमादित्यस्येव वर्णो यस्य तम् । उपमान्तराभावात्स्वोपमम् । तथा तमस. परस्ताद् रतरम् । तमोरहितमित्यर्थः । तमःशब्देनाविद्योच्यते । तमेवादित्यं विदित्वा ज्ञात्वा मृत्युमत्येति अतिक्रामति पर ब्रह्म गच्छति । अयनायाश्रयायान्य· पन्था मार्ग न विद्यते । सूर्यमण्डलान्तः-पुरुषमात्मरूपं ज्ञात्वैव मुक्तिः ॥ ८ ॥

अनुवाद

मै इस महान् पुरुष को जानता हूँ, जो आदित्य के वर्ण (रग) वाला और अन्धकार (अज्ञान) के परे है। उसी को जान कर (मनुष्य) मृत्यु का अतिक्रमण करता है। इसको छोड़कर गमन के लिये (स्वर्ग प्राप्ति के लिये) अन्य कोई मार्ग नही है।

प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा विजायते ।

तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन्ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा ॥१९॥

उवट—किभूत त विशिष्यते । प्रजापतिश्चरति । प्रजापति चरति गर्भे अन्तः अजायमान. बहुधा विजायते । तस्य योनि परिपश्यन्ति धीरा तस्मिन् ह तस्थु भुवनानि विश्वा । स एव पुरुष एकांशभूत: प्रजापतिः अस्य गर्भस्यान्तः अजायमानः चरति चतुर्विधेषु भूतेषु । स एव जायमानः बहुधाऽनेकप्रकारं विजायते . ये धीराः योगिन. ते तस्य योनिं परिपश्यन्ति सर्वत्यागेन परिहरन्ति । विश्वे त्रैलोक्ये भुवनानि तस्मिन्नातस्थुः ॥ १९ ॥

महीधर—यः सर्वात्मा प्रजापति. अन्तर्हृदि स्थितः सन् गर्भे चरति गर्भ-मध्ये प्रविशति । यश्चाजायमानोऽनुत्पद्यमानो नित्य· सन् बहुधा कार्यकारण-रूपेण विजायते मायया प्रपञ्चरूपेणोत्पद्यते । धीरा ब्रह्मविदस्तस्य प्रजापतेः योनि स्थानं स्वरूप परिपश्यन्ति अह ब्रह्मास्मि इति जानन्ति । विश्वा विश्वानि सर्वाणि भुवनानि भूतजातानि तस्मिन् ह तस्मिन्नेव कारणात्मनि ब्रह्मणि तस्थु. स्थितानि । सर्वं तदात्मकमेवेत्यर्थ. ॥ १९ ॥

अनुवाद

इस (पुरुष) के गर्भ मे प्रजापति विचरण करता है और उसके अन्तर्गत अनुत्पन्न होकर भी अनेक रूपो मे आविर्भूत होता है। धीर

मनीषी उस पुरुष रूपी ब्रह्म के स्थान का सर्वत. दर्शन करते है (समस्त चराचर मे उसी को देखते है)। उसी मे समस्त प्राणी स्थित है।

टिप्पणी

हिरण्यगर्भ पुरुष का ही दूसरा रूप प्रजापति है जिसके द्वारा इस समस्त सृष्टि का विधान होता है। सूर्यमण्डल उस हिरण्यगर्भ का प्रतिरूप है जिसके अन्तर्गत प्रजापति निहित होकर अपने को ही अनेक रूपो मे आविर्भूत करता है। समस्त वैदिक सृष्टि-दर्शन इसी मूलभूत भावना पर आधारित है, जिसका विस्तार उपनिषद् दर्शन मे 'एकोऽहं बहु स्याम्' और 'सर्वं खल्विद ब्रह्म' की विचारधाराओ मे प्रकट होता है।

यो देवेभ्य॑ आ॒तप॑ति॒ यो दे॒वानां॑ पु॒रोहि॑तः।

पूर्वो॒ यो दे॒वेभ्यो॑ जा॒तो नमो॑ रु॒चाय॒ ब्राह्म॑ये ॥ २० ॥

उवट—यो देवेभ्यः। यः देवेभ्यः आतपति य देवाना पुर हित। पूर्व. य देवेभ्यः जात' नम रुचाय ब्राह्मये। अग्रे यो देवेभ्यः। योगिनस्तं नमन्ति ध्यायन्ति। यो देवेभ्यो सर्वेभ्य आतपति अतिशयेन तेजसा तपति आदित्य-रूपेणेत्यर्थ। यश्च देवानां पुरोऽग्रे इन्द्रत्वेन स्थित। यश्च पूर्वं अग्रे ब्रह्मरूपेण देवेभ्यो जात.। तस्मै रुचाय तेजसे ब्राह्मये ब्रह्मपुरुषापत्याय नमः॥ २०॥

महीधर—य. प्रजापतिरादित्यरूपो देवेभ्योऽर्थायातपति द्योतते। यश्च देवानां पुरोहित सर्वकार्येष्वग्रे नीतः। यश्च देवेभ्यो सकाशात् पूर्वः जातः प्रथममुत्पन्नः तस्मै आदित्याय नम। कीदृशाय। रोचतेऽसौ रुरुचतस्मै दीप्य-मानाय 'इगुपध'—(पा० ३।१।१३५) इति कप्रत्ययः। तथा ब्राह्मये ब्राह्मणोऽ-पत्यं ब्राह्मिः। इञि टिलोप। ब्रह्मावयवभूताय च॥ २०॥

अनुवाद

जो देवताओ के लिये तप्त होता है (प्रकाश देता है), जो देवताओ का पुरोहित (अग्रगणी) है, जो देवताओ से पूर्व आविर्भूत हुआ ऐसे प्रकाशपुञ्ज, ब्रह्म के अवयव स्वरूप देवता को नमस्कार है।

रु॒चं ब्रा॒ह्मं ज॒नय॑न्तो दे॒वा अग्रे॒ तद॑ब्रुवन्।

यस्त्वै॒वं ब्रा॑ह्म॒णो वि॒द्यात्तस्य॑ दे॒वा अ॑स॒न्वशे॑ ॥ २१ ॥

उवट—रुचं ब्राह्मम्। रुचं ब्राह्मम् जनयन्त. देवा अग्रे तत् अब्रुवन्। यः त्वा एवम् ब्राह्मण विद्यात् तस्य देवाः असन् वशे। रुचं देदीप्यमानं ब्राह्मं

ब्राह्मण उत्पन्नं जनयन्तः सृष्ट्यर्थम् देवा योगिनः तेजसा दीप्यमानाः यत् अब्रुवन् यद् ब्रूयुः अग्रे प्रथमतः । किमूचु.। अपरोपि यो ब्राह्मणः स ब्रह्म विद्यात् जानीयात् तस्य देवा असन् वशे। सोऽपि सनकादीनां स्थानं गच्छतीत्यर्थः ॥ २१ ॥

महीधर—देवा. दीप्यमाना प्राणा रुच शोभन ब्राह्म ब्रह्मणोऽपत्यमादित्यं जनयन्त उत्पादयन्त अग्रे प्रथमं तत् वचोऽब्रुवन् ऊचुः 'ब्राह्मो जातौ' (पा० ६।४।१७१) इति निपात । तत्किमत आह। यो ब्राह्मणः हे आदित्य त्वा त्वामेवमुक्तविधिना उत्पन्नं विद्याजानीयात् तस्य ब्राह्मणस्य देवा वशे असन् वश्या भवन्ति। आदित्योपासिता जगत्पूज्यो भवतीत्यर्थः ॥ २१ ॥

अनुवाद

पूर्वकाल मे उस प्रकाशवान् ब्रह्म-अवयव स्वरूप को उत्पन्न करते हुये देवता बोले, हे ब्रह्मस्वरूप (आदित्य), जो ब्राह्मण तुम्हारा ज्ञान प्राप्त करे (तुम्हे जाने) देवता उसके वशीभूत होगे (होवे)।

श्रीश्च॑ ते ल॒क्ष्मीश्च॒ पत्न्या॑वहोरा॒त्रे पा॒र्श्वे
नक्ष॑त्राणि रू॒पम॒श्विनौ॒ व्यात्त॑म्।
इ॒ष्णन्नि॑षाणामु॒ म॑ इषाण सर्वलो॒कं म॑ इषाण ॥ २२ ॥

उवट—श्रीश्च ते। श्रीः च ते लक्ष्मीः च पत्न्यौ अहोरात्रे पार्श्वे नक्षत्राणि रूपम् अश्विनौ व्यात्तम्। इष्णन् इषाण अमुम् मे इषाण सर्वलोकम् मे इषाण। अस्य पुरुषस्यैतेऽवयवा:। श्रीश्च लक्ष्मीश्च पत्न्यौ भार्ये। अहश्च रात्रिश्च ते पार्श्वे। नक्षत्राणि रूपम्। अश्विनो व्यात्तम् मुखम्। इष्णन् इषाण स्वर्गस्य लोकस्य ईशान । एतद् गुणविशिष्टः नाम मोक्षस्य ईशान. सर्वलोकस्य च स एव देवानामीशान इति ॥ २२ ॥

महीधर—ऋषिरादित्य स्तुत्वा प्रार्थयते। हे आदित्य, श्रीः लक्ष्मीश्च ते तव पत्न्यौ। जायास्थानीये त्वद्वश्ये इत्यर्थ.। यया सर्वजनाश्रयणीयो भवति सा श्री. श्रीयतेऽनया श्रीः संपदित्यर्थः। अहोरात्रे तव पार्श्वे पार्श्वस्थानीये। नक्षत्राणि गगनगास्ताराः तव रूपम्। तवैव तेजसा भासमानत्वात् 'तेजम्प गोलकः सूर्यो नक्षत्राण्यम्बुगोलकाः' इति ज्योतिःशास्त्रोक्ते.। अश्विनौ द्यावा-पृथिव्यौ तव व्यात्तम् विकासितमुखस्थानीये अश्नुवाते व्याप्नुतस्तौ अश्विनौ 'अश्विनौ द्यावापृथिव्यौ इमे हीदम् सर्वमश्नुवातां' इति श्रुतेः। य ईदृशस्त त्वां याचे। इष्णन् कर्मफलमिच्छन् सन् इषाण इच्छ 'इषु इच्छायां' विकरण-

व्यत्ययः । यद्वा 'इष आभीक्ष्ण्ये' क्र्यादि. अत्रेच्छार्थः । किमेषणीयं तत्राह । अमु परलोकं मे मम इषाण मम परलोकः समीचीनोऽस्त्वितीच्छा । अमोघेच्छत्वादिष्टं भवतीत्यर्थं । सर्वं मे मम इषाण सर्वलोकात्मकोऽहं भवेयमितीच्छेत्यर्थः । मुक्तो भवेयमित्यर्थः । 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इति सामश्रुतेः ॥ २२ ॥

अनुवाद

(हे आदित्य), श्री (सौन्दर्य) और लक्ष्मी (सम्पत्ति) तुम्हारी दो पत्नियाँ है, दिन और रात्रि तुम्हारे दो पार्श्व है, नक्षत्रगण रूप और अश्विनद्वय विकसित मुख है । इच्छा करते हुये तुम मेरे लिये परलोक की कामना करो तथा मेरे लिये समस्त लोको की कामना करो (मेरे लोक-परलोक दोनो समीचीन हो) ।

हिरण्यगर्भ प्रजापति १०.१२१ 

देवता हिरण्यगर्भ प्रजापति, ऋषि हिरण्यगर्भ, छन्द त्रिष्टुभ्

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ १ ॥

पदपाठ

हिरण्यऽगर्भः । सम् । अवर्तत । अग्रे । भूतस्य । जातः । पतिः । एकः । आसीत् । सः । दाधार । पृथिवीम् । द्याम् । उत । इमाम् । कस्मै । देवाय । हविषा । विधेम ॥ १ ॥

सायण—हिरण्यगर्भः हिरण्मयस्याण्डस्य गर्भभूत· प्रजापतिर्हिरण्यगर्भ. । तथा च तैत्तिरीयकम्—'प्रजापतिर्वै हिरण्यगर्भ. प्रजापतेरनुरूपत्वाय' (तै० सं० ५,५,१,२) इति । यद्वा हिरण्मयोऽण्डो गर्भवद्यस्योदरे वर्तते सोऽसौ सूत्रात्मा हिरण्यगर्भ इत्युच्यते । अग्रे प्रपञ्चोत्पत्ते. प्राक् समवर्तत । मायाध्यक्षात् सिसृक्षो. परमात्मन. समजायत । यद्यपि परमात्मैव हिरण्यगर्भ. तथापि तदुपाधिभूतानां वियदादीना ब्रह्मण उत्पत्तेस्तदुपहितोऽप्युत्पन्न इत्युच्यते । स च जातः जातमात्र एव एकः अद्वितीय. सन् भूतस्य विकारजातस्य ब्रह्माण्डादेः सर्वस्य जगतः पतिः ईश्वर. आसीत् । न केवलं पतिरासीदेव अपि तर्हि स. हिरण्यगर्भ. पृथिवी विस्तीर्णां द्यां दिवम् उत अपि च इमाम् अस्माभिर्दृश्यमानां पुरोवर्तिनीमिमां भूमिम् । यद्वा पृथिवीत्यन्तरिक्षनाम । अन्तरिक्ष दिवं भूमिं च दाधार धारयति ।

'छन्दसि लुङ्लङ्लिटः' इति सार्वकालिको लिट्। तुजादित्वादभ्यासदीर्घ. ॥ कस्मै। अत्र किं शब्दोऽनिर्ज्ञातस्वरूपत्वात् प्रजापतौ वर्तते। यद्वा। सृष्ट्यर्थं कामयत इति कः। कमेर्डप्रत्यय। यद्वा कं सुखम्। तद्रूपत्वात् क इत्युच्यते। अथवा इन्द्रेण पृष्टः प्रजापतिर्मदीयं महत्त्व तुभ्य प्रदायाह क कीदृशः स्यामित्युक्तवान्। स इन्द्र प्रत्यूचे यदीद ब्रवीष्यह क. स्यामिति तदेव त्वं भवेति। अतः कारणात् क इति प्रजापतिराख्यायते। 'इन्द्रो वै वृत्रं हत्वा सर्वा विजितीर्विजित्याब्रवीत्' (ऐ० ब्रा० ३,२१) इत्यादिकं ब्राह्मणमत्रानुसन्धेयम्॥ यदासौ किंशब्दस्तदा सर्वनामत्वात् स्मैभाव सिद्धः। यदा तु यौगिकस्तदा व्यत्ययेनेति द्रष्टव्यम्॥ 'सावेकाचः०' इति प्राप्तस्य 'न गोश्वन्साववर्ण' इति प्रतिषेध.। 'क्रियाग्रहणं कर्तव्यम्' इति कर्मण. सम्प्रदानत्वाच्चतुर्थी। कं प्रजापति-देवाय देवं दानादिगुणयुक्तं हविषा प्राजापत्यस्य पशोर्वपारूपेणैककपानात्मकेन पुरोडाशेन वा विधेम वयमृत्विज. परिचरेम। विधति परिचरणकर्मा॥

अनुवाद

सृष्टि के प्रारम्भ मे हिरण्यगर्भ ही वर्तमान था, उत्पन्न होते ही वह अकेला ही प्रत्येक प्राणी का स्वामी था। उसने पृथिवी और द्यौ को धारण किया। (उसे छोड़कर) किस देवता के लिए हवि द्वारा परिचरण करे?

टिप्पणी

हिरण्यगर्भ —प्रारम्भ मे सृष्टि की उत्पत्ति एक हिरण्मय अण्ड से मानी गई है। वही हिरण्यगर्भ पुरुष कहा जाता है। अवान्तरकाल मे उसी को प्रजा-पति कहा गया है।

अवर्तत—'वृत्' धा० का लङ्, प्र० पु०, ए० व० का आत्मने० रूप है।

कस्मै—'क' का चतु० ए० व० का रूप। 'क' के अर्थ के सम्बन्ध मे मत-भेद है। परम्परया इसे 'प्रजापति' का वाचक माना जाता है और इस सूक्त की अन्तिम ऋचा मे भी प्रजापति को ही समस्त सृष्टि का स्वामी कहा गया है, किन्तु इतने पर भी यह मानना पडेगा कि ऋग्वैदिक काल मे जब अनेक देवताओ की आह्वान होता रहा तो निश्चय ही किसी के मन मे यह आशका आयी होगी कि इन सब देवताओ के ऊपर कौन देवता अधिष्ठित है? उसी सन्दर्भ मे यह प्रश्न आया होगा कि 'किस देवता के लिए हवि अर्पित करें?' हिरण्यगर्भ का कोई स्वरूप तो था नही, अत. उसे 'कौन' के साथ जोडना अधिक संगत था। ऋ०

१०, १६८, ४ मे 'वात' के सम्बन्ध मे भी यही बात है—'घोषा इदस्य शृण्विरे न रूपं तस्मै वाताय हविषा विधेम' (जिस बात का केवल घोष सुनाई पडता है रूप नही दिखलायी पडता उस बात के लिये हवि के द्वारा विधान करें)। इसी प्रकार सृष्टि के नियन्ता की केवल अनुभूति होती है, दर्शन नही, अत किस देवता के किये हवि प्रदान करें—यह प्रश्न स्वाभाविक है। अवान्तरकाल में इसी 'क' को प्रजापति मान लिया गया। पाणिनि ने अष्टा० ४, २, २५ (कस्येत्) में इस 'क' की निष्पत्ति का अलग से ही विधान बनाया। किन्तु इस सूक्त में मूल अर्थ हमे 'कौन' ही ग्रहण करना चाहिये। इस शब्द पर विस्तृत विवेचन के लिये द्रष्टव्य मैक्स म्यूलर—सै० बु० ई०, भाग ३२, पृ० ११-१३।

य आ॑त्म॒दा ब॑ल॒दा यस्य॒ विश्वं॑ उ॒पास॑ते प्र॒शिषं॒ यस्यं॑ दे॒वाः।
यस्यं॑ छा॒याऽमृतं॒ यस्यं॑ मृ॒त्युः कस्मै॑ दे॒वाय॑ ह॒विषा॑ विधेम॥ २॥

पदपाठ

यः। आ॒त्म॒ऽदाः। ब॒ल॒ऽदाः। यस्य॑। विश्वे॑। उ॒प॒ऽआस॑ते। प्र॒ऽशिष॑म्। यस्य॑। दे॒वाः। यस्य॑। छा॒या। अ॒मृत॑म्। यस्य॑। मृ॒त्युः। कस्मै॑। दे॒वाय॑। ह॒विषा॑। वि॒धे॒म॥ २॥

सायण—य. प्रजापति· आत्मदा. आत्मनां दाता। आत्मानो हि सर्वे तस्मात् परमात्मन उत्पद्यन्ते। यथाग्ने सकाशात् विस्फुलिङ्गा जायन्ते तद्वत्। यद्वा आत्मनां शोधयिता वा। यस्य च प्रशिष प्रकृष्ट शासनमाज्ञां विश्वे सर्वे प्राणिनः उपासते प्रार्थयन्ते सेवन्ते वा। 'शासु अनुशिष्टौ'। 'शास इत' (पा० सू० ६,४,३४) इत्युपधाया इत्वम्। 'शासिवसिघसीनां च' इति षत्वम्। कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वम्। आसेरनुदात्तेत्वाल्लसार्वधातुकानुदात्तत्वे धातुस्वर। 'तिङि चोदात्तवति' इति गतिरनुदात्ता। तथा देवा. अपि यस्य प्रशासनमुपासते। अपि च अमृतम् अमृतत्वम्। भावप्रधानो निर्देशः। यद्वा अमृतम्। मरण नास्त्यस्मिन्नित्यमृतम् सुधा। बहुव्रीहौ नञो जरमरमित्रमृता.' इत्युत्तरपदाद्युदात्तत्वम्। तदपि यस्य प्रजापते. छाया छायेव वर्ति भवति। मृत्युः यमश्च प्राणापहारी छायेव भवति। तस्मै कस्मै देवाय इत्यादि समानं पूर्वेण हविषा पुरोडाशात्मनेति तु विशेष.॥

अनुवाद

जो आत्मा (प्राण) को देने वाला है, जो शक्ति प्रदाता है, जिसके आदेश की समस्त देवता उपासना करते है (पालन करते है), जिसको

छाया अमृत है, जिसकी (छाया) मृत्यु है—ऐसे किस देवता के लिये हवि द्वारा परिचरण करे ?

टिप्पणी

सा० और महीधर ने 'विश्वे' का अर्थ 'मनुष्य' किया है, किन्तु इसकी अन्विति 'देवा' के साथ करना उचित होगा।

छाया—यहाँ इसका अर्थ—जिसके आदेश मात्र से 'अमृतत्व' और 'मृत्यु' छाया की भाँति प्राणियो का अनुसरण करते है, किया जा सकता है।

यः प्राणतो निमिषतो महित्वैक इद्राजा जगतो बभूव।
य ईशे अस्य द्विपदश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ३ ॥

पदपाठ

यः। प्राणतः। निऽमिषतः। महिऽत्वा। एकः। इत्। राजा। जगतः। बभूव। यः। ईशे। अस्य। द्विऽपदः। चतुःऽपदः। कस्मै। देवाय। हविषा। विधेम ॥ ३ ॥

सायण—यः हिरण्यगर्भ प्राणतः प्रश्वसतः। 'अन प्राणने'। आदादिकः। 'शतुरनुमः' इति विभक्तेरुदात्तत्वम् ॥ निमिषत अक्षिपक्ष्मचलन कुर्वतः ॥ अत्रापि पूर्ववद्विभक्तिरुदात्ता ॥ जगत जङ्गमस्य प्राणिजातस्य महित्वा महत्त्वेन ॥ 'सुपां सुलुक्' इति तृतीयाया आकार. ॥ माहात्म्येन एक इत् अद्वितीय एव सन् राजा बभूव ईश्वरो भवति ॥ भवतेर्णलि 'लिति' (पा० सू० ६,१,१९६) इति प्रत्ययात्पूर्वस्योदात्तत्वम् ॥ अस्य परिदृश्यमानस्य द्विपदः पादद्वययुक्तस्य मनुष्यादेः चतुष्पद. गवाश्वादेश्च यः प्रजापति. ईशे ईष्टे ॥ 'ईश ऐश्वर्ये'। आदादिकोऽनुदात्तेत्। लोपस्त आत्मनेपदेषु' इति तलोपः अनुदात्तेत्त्वाल्लसार्वधातुकानुदात्तत्वे धातुस्वर। अस्य। 'ऊडिदम्' इतीदमो विभक्तिरुदात्ता। द्वौ पादौ यस्य स द्विपात्। 'सख्यासु पूर्वस्य' (पा० सू० ५,४,१४०) इति पादस्यान्त्यलोपः समासान्तः। भसंज्ञायां 'पादः पत्' (पा० सू० ६,४,१३०) इति पद्भाव। 'द्वित्रिभ्यां पाद्दन्' (पा० सू० ६,२,१९७) इत्येकदेशविकृतस्यानन्यत्वादुत्तरपदान्तोदात्तत्वम्। स्वरवर्जमेषैव चतुष्पद इत्यत्रापि प्रक्रिया। 'बहुव्रीहौ प्रकृत्या' इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः। पूर्वपदस्य 'त्रः संख्यायाः' (फि० सू० २,५) इत्याद्युदात्तत्वम्। 'इदुदुपधस्य चाप्रत्ययस्य' इति विसर्जनीयस्य षत्वम् ॥ ईदृशो यः प्रजापतिस्तस्मै कस्मै इत्यादि सुबोध हविषा हृदयाद्यात्मनेत्ययमत्र विशेषः ॥

अनुवाद

जो अकेले ही अपनी महिमा के द्वारा प्रश्वास लेने वाले और पलको का सचालन करने वाले जगत् का स्वामी हुआ (है) एवं जो इस दो पैर वाले तथा चार पैर वाले (प्राणियो) का ईश्वर है—ऐसे किस देवता के लिए हवि द्वारा परिचरण करें ?

टिप्पणी

निमिषत: —इसका अर्थ 'पलको को उठाने-गिराने वाले' और 'सोने वाले'—दोनो हो सकता है, किन्तु प्रथम को ही स्वीकारना उचित होगा, जैसा कि सा० (ऋ० १०, १२१, ३, तै० स० ४, १, ८, ४) और महीधर ने (वा० स० २३, ३) किया है ।

यस्ये॒मे हि॒मव॑न्तो महि॒त्वा यस्य॑ समु॒द्रं र॒सया॑ स॒हाहुः ।
यस्ये॒माः प्र॒दिशो॒ यस्य॑ बा॒हू कस्मै॑ दे॒वाय॑ ह॒विषा॑ विधेम ॥ ४ ॥

पदपाठ

यस्य॑ । इ॒मे । हि॒मऽव॑न्तः । म॒हि॒ऽत्वा । यस्य॑ । स॒मु॒द्रम् । र॒सया॑ । स॒ह । आ॒हु: । यस्य॑ । इ॒माः । प्र॒ऽदिश॑: । यस्य॑ । बा॒हू इति॑ । कस्मै॑ । दे॒वाय॑ । ह॒विषा॑ । वि॒धे॒म ॥ ४ ॥

सायण—हिमा अस्मिन् सन्तीति हिमवान् । तेन बहुवचनान्तेन सर्वे पर्वता लक्ष्यन्ते । यथा छत्रिणो गच्छन्तीति । हिमवन्तः हिमवदुपलक्षिताः इमे दृश्यमाना. सर्वे पर्वताः यस्य प्रजापतेः महित्वा महत्त्वं माहात्म्यमैश्वर्यमिति आहुः । तेन सृष्टत्वात्तद्रूपेणावस्थानाद्वा । तथा रसया । रसो जलम् । तद्वती रसा नदी ॥ अर्शआदित्वादच् ॥ जातावेकवचनम् । रसाभिर्नदीभि· सह समुद्रम् । पूर्ववदेकवचनम् । सर्वान् समुद्रान् यस्य महाभाग्यमिति आहुः कथयन्ति सृष्टयभिज्ञा. । यस्य च इमा प्रदिशः प्राच्यारम्भा आग्नेय्याद्याः कोणदिश ईशितव्याः । तथा बाहू । वचनव्यत्ययः । बाहवो भुजा । भुजवत्-प्राधान्ययुक्ताः प्रदिशश्च यस्य स्वभूता. । तस्मै कस्मै इत्यादि समानं पूर्वेण ॥

अनुवाद

जिसकी महिमा के कारण ये (पर्वत) हिमवान् है और जिसकी (महिमा से) नदियो के साथ समुद्र है ऐसा लोग कहते है; जिसकी ये

सभी दिशाये है और सभी (प्रदेश) जिसके बाहु है—ऐसे किस देवता के लिये हम हवि से परिचरण करे ?

टिप्पणी

√महित्वा—सा० ने इसे 'महत्त्वम्' (द्वि० ए० व०) अर्थ मे ग्रहण किया है जिसका अनुसरण 'मूइर' ने किया है (ओ० सं० टेक्ट्स, भा० २, पृ० ३७३)। किन्तु इसे तृतीया ए० व० मे ग्रहण करना अधिक उचित होगा, क्योकि उस परमात्मा की महिमा पर्वत के कारण नही, अपितु उसकी महिमा के कारण ये सब हैं—इस भाव को ग्रहण करना ही सगत है। 'समुद्रम्' के साथ भी इसी 'महित्वा' की अन्विति करनी चाहिये। इसकी तुलना ऋ० १, १०९, ६ से कर सकते है जहाँ 'अग्नि की महिमा के द्वारा पृथिवी, द्यु लोकादि नदियो, पर्वतो के द्वारा वर्धित होते हैं'—ऐसा कहा गया है।

रसया—आउफ्रेश्ट ने इसे 'मिल्की वे' के नाम के रूप मे ग्रहण किया है (द्र० ZDMG, xiii, p. 498)।

येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृळ्हा येन स्वः स्तभितं येन नाकः।
यो अन्तरिक्षे रजसो विमानः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ५ ॥

पदपाठ

येन। द्यौः। उग्रा। पृथिवी। च। दृळ्हा। येन। स्व१रिति स्वः। स्तभितम्। येन। नाकः। यः। अन्तरिक्षे। रजसः। विऽमानः। कस्मै। देवाय। हविषा। विधेम ॥ ५ ॥

सायण—येन प्रजापतिना द्यौः अन्तरिक्षम् उग्रा उद्गूर्णं विशेषागहनरूपं वा। पृथिवी भूमिः च दृळ्हा येन स्थिरीकृता। स्वः स्वर्गश्च येन स्तभित स्तब्धं कृतम्। यथाधो न पतति तथोपरि अवस्थापितमित्यर्थः ॥ 'प्रसित-स्कभितस्तभित०' इति निपात्यते ॥ तथा नाकः आदित्यश्च येन अन्तरिक्षे स्तभित.। य. च अन्तरिक्षे रजस. उदकस्य विमानः निर्माता। तस्मै कस्मै इत्यादि गतम् ॥

अनुवाद

जिसके द्वारा द्युलोक उग्र (अत्युच्च) किया गया और जिसके द्वारा पृथिवी दृढ बनायी गई, जिसने सूर्य को स्तम्भित किया और स्वर्ग को (स्थिर किया), जो अन्तरिक्ष मे लोक का मापक है—ऐसे किस देवता के लिए हवि द्वारा परिचरण करे।

टिप्पणी

उग्रा—यहाँ 'उग्र' कहने से द्युलोक की भीषणता का आभास हो सकता है, अत इसे द्युलोक की अत्यन्त उच्चता के अर्थ मे ग्रहण करना ही समीचीन होगा। अथर्ववेद ४, २, ४ मे 'येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृळ्हे' पाठ है जिसमें 'उग्र' और 'दृढ़' विशेषण द्यौ और पृथिवी दोनो के हो सकते है। यहाँ 'भीषणता' और भव्यता दोनो को साथ-साथ मानने से द्यौ का रूप स्पष्ट होता है।

रज॑सो वि॒मान॑. —'रजस् का मापक या निर्माता' से यहाँ सम्भवत. 'अन्तरिक्ष मे विस्तृत स्थान या लोक के मापक'—अर्थ का द्योतक है। इस पर विस्तृत विवेचन के लिए देखिये—मूइर, ओ० सं० टे०, भा० ४, पृ० ७१।

प्रस्तुत मन्त्र की तुलना हम ऋ० २, १२, २ से कर सकते हैं, जिसमे इन्द्र के लिये यही सब बातें कही गई है।

यं क्रन्द॑सी अव॑सा तस्तभा॒ने अ॒भ्यैक्षे॑तां॒ मन॑सा॒ रेज॑माने।

यत्राधि॒ सूर॒ उदि॑तो वि॒भाति॒ कस्मै॑ दे॒वाय॑ ह॒विषा॑ विधेम ॥ ६ ॥

पदपाठ

यम्। क्रन्द॑सी॒ इति॑। अव॑सा। त॒स्त॒भा॒ने इति॑। अ॒भि। ऐक्षे॑ताम्। मन॑सा। रेज॑माने॒ इति॑। यत्र॑। अधि॑। सूर॑ः। उत्ऽइ॑तः। वि॒ऽभाति॑। कस्मै॑। दे॒वाय॑। ह॒विषा॑। वि॒धे॒म ॥ ६ ॥

सायण—क्रन्दितवान् रोदितवाननयोः प्रजापतिरिति क्रन्दसी द्यावापृथिव्यौ। श्रूयते हि—'यदरोदीत्तदनयो रोदस्त्वम्' (तै० ब्रा० २,२,९,४) इति। ते अवसा रक्षणेन हेतुना लोकस्य रक्षणार्थम् तस्तभाने प्रजापतिना सृष्टे लब्धस्थैर्यै सत्यौ यं प्रजापतिम् मनसा बुद्ध्या अभ्यैक्षेताम् आवयोर्महत्त्वमनेन इत्यभ्यपश्येताम्॥ 'ईक्ष दर्शने'। लङि अडादित्वादाद्युदात्त॥ कीदृश्यौ द्यावापृथिव्यौ। रेजमाने राजमाने दीप्यमाने। आकारस्य व्यत्ययेनैत्वम्। अदुपदेशाल्लसार्वधातुकानुदात्तत्वे धातुस्वर। यद्वा। लिटः कानच्। 'फणां च सप्तानाम्' (पा० सू० ६,४,१२५) इत्येत्वाभ्यासलोपौ। 'छन्दस्युभयथा' इति सार्वधातुकत्वाच्छप्। अत एव 'अभ्यस्तानामादिः' इत्याद्युदात्तत्वम्। यत्राधि यस्मिन्नाधारभूते प्रजापतौ सूरः सूर्यः उदित. उदयं प्राप्तः सन् विभाति प्रकाशते॥ उत्पूर्वादेते कर्मणि निष्ठा। 'गतिरनन्तर.' इति गते. प्रकृतिस्वरत्वम॥ तस्मै कस्मै इत्यादि सुज्ञानम्॥

अनुवाद

त्रस्त और मन से भयभीत हुये स्तम्भित आकाश और पृथिवी जिसकी ओर देखते है, सूर्य उदित होकर जिसके ऊपर प्रकाशित होता है—ऐसे किस देवता के लिये हवि द्वारा परिचरण करें।

टिप्पणी

'क्रन्दसी'—यहाँ यह रोदसी (द्यौ और पृथिवी) के लिये प्रयुक्त है। क्रन्दन करते हुये ये दोनों भयभीत या त्रस्त है।

ऐक्षेताम्—'ईक्ष्' (दर्शन करना) धा० का लङ्, प्र० पु०, द्विव० का रूप है। अट् के कारण आद्युदात्त स्वर है।

रेजमाने—सा० ने इसे 'राजृ दीप्तौ' का 'कानच्' प्रत्ययान्त रूप माना है। किन्तु इसे 'रेजृ कम्पने' धा० से शप् आदि करके 'कानच्' प्रत्यय सहित निष्पन्न करना अधिक सगत होगा। सा० ने भी ऋ० १,३७,८ मे 'रेजते' को 'रेज्' धा० से ही निष्पन्न किया है और ऋ० १,१७१,४ मे 'रेजमान.' की व्याख्या 'वेपमान.' (कम्पन करते हुये) की है।

आपो ह यद्बृहतीर्विश्वमायन् गर्भं दधाना जनयन्तीरग्निम्।
ततो देवानां समवर्ततासुरेकः कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ ७॥

पदपाठ

आपः। ह। यत्। बृहतीः। विश्वम्। आयन्। गर्भम्। दधानाः। जनयन्तीः। अग्निम्। ततः। देवानाम्। सम्। अवर्तत। असुः। एकः। कस्मै। देवाय। हविषा विधेम॥ ७॥

सायण—बृहतीः बृहत्यो महत्य ॥ जसि 'वा छन्दसि' इति पूर्वसवर्णदीर्घः। 'बृहन्महतोरुपसंख्यानम्' इति ङीप उदात्तत्वम्॥ अग्निम्। उपलक्षणमेतत्। अग्न्युपलक्षितं सर्वं वियदादि भूतजातं जनयन्ती जनयन्त्यः तदर्थं गर्भं हिरण्मयाण्डस्य गर्भभूतं प्रजापतिं दधाना: धारयन्त्यः आपो ह आप एव विश्वमायन् सर्वं जगत् व्याप्नुवन् यत् यस्मात् तत तस्माद्धेतोः देवानां देवादीनां सर्वेषां प्राणिनां असु प्राणभूतः एकः प्रजापति. समवर्तत समजायत। यद्वा। यत् यं गर्भं दधाना आपो विश्वात्मनावस्थिता. ततो गर्भभूतात्प्रजापतेर्देवादीनां प्राणात्मको वायुरजायत। अथवा। यत्। लिङ्गवचनयोर्व्यत्ययः। उक्तलक्षणा या आपो विश्वमावृत्य स्थिताः ततस्ताभ्योऽद्भ्यः सकाशादेकोऽ-

द्वितीयोऽसुः प्राणात्मक प्रजापति. समवर्तत निश्चक्राम। तस्मै कस्मै इत्यादि गतम् ॥

अनुवाद

जब महती आपः देवियाँ हिरण्मय गर्भ को धारण करती हुयी और अग्निरूपी (उस गर्भ) को उत्पन्न करती हुयी चारो ओर प्रवाहित हुयी तो उनसे समस्त देवताओ का प्राणरूप वह अकेला (ब्रह्म) प्रवर्तित हुआ (उत्पन्न हुआ)। ऐसे किस देवता के लिये हम हवियों के द्वारा परिचरण करे।

टिप्पणी

आयन्—'इ' (जाना) धा० का लङ् का प्र० पु० ए० व० का रूप है। यहाँ गमन करने से 'चारो ओर प्रवाहित होने या व्याप्त होने' का तात्पर्य है।

आप यहाँ सृष्टि के प्रारम्भ काल के उस 'जल' से सम्बन्धित है जिसे नासदीय सूक्त (ऋ० १०,१२९,३) मे वर्णित किया गया है (अप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्)। इन्ही ने गर्भ धारण किया (ऋ० १० ,८२, ५-६) और 'स्वर्णिम प्रकाश' (सूर्य) को उत्पन्न किया (ऋ० १०, ७२, ७)।

एकः—ग्रासमान (व्योर्टर बुख—पृ० २९६) के अनुसार यहाँ इसके प्रयोग की आवश्यकता नही है क्योकि यह मैत्रायणी शाखा मे अनुपलब्ध है। छन्द की दृष्टि से भी ग्रास० का कथन ठीक है।

यश्चिदापो महिना पर्यपश्यद्दक्षं दधाना जनयन्तीर्यज्ञम्।

यो देवेष्वधि देव एक आसीत्कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ८ ॥

पदपाठ

यः। चित्। आपः। महिना। परिऽअपश्यत्। दक्षम्। दधानाः। जनयन्तीः। यज्ञम्। यः। देवेषु। अधि। देवः। एकः। आसीत्। कस्मै। देवाय। हविषा। विधेम ॥ ८ ॥

सायण—यज्ञं यज्ञोपलक्षित विकारजात जनयन्तीः उत्पादयन्तीः तदर्थं दक्षं प्रपञ्चात्मना वर्धिष्णुं प्रजापतिमात्मनि दधाना धारयित्रीः ॥ दधातेर्हेतौ शानच्। 'अभ्यस्तानामादि' इत्याद्युदात्तत्वम् ॥ ईदृशी. आपः। व्यत्ययेन प्रथमा। अपः प्रलयकालीनाः महिना महिम्ना। छान्दसो मलोपः। स्वमाहात्म्येन यश्चित् यश्च प्रजापतिः पर्यपश्यत् परितो दृष्टवान् य. च देवेष्वधि देवेषु मध्ये

देव. तेषामपीश्वरः सन् एकः अद्वितीयः आसीत् भवति। अस्तेश्छान्दसो लङ्। 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' (पा० सू० ७,३,९६) इतीडागम.॥ तस्मै कस्मै इत्यादि गतम्॥

अनुवाद

जिसने अपनी महानता के द्वारा शक्ति को धारण करती हुयी (और) यज्ञ को उत्पन्न करती हुयी आप देवियो को चारो ओर से देखा, जो देवताओ के ऊपर भी अकेला देवता था, ऐसे किस देवता के लिये हम हवि द्वारा परिचरण करें ?

टिप्पणी

दक्षम्—इस मत्र मे यह पद पूर्व मत्र के 'गर्भम्' के स्थान पर प्रयुक्त प्रतीत होता है जिसका अर्थ 'शक्ति' या 'गर्भ' कर सकते है। साथ ही पूर्व मत्र के **'अग्निम्'** के स्थान पर इस मत्र मे 'यज्ञम्' पद का प्रयोग किया गया है। तै० स० (४,१,८,६) मे दोनो मत्रो मे 'दक्षम्' और 'अग्निम्' पदो का ही प्रयोग किया गया है। अथर्ववेद मे यह मत्र नही मिलता।

यो देवेष्वधि देव एक आसीत्—ऋ०, वा० सं० और तै० स० मे यही पाठ है किन्तु अथर्ववेद मे इसके स्थान पर 'यासु देवीष्वधि देव आसीत्' (जिन देवियो के ऊपर वह देव था) पाठ मिलता है।

मा नो हिंसीज्जनिता यः पृथिव्या यो वा दिवं सत्यधर्मा जजान।
यश्चापश्चन्द्रा बृहतीर्जजान कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ ९॥

पदपाठ

मा। नः। हिंसीत्। जनिता। यः। पृथिव्याः। यः। वा। दिवम्। सत्यऽधर्मा। जजान। यः। च। अपः। चन्द्राः। बृहतीः। जजान। कस्मै। देवाय। हविषा। विधेम॥ ९॥

सायण—स प्रजापतिः न. अस्मान् मा हिंसीत् मा बाधताम्। य पृथिव्याः भूमे जनिता जनयिता स्रष्टा॥ 'जनिता मन्त्रे' इति णिलोपो निपात्यते। 'उदात्तयणो हल्पूर्वात्' इति पृथिवी शब्दाद्विभक्तेरुदात्तत्वम्॥ यो वा यश्च सत्यधर्मा सत्यमवितथं धर्म जगतो धारणं यस्य स तादृशः प्रजापतिः दिवम् अन्तरिक्षोपलक्षितान् सर्वान् लोकान् जजान जनयामास॥ 'जनी प्रादुर्भावे'। णिचि वृद्धौ 'जनीजृष्क्नसुरञ्जः०' इति मित्वात् 'मितां ह्रस्वः' इति

:स्वत्वम् । ततो लिटि '०अमन्त्रे०' (पा० सू० ३,१,३५) इति निषेधादाम्प्रत्यया-भावे तिपो णलि वृद्धौ 'लिति' इति प्रत्ययात्पूर्वस्योदात्तत्वम् ।। यश्च बृहतीः महती' चन्द्रा' आह्लादिनी. अपः उदकानि जजान जनयामास ।। 'ऊडिदम्०' इत्यादिना अप्शब्दादुत्तरस्य शस उदात्तत्वम् ।। तस्मै कस्मै इत्यादि गतम् ।

अनुवाद

जो पृथिवी का जनक है, और जिस सत्यधर्म वाले ने द्युलोक को उत्पन्न किया वह हमे हिंसित न करे। जिसने बृहत् एव प्रकाशित आप देवियो को उत्पन्न किया (वह हमे हिंसित न करे)। ऐसे किस देवता के लिये हम हवि द्वारा परिचरण करे।

टिप्पणी

हिंसीत्—'अट्' रहित लुङ्, प्र० पु०, ए० व० का रूप है।

प्रजा'पते न त्वदे॒तान्य॒न्यो विश्वा' जा॒तानि॒ परि॒ ता बभूव ।
यत्कामास्ते जुहु॒मस्तन्नो' अस्तु व॒यं स्या॑म॒ पत॑यो र॒यी॒णाम् ।। १० ।।

पदपाठ संहितापाठ के समान

सायण—हे प्रजापते त्वत् त्वत्तोऽन्यः कश्चित् एतानि इदानीं वर्तमानानि विश्वा विश्वानि सर्वाणि । 'शेश्छन्दसि बहुलम्' इति शेर्लोपः ।। जातानि प्रथम-विकारभाञ्जिता तानि सर्वाणि भूतजातानि न परि बभूव न परिगृह्णाति । न व्याप्नोति । त्वमेवतानि परिगृह्य स्रष्टुं शक्नोषि इति भावः । परिपूर्वो भवतिः परिग्रहार्थं । वयं च यत्कामाः यत्फल कामयमानाः ते तुभ्यं जुहुमः हवींषि प्रयच्छाम तत् फलं नः अस्माकम् अस्तुभवतु । तथा वयं च रयीणां धनानां पतयः ईश्वरा स्याम भवेम ।। 'नामन्यतरस्याम्' इति नाम उदात्तत्वम् ।।

अनुवाद

हे प्रजापति, तुम्हारे अतिरिक्त इस समस्त सृष्टि पर शासन करने -वाला दूसरा कोई नही है। जिन कामनाओं से हम तुम्हे आहुति प्रदान करते है हमारी वे कामनाये पूर्ण हो और हम सम्पत्तियो के स्वामी बने।

टिप्पणी

इस मन्त्र का पदपाठ भी संहिता पाठ के रूप में ही प्राप्त है, जिससे स्पष्ट है कि इस सूक्त के अन्तिम मन्त्र के रूप मे यह बहुत बाद के काल मे जोडा

गया है। उसके पूर्व सभी मन्त्रो मे 'कस्मै' से एक प्रश्न उठाया गया था, उस प्रश्न के समाधान मे ही सभवत. 'प्रजापति' को यहाँ लाकर उपस्थित किया गया। प्रश्न के समाधान के रूप मे यह उचित हो सकता है किन्तु काव्य की दृष्टि से यह मन्त्र यहाँ बिल्कुल असंगत प्रतीत होता है।

वागाम्भृणी १०, १२५

देवता परमात्मा; ऋषि अम्भृणऋषिपुत्री वाक्; छन्द-त्रिष्टुभ्, जगती (२)

अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः।
अहं मित्रावरुणोभा बिभर्म्यहमिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा॥ १॥

पदपाठ

अहम्। रुद्रेभिः। वसुऽभिः। चरामि। अहम्। आदित्यैः। उत। विश्वऽदेवैः। अहम्। मित्रावरुणा। उभा। बिभर्मि। अहम्। इन्द्राग्नी इति। अहम्। अश्विना। उभा॥ २॥

सायण—अहं सूक्तस्य द्रष्ट्री वागाम्भृणी यद्ब्रह्म जगत्कारणं तद्रूपा भवन्ती रुद्रेभि. रुद्रैरेकादशभिः। इत्थभावे तृतीया। तदात्मना चरामि। एवं वसुभि इत्यादौ तत्तदात्मना चरामिति योज्यम्। तथा मित्रावरुणा मित्रं च वरुणं च॥ 'सुपां सुलुक्°' इति द्वितीयाया आकार.'॥ उभा उभौ अहमेव ब्रह्मीभूता बिभर्मि धारयामि। इन्द्राग्नी अपि अहम् एव धारयामि। उभा उभौ अश्विना अश्विनावपि अहम् एव धारयामि। मयि हि सर्वं जगच्छुक्तौ रजनामिवाध्यस्तं सद्दृश्यते। माया च जगदाकारेण विवर्तते। तादृश्या मायाया आधारत्वेनासङ्गब्रह्मण उक्तस्य सर्वस्योत्पत्ति.॥

अनुवाद

मै रुद्र और वसुओ के साथ संचरण करती हूँ एवं आदित्यों और विश्वदेवों के साथ चलती हूँ। मै मित्र और वरुण दोनो का भरण करती हूँ एवं इन्द्र, अग्नि तथा दोनों अश्विनो को मै धारण करती हूँ।

टिप्पणी

इस सूक्त में वाक् रूपी देवी स्वय को समस्त देवताओं का पोषक और जगत् की अधिष्ठात्री रूप मे प्रतिष्ठित करती हुई दृष्टिगोचर होती है।

अहं सोममाहनसं बिभर्म्यहं त्वष्टारमुत पूषणं भगम् ।
अहं दधामि द्रविणं हविष्मते सुप्राव्ये यजमानाय सुन्वते ॥ २ ॥

पदपाठ

अहम् । सोमम् । आहनसम् । बिभर्मि । अहम् । त्वष्टारम् । उत । पूषणम् । भगम् । अहम् । दधामि । द्रविणम् । हविष्मते । सुप्रऽअव्ये । यजमानाय । सुन्वते ॥ २ ॥

सायण—आहनसम् आहन्तव्यमभिषोतव्य सोमं यद्वा शत्रूणामाहन्तार दिवि वर्तमान देवतात्मानं सोमम् अहम् एव बिभर्मि । तथा त्वष्टारम् उत अपि च पूषणं भगं च अहम् एव बिभर्मि । तथा हविष्मते हविर्भिर्युक्ताय सुप्राव्ये शोभनं हविर्देवानां प्रापयित्रे तर्पयित्रे ॥ अवतेस्तर्पणार्थात् 'अवितृस्तृतन्त्रिभ्य ई.' (उ० सू० ३,१५८) इतीकारप्रत्ययः । चतुर्थ्येकवचने यणि 'उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोऽनुदात्तस्य' इति सुपः स्वरितत्वम् ॥ सुन्वते सोमाभिषवं कुर्वते ॥ 'शतुरनुम ०' इति चतुर्थ्या उदात्तत्वम् ॥ ईदृशाय यजमानाय द्रविण धनं यागफलरूपम् अहम् एव दधामि धारयामि । एतच्च ब्रह्मण फलदातृत्वं 'फलमत उपपत्तेः' (वे० सू० ३,२,३८) इत्यधिकरणे भगवता भाष्यकारेण समर्थितम् ॥

अनुवाद

मै प्रबल (तीव्र) सोम को धारण करती हूँ और त्वष्टा, पूषण एवं भग का मैं भरण करती हूँ। हवि प्रदान करने वाले, शोभन एवं प्रकर्षरूप से रक्षणीय, सोमाभिषव करने वाले यजमान के लिये मै सम्पत्ति का आधान करती हूँ।

टिप्पणी

आहनसम्—सा० ने इसे 'आङ्' उपसर्ग पूर्वक 'हन्' (मारना, दबाना) धा० से निष्पन्न किया है। सोम का रस उसे पीसकर, निचोडकर निकाला जाता है इसलिये उसे 'आहनस्' कहा गया है।

सुप्राव्ये—इस शब्द की व्याख्या विभिन्न विद्वानो ने अपने-अपने ढंग से की है। सा० ने यहाँ इसे 'तर्पण या तृप्त करने वाले' के अर्थ मे ग्रहण किया है, किन्तु अन्यत्र 'रक्षणीय', 'रक्षिता', 'सबके द्वारा पहुँचने योग्य' आदि अर्थ किये

है (द्रष्टव्य ऋ० भा० १, ३४, ४, ६०, १, २, १३, ९ आदि)। गेल्ड० ने इसका अर्थ 'वह जो दूसरो की सुन्दर बातो को समझता हो' (der gut z-zusprechen versteht) और ग्रिफिथ ने 'उत्साही (zealous) अर्थ किया है। इसे सु + प्र + अव् (रक्षण करना, शक्ति प्रदान करना, तृप्त करना, संतुष्ट करना, कृपा करना आदि) धा० से निष्पन्न कर सकते है और इस प्रकार अनेक अर्थ सभव है। किन्तु अनेक सन्दर्भो के तुलनात्मक अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि इसे 'रक्षक' या 'रक्षणीय' अर्थ मे ग्रहण करना अधिक उपयुक्त है।

स्वरादि की प्रक्रिया के अनुसार इसमे अन्तोदात्त होना चाहिये था, किन्तु 'अवित०' (उ० सू० ३, १५८) के अनुसार 'ई' प्रत्यय (जिससे 'सुप्रावी' रूप बनता) के स्थान पर 'या छन्दसि' (पा० सू० ६, १, १०६) एवं 'अमि पूर्वः' (पा० सू० ६, १, १०७) से यणादेश होने के कारण 'सुप्राव्य' रूप बनने से 'उदात्तस्वरितयोर्यण स्वरितोऽनुदात्तस्य' (पा० सू० ८, २, ४) के कारण यहाँ अनुदात्त का स्वरित हो गया है।

अहं राष्ट्री संगमनी वसूनां चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम् ।
तां मा देवा व्यदधुः पुरुत्रा भूरिस्थात्रां भूर्यावेशयन्तीम् ॥ ३ ॥

पदपाठ

अहम् । राष्ट्री । सम्ऽगमनी । वसूनाम् । चिकितुषी । प्रथमा । यज्ञियानाम् । ताम् । मा । देवाः । वि । अदधुः । पुरुऽत्रा । भूरिऽस्थात्राम् । भूरि । आऽवेशयन्तीम् ॥ ३ ॥

सायण—अहं राष्ट्री । ईश्वरनामैतत् । सर्वस्य जगत ईश्वरी । तथा वसूनां धनानां संगमनी संगमयित्र्युपासकानां प्रापयित्री । चिकितुषी यत्साक्षात्कर्तव्यं परं ब्रह्म तज्ज्ञातवती स्वात्मतया साक्षात्कृतवती । अतएव यज्ञियानां यज्ञार्हाणां प्रथमा मुख्या । या एवं गुणविशिष्टाहं तां मां भूरिस्थात्रां बहुभावेन प्रपञ्चात्मनावतिष्ठमानां भूरि भूरीणि बहूनि भूतजातानि आवेशयन्तीं जीवभावेनात्मानं प्रवेशयन्तीमीदृशीं मां पुरुत्रा बहुषु देशेषु व्यदधुः देवाः विदधति कुर्वन्ति-। उक्त प्रकारेण वैश्वरूप्येणावस्थानात् । यद्यत्कुर्वन्ति तत्सर्वं मामेव कुर्वन्तीत्यर्थः ॥

अनुवाद

मै वसुओं के साथ संगमन करने वाली (सब की) स्वामिनी हूँ एवं ज्ञानवती मै यज्ञ करने वालों मे प्रथम हूँ। अनेक स्थानों में स्थित

और अनेक रूपो मे प्रवेश करती हुयी उस मुझको देवताओ ने अनेक स्थानों मे स्थापित किया है।

टिप्पणी

राष्ट्री—अथर्व० ४,१,२ में 'वाक्' को 'राष्ट्री' कहा गया है। ऋ० ८,१००, १० मे 'वाक्' को, और ऋ० ६,४,५ में अग्नि को 'राष्ट्री' कहा गया है। वाक् देवताओ की 'राष्ट्री' है ('राष्ट्री देवाना निषसाद मन्द्रा')। इस शब्द की निष्पत्ति 'राजृ दीप्तौ' धा० से 'शप्' का लोप (बहुल छन्दसि—पा० सू० ७,३,९७) और 'इट्' का आगम होकर 'व्रश्चभ्रस्जसृजमृजयजराजभ्राजश्छशाषः' (पा० सू० ८,२,३६) से षत्व होकर 'राष्ट्री' रूप मे होगी।

वसूनाम्—इसका अर्थ प्राय सभी व्याख्याकारो ने 'धन' (धनानाम्) किया है, किन्तु इसे यदि 'वसुओ के' अर्थ मे ग्रहण किया जाय तो अधिक उपयुक्त होगा क्योकि इस सूक्त के प्रथम मत्र मे वाक् अपने को वसुओ के साथ सचरण करने वाली कहती है (अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चरामि)।

(वि) अदधु —'वि' उपसर्ग पूर्वक 'धा' (डुधाञ् धारणपोषणयो) धा० का लुङ्, प्र० पु० ब० व० का रूप है।

भूर्यावेशयन्तीम्—वाक् को चराचर जगत् में व्याप्त माना गया है। तै० स० ३,५,१,१ मे इसे 'विश्वा रूपाणि वसून्यावेशयन्ती' कहा गया है। ऋ० १,१७६,२ मे इसे इन्द्र मे प्रविष्ट कहा गया है 'तस्मिन्ना वेशया गिर.' और अथर्व० ४,३०,२ मे भी इसी प्रकार का कथन है। ऋ० १०,१७१,३ मे कहा गया है कि वह वाक् ऋषियो मे प्रविष्ट है और उसे विभिन्न स्थानो मे स्थापित किया गया है (तामाभृत्या व्यदधु पुरुत्रा) इस प्रकार समस्त सन्दर्भो से वाग्देवी का व्यापकत्व सिद्ध होता है।

मया सो अन्नमत्ति यो विपश्यति यः प्राणिति य ईं शृणोत्युक्तम्।
अमन्तवो मां त उप क्षियन्ति श्रुधि श्रुत श्रद्धिवं ते वदामि॥ ४॥

पदपाठ

मया। सः। अन्नम्। अत्ति। यः। विऽपश्यति। यः। प्राणिति। यः। ईम्। शृणोति। उक्तम्। अमन्तवः। माम्। ते। उप। क्षियन्ति। श्रुधि। श्रुत। श्रद्धिऽवम्। ते। वदामि॥ ४॥

सायण—य अन्नमत्ति सः भोक्तृशक्तिरूपया मया एवान्नमत्ति। यः च विपश्यति। आलोकयतीत्यर्थः। य. च प्राणिति श्वासोच्छ्वासरूपं व्यापारं करोति सोऽपि मयैव। यश्च उक्तं शृणोति॥ 'श्रु श्रवणे'। 'श्रुवः शृ च' इति श्नुप्रत्ययः। धातोः शृभाव.॥ य ईदृशीमन्तर्यामिरूपेण स्थितां मां न जानन्ति ते अमन्तवः अमन्यमाना अजानन्तः उप क्षियन्ति। उपक्षीणा संसारेण हीना भवन्ति॥ मनेरौणादिकस्तुप्रत्यय। नञ्समासे व्यत्ययेनान्तोदात्तत्वम्। मामन्तवो मद्विषयज्ञानरहिता इत्यर्थः॥ हे श्रुत विश्रुत सखे श्रुधि। मया वक्ष्यमाणं शृणु॥ छान्दसो विकरणस्य लुक्। श्रुशृणुपृकृवृभ्यः°' इति हेर्धिभाव.॥ किं तच्छ्रोतव्यम्। श्रद्धिवम्। श्रद्धि श्रद्धा। तया युक्तम्। श्रद्धायत्नेन लभ्यमित्यर्थ.। श्रदन्तोरुपसर्गवद्वृत्तिरिष्यते (पा० सू० १,४,५७,२) इति श्रच्छब्दस्योपसर्गवद्वर्तमानत्वात् 'उपसर्गे घोः किः' इति किप्रत्ययः। मत्वर्थीयो वः। ईदृश ब्रह्मात्मकं वस्तु ते तुभ्यं वदामि उपदिशामि॥

अनुवाद

मेरे द्वारा वह अन्न खाता है, जो देखता है, जो श्वास लेता है और जो उच्चरित स्वर को सुनता है (वह मेरे द्वारा ही सब करता है)। इस बात को नही जानते हुये भी मेरे समीप वे निवास करते है। हे विश्रुत! सुनो, मै तुमसे श्रद्धायोग्य बात को कह रही हूँ।

टिप्पणी

अमन्तवः—यहाँ इसके दो अर्थ सम्भव है—(१) वाक् की महत्ता या इयत्ता या शक्तिमत्ता का जिनको ज्ञान नही है, और (२) जो वाग्देवी की शक्ति पर श्रद्धा नही करते। इसकी तुलना ऋ० २, १२, १० के 'अमन्यमानान्' (इन्द्र को न मानने वाले) से कर सकते है। यह रूप ऋ० मे केवल यही पर आया है। ऋ० १०, २२, ८ मे एक बार 'अमन्तु.' रूप आया है जहाँ इसके साथ 'अकर्मा', 'दस्यु', 'अन्यव्रत', 'अमानुष' आदि शब्द भी आये हैं, जो इसके 'न मानने वाले' (श्रद्धारहित) अर्थ का द्योतन करते है।

उप क्षियन्ति—इसके भी दो अर्थ सम्भव है—(१) 'समीप में निवास करते हैं' और (२) 'सांसारिकता से क्षीण या हीन होते हैं' (जैसा सा० ने किया है) किन्तु वाग्देवी की सर्वव्यापकता के कारण प्रथम अर्थ अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है।

श्रुधि—'श्रु' (सुनना) धा० का लोट्, म० पु० ए० व० का रूप है।

श्रुत—इसका अर्थ है 'जिसमे ज्ञानादि की बातें सुनी है' अर्थात् 'ज्ञानी', 'विश्रुत' आदि। रोठ और ग्रासमान ने इसे लोट् का म० पु०, ब० व० का रूप माना है जिसका अनुसरण लुडविग् ने अपने भाष्य मे किया है। साथ ही वे पदपाठ के विरुद्ध 'श्रुतश्रद्धिव' को एक शब्द मानते है, किन्तु ये दोनो बातें असंगत है। यहाँ स्वर की दृष्टि से यह सम्बोधन का रूप है, जिसे 'आमन्त्रितस्य च' (पा० सू० ८, ', १९) से स्पष्ट किया जा सकता है।

श्रद्धिवम्—ऋ० मे यह शब्द केवल यही पर आया है। यह 'श्रत्' धा० से 'वत्' प्रत्यय के साथ निष्पन्न होगा। 'वत्' का ही अनियमित रूप से 'वम्' हो गया है।

अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवेभिरुत मानुषेभिः।
यं कामये तंतमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम् ॥ ५ ॥

पदपाठ

अहम्। एव। स्वयम्। इदम्। वदामि। जुष्टम्। देवेभिः। उत। मानुषेभिः। यम्। कामये। तम्ऽतम्। उग्रम्। कृणोमि। तम्। ब्रह्माणम्। तम्। ऋषिम्। तम्। सुऽमेधाम् ॥ ५ ॥

सायण—अहम् स्वयमेव इदं वस्तु ब्रह्मात्मकं वदामि उपदिशामि। देवेभिः देवैरिन्द्रादिभिरपि जुष्टं सेवितम्। उत अपि च मानुषेभिः मनुष्यैरपि जुष्टम्। ईदृग्वस्त्वात्मिकाहं यं कामये यं पुरुषं रक्षितुमहं वाञ्छामि तंतं पुरुषम् उग्रं कृणोमि। सर्वेभ्योऽधिकं करोमि। तम् एव ब्रह्माणं स्रष्टारं करोमि। तम् एव ऋषिम् अतीन्द्रियार्थदर्शिनं करोमि। तम् एव सुमेधां शोभनप्रज्ञं च करोमि ॥

अनुवाद

देवताओ और मनुष्यो के द्वारा प्रसन्न किये जाने पर मै स्वय ही इस ब्रह्मात्मक बात को कहती हूँ। जिसको मै चाहती हूँ उसे उग्र बनाती हूँ, उसे सृष्टिकर्ता (या मन्त्रकर्ता), उसे ऋषि और उसे शोभन प्रज्ञावाला बनाती हूँ।

टिप्पणी

उग्रम्—यहाँ 'उग्रम्' का तात्पर्य व्यक्ति को ऊँचा उठाने से है।

तं ब्रह्माणं तं ऋषिम्—इससे ऐसा प्रतीत होता है कि प्रारम्भ मे जन्मतः

कोई ब्राह्मण आदि नही बनता था अपितु भगवती वाग्देवी की कृपा से ही कोई कुछ बन सकता था। मूइर का कथन है—'यह इस बात को सिद्ध करता हुआ प्रतीत होता है कि कभी-कभी ब्राह्मण जन्मतः या स्वभावत. नही होता था, वरन् वाग्देवी की विशिष्ट अनुकम्पा और प्रेरणा के द्वारा भी होता था। अत. इस मत्र मे 'ब्रह्मणम्' शब्द किसी जाति विशेष के सदस्य का, जो समाज मे अपनी प्रतिष्ठा के लिए 'वाक्' की अनुकम्पा पर आश्रित नही रहता, सकेत नही करता है–'। द्रष्टव्य—'ओरिजनल सस्कृत टेक्ट्स', भा० १, पृ० २४६)।

ब्रह्माणम्' का मूल अर्थ यहाँ 'ब्रह्म' या 'मन्त्र' का स्रष्टा या उसके 'ज्ञानवाला व्यक्ति' ही है।

अहं रुद्राय धनुरा तनोमि ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवा उं।
अहं जनाय समदं कृणोम्यहं द्यावापृथिवी आ विवेश॥ ६॥

पदपाठ

अहम्। रुद्राय। धनुः। आ। तनोमि। ब्रह्मऽद्विषे। शरवे। हन्तवै। ऊँ इति। अहम्। जनाय। सऽमदम्। कृणोमि। अहम्। द्यावापृथिवी इति। आ। विवेश॥ ६॥

सायण—पुरा त्रिपुरविजयसमये रुद्राय रुद्रस्य। षष्ठ्यर्थे चतुर्थी। महादेवस्य धनु· चापम् अहम् आ तनोमि। ज्ययाततं करोमि। किमर्थम्। ब्रह्मद्विषे ब्राह्मणानां द्वेष्टारं शरवे शरुं हिंसकं त्रिपुरनिवासिनमसुरं हन्तवै हन्तु हिंसितुम्॥ हन्ते· 'तुमर्थे सेसेन्°' (पा० सू० ३,४,९) इति तवैप्रत्ययः। 'अन्तश्च तवै युगपत्' (पा० सू० ६,१,२००) इत्याद्यन्तयोर्युगपदुदात्तत्वम्। 'शॄ हिंसायां' इत्यस्मात् 'शॄस्वृस्निहि°' इत्यादिना उ प्रत्ययः। 'क्रियाग्रहण कर्तव्यम्' इति कर्मण. सम्प्रदानत्वाच्चतुर्थी॥ उशब्दः पूरक.। अममेव समदम्। समान माद्यन्त्यस्मिन्निति समत्संग्राम। स्तोतृजनार्थं शत्रुभि. सह संग्राम-महमेव कृणोमि करोमि। तथा द्यावापृथिवी दिवं च पृथिवी चान्तर्यामितया अहम् एव आ विवेश प्रविष्टवती॥

अनुवाद

ब्रह्मद्वेषी, हिंसक के हनन के हेतु मै रुद्र के लिये धनुष (की प्रत्यञ्चा) को विस्तीर्ण करती हूँ (तानती हूँ)। द्यौ एव पृथिवी मे व्याप्त हुयो मै लोगो के लिये युद्ध की रचना करती हूँ।

टिप्पणी

रुद्राय—सा० ने यहाँ षष्ठ्यर्थ मे चतुर्थी माना है, किन्तु ऐसा करना आवश्यक नही, क्योकि वाग्देवी अपने को सृष्टिकर्त्री मानती है इसलिये रुद्र के लिये धनुष का निर्माण करना या विस्तीर्ण करना असंगत नही। इसी प्रकार का दूसरा सदर्भ ऋ० १,८५,९ में है, जिसमें त्वष्टा को वज्र निर्मित करते हुये कहा गया है जिसे इन्द्र ने वीरतापूर्ण कार्यो के लिये धारण किया।

शरवे—यह 'शरु' शब्द का चतुर्थी एक वचन का रूप है जिसकी अन्विति 'ब्रह्मद्विषे' के साथ होनी चाहिये। अधिकाश आधुनिक व्याख्याकारो जैसे—रोठ, ग्रासमान, गेल्डनर, ग्रिफिथ, पिटर्सन, लुड्‌विग, वेलणकर आदि—ने 'शरु' का अर्थ 'बाण, भाला, प्रसिति' आदि किया है। किन्तु सायण द्वारा किया गया अर्थ 'हिंसक' अधिक संगत है, क्योकि ऋग्वेद मे 'शरु–' और 'शर–' दोनो शब्दो का प्रयोग मिलता है और जहाँ 'शर–' है वहाँ तो स्पष्ट 'बाण' का भाव ही द्योतित होता है, किन्तु 'शरु' के सन्दर्भो से 'हिंसक व्यक्ति' का अर्थ ही जान पडता है। अमति, दुर्मति, ब्रह्मद्विष, आदि शब्दो के साथ 'शरु' का प्रयोग भी इन्ही के गुणो का द्योतक है। ऋ० ४,३,७, ६,२७,६, ८,१८,११, ७७,१५, २०, १०,२७,६; १८२,३ आदि सन्दर्भो से 'शरु' का अर्थ 'हिंसक' या 'हिंसा' मानना ही संगत है, 'बाण' नही। आधुनिक व्याख्याकारो ने यदि तुलनात्मक दृष्टि से इस शब्द के अर्थ पर विचार किया होता तो संभवत वे सा० द्वारा दिये गये अर्थ को ही औचित्य प्रदान करते।

हन्तवै—'हन्' धा०से तुमुनर्थ 'तवै' प्रत्यय होकर यह रूप निष्पन्न हुआ है।

समदम्—ऋ० में यह रूप केवल यही पर आया है। एक बार 'समदः' रूप (ऋ० ६,७५,३) भी आया है। सायण द्वारा किया गया इसका 'सग्राम' अर्थ, जिसका अनुसरण पाश्चात्त्य व्याख्याकारो (ग्रिफिथ, गेल्ड०, रनू आदि) ने किया है, उचित जान पडता है। ऋ० ६,७५,२ में 'धन्वना तीव्राः समदो जयेम' (धनुष के द्वारा तीव्र युद्धो को जीते) इस अर्थ की पुष्टि करता है। यहाँ वाग्देवी या तो अपने भक्त के लिये स्वय युद्ध करती है अथवा उनके लिये 'युद्ध की रचना करती है—दोनो अर्थ सभव है।

द्यावापृथिवी—यहाँ यह प्रगृह्य संज्ञक है और इसे सप्तमी द्विवचन के अर्थ मे ग्रहण करना चाहिये।

आ-विवेश—'विश्' (प्रवेश करना) धा० का लिट्, प्र० पु०, ए० व० का रूप है जो यहाँ उ० पु० ए० व० के अर्थ में प्रयुक्त है।

अहं सुवे पितरमस्य मूर्धन्मम योनिरप्स्व१न्तः समुद्रे ।
ततो वि तिष्ठे भुवनानु विश्वोतामूं द्यां वर्ष्मणोप स्पृशामि ॥ ७ ॥

पदपाठ

अहम् । सुवे । पितरम् । अस्य । मूर्धन् । मम । योनिः । अप्ऽसु । अन्तरिति । समुद्रे । ततः । वि । तिष्ठे । भुवना । अनु । विश्वा । उत । अमूम् । द्याम् । वर्ष्मणा । उप । स्पृशामि ॥ ७ ॥

सायण—'द्यौ. पिता' (तै० ब्रा० ३,७,५,४) इति श्रुते. पिता द्यौ. । पितरं दिवम् अहम् सुवे प्रसुवे जनयामि । 'आत्मन आकाशः सम्भूत.' (तै० आ० ८,१) इति श्रुतेः । कुत्रेति तदाह । अस्य परमात्मनः मूर्धन्युपरि । कारणभूते तस्मिन् हि वियदादिकार्यजातं सर्वं वर्तते तन्तुषु पट इव । मम च योनि. कारणं समुद्रे । समुद्द्रवन्त्यस्माद्भूतजानानि इति समुद्र परमात्मा । तस्मिन् अप्सु व्यापनशीलासु धीवृत्तिषु अन्त मध्ये यद्ब्रह्मचैतन्य तन्मम कारणमित्यर्थः । यत ईदृग्भूता अहमस्मि तत· हेतोः विश्वा विश्वानि सर्वाणि भुवनानि भूतजातानि अनु प्रविश्य वि तिष्ठे । विविध प्राप्य तिष्ठामि ॥ 'समवप्रविभ्यः स्थ.' (पा० सू० १, ३, २२) इत्यात्मने पदम् ॥ उत अपि च अमू द्यां विप्रकृष्टदेशेऽवस्थितं स्वर्गलोकम् । उपलक्षणमेतत् । एतदुपलक्षितं कृत्स्नं विकारजातं वर्ष्मणा कारणभूतेन मायात्मकेन मदीयेन देहेन उप स्पृशामि । यद्वा । अस्य भूलोकस्य मूर्धन् मूर्धन्युपर्यह पितरामकाशं सुवे । समुद्रे जलधावप्सूदकेष्वन्तर्मध्ये मम योनि कारणभूतोऽम्भृणाख्य ऋषिर्वर्तते । यद्वा समुद्रेऽन्तरिक्षेऽप्स्वम्मयेषु देवशरीरेषु मम कारणभूतं ब्रह्म चैतन्य वर्तते । ततोऽहं कारणात्मिका सती सर्वाणि भुवनानि व्याप्नोमि । अन्यत्समानम् ॥

अनुवाद

इस सृष्टि के मूर्धन्य स्थान मे पिता (आकाश) का मैने ही प्रसव किया है (मै प्रसव करती हूँ) और मेरा मूल समुद्र मे जल के अन्दर है जिससे मै समस्त लोको मे प्रतिष्ठित हुयी हूँ तथा मै अपने शीर्ष भाग से इस द्यौ का स्पर्श करती हूँ ।

टिप्पणी

सुवे—'सूञ् प्रसवे' (उत्पन्न करना) धा० का लट्, उ० पु०, ए० व०, आत्मनेपद का रूप है । यहाँ भूतकाल के अर्थ मे इसे ग्रहण किया जा सकता है।

मूर्धन्—सप्तमी ए० व० का वैदिक रूप है। इसकी तुलना 'यामन्' (यामनि) रूप से की जा सकती है।

वृष्मणा—'वर्ष्मन्' (चोटी, ऊँचाई, शीर्ष) तृ० ए० व० का रूप है। इसकी तुलना स्लाविक 'व्रीछु' और लिथुआनियन 'विर्शुष्' से कर सकते है।

अहमेव वातइव प्र वाम्यारभमाणा भुवनानि विश्वा।
परो दिवा पर एना पृथिव्यैतावती महिना सं बभूव ॥ ८ ॥

पदपाठ

अहम्। एव। वातःऽइव। प्र। वामि। आऽरभमाणा। भुवनानि। विश्वा। परः। दिवा। परः। एना। पृथिव्या। एतावती। महिना। सम्। बभूव ॥ ८ ॥

सायण—विश्वा विश्वानि सर्वाणि भुवनानि भूतजातानि कार्याणि आरभमाणा कारणरूपेणोत्पादयन्ती अहमेव परेणानधिष्ठिता स्वयमेव प्र वामि प्रवर्ते। वातइव यथा वातः परेणाप्रेरित सन् स्वेच्छयैव प्रवाति तद्वत्। उक्तं सर्वं निगमयति। परो दिवा। पर इति सकारान्तं परस्तादित्यर्थे वर्तते यथा अध इत्यधस्तादर्थे। तद्योगे च तृतीया सर्वत्र दृश्यते। दिव आकाशस्य परस्तात्। एना पृथिव्या॥ द्वितीयाटौ स्वेनः' (पा० सू० २,४,३४) इतीदम एनादेशः। अस्याः पृथिव्याः परः परस्तात्। द्यावापृथिव्योरुपादानमुपलक्षणम्। एतदुपलक्षितात् सर्वस्मात् विकारजातात् परस्ताद् वर्तमाना सङ्गोदासीनकूटस्थब्रह्मचैतन्यरूपाहं महिना महिम्ना एतावती सं बभूव। एतच्छब्देनोक्तं सर्वं परामृश्यते। एतत्परिमाणमस्याः॥ 'यत्तदेतेभ्य परिमाणे०' (पा० सू० ५, २, ३९) इति वतुप्। 'आ सर्वनाम्न.' (पा० सू० ६, ३, ९१) इत्यात्वम्। सर्वजगदात्मनाहं संभूतास्मि॥ मतच्छब्दादिमनिचि 'टे.' (पा० सू० ६, ४, १५५) इति टिलोपः। ततः तृतीयायामुदात्तनिवृत्तिस्वरेण तस्या उदात्तत्वम्। छान्दसो मलोपः॥

अनुवाद

समस्त सृष्टि (या लोक) का प्रारम्भ करती हुयी मैं ही वायु के समान प्रवाहित होती हूँ। इस आकाश और पृथिवी के परे जो कुछ भी है वह सब मेरी महिमा (शक्ति) के द्वारा उद्भूत हुआ है। मै अपनी महिमा से इस आकाश और पृथिवी के परे भो हुयी हूँ या वर्तमान हूँ)।

टिप्पणी

आरभमाणा—गेल्ड० आदि पाश्चात्य व्याख्याकारो ने इसका अर्थ 'हस्तगत करते हुये' या 'पकडते हुये' (erfassend—'holding together') किया है। ऋ० मे यह रूप केवल यही पर आया है। इसकी निष्पत्ति 'आङ् + रभ् (राभस्ये—धा० पा० २३, ५ — 'लेना, पकडना, इकट्ठा करना, कार्य करना, प्रारभ करना' आदि) + शानच्—से होगी। 'कृत' होने से उत्तर पद में मूल पर उदात्त स्वर है (कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वम्)।

रात्रि १०, १२७

देवता रात्रि; ऋषि कुशिक; छन्द गायत्री

रात्री व्यख्यदायती पुरुत्रा देव्य१क्षभिः।
विश्वा अधि श्रियोऽधित ॥ १ ॥

पदपाठ

रात्री। वि। अख्यत्। आऽयती। पुरुऽत्रा। देवी। अक्षऽभिः। विश्वाः। अधि। श्रियः। अधित ॥ १ ॥

सायण—आयती आगच्छन्ती ॥ आङ्पूर्वादेते. शतर्यदादित्वाच्छपो लुक्। 'इणो यण्' (पा० सू० ६,४,८१) इति यणादेशः। 'उगितश्च' (पा० सू० ४,१,६) इति ङीप्। 'शतुरनुमः०' इति नद्या उदात्तत्वम् ॥ अक्षभिः अक्षिस्थानीयै प्रकाशमानैर्नक्षत्रैः ॥ 'छन्दस्यपि दृश्यते' इत्यक्षिशब्दस्यानङादेशः ॥ यद्वा। अक्षभिरञ्जकै. तेजोभिः। पुरुत्रा बहुषु देशेषु देवी देवनशीला ॥ 'देवमनुष्यपुरुषपुरुमर्त्येभ्यः०' इत्यादिना पुरुशब्दात् सप्तम्यर्थे त्राप्रत्यय' ॥ रात्री इयं रात्रिदेवता व्यख्यत् विचष्टे विशेषेण पश्यति ॥ 'रात्रेश्चाजसौ' (पा० सू० ४,१,३१) इति ङीप्। ख्यातेश्छान्दसे लुङि 'अस्यतिवक्ति०' इत्यादिना च्लेरङादेशः ॥ अपि चैषा 'विश्वा. सर्वाः श्रियः शोभाः अधि अधित अधिधारयति ॥ दधातेर्लुङि 'स्थाघ्वोरिच्च' इतीत्वम्। सिचः कित्वम्। 'ह्रस्वादङ्गात्' इति सिचो लोप. ॥

अनुवाद

आती हुयी रात्रि देवी ने अपने नेत्रो के द्वारा बहुत से स्थानों में देखा। उसने समस्त श्री को धारण किया है।

टिप्पणी

(वि)अख्यत्—वि + ख्या (देखना) धा० का लुङ्, प्र० पु० ए० व० का रूप । 'तिङ्ङतिङ.' (पा० सू० ८,१,२८) से सर्वानुदात्त स्वर है ।

आयती—आ + ई (जाना) धा० से शतृ, शप्, यणादेश, और 'ङीप्' करके यह शब्द बनेगा । 'अनुम्' के कारण शतृ प्रत्ययान्त यह रूप अन्तोदात्त स्वर वाला है ।

(अधि) अधित—'अधि' पूर्वक 'धा' (धारण करना) धा० का यह लुङ्, प्र० पु०, ए० व० का आत्मने० रूप है, मुख्य क्रिया होने के कारण सर्वानुदात्त स्वर है जिसे 'तिङ्ङतिङः' (पा० सू० ८,१,२८) से स्पष्ट किया जा सकता है (अतिङ् शब्द के परे तिङ् रहे तो सर्वानुदात्त होगा) ।

श्रियः —'श्री' का ब० व० रूप है । यहाँ 'श्री' शब्द संभवत तारागणो के प्रकाशमय साहचर्य को प्रदर्शित करता है ।

ओर्वप्रा अमर्त्या निवतो देव्यु१द्वतः । ज्योतिषा बाधते तमः ॥ २ ॥

पदपाठ

आ । उरु । अप्राः । अमर्त्या । निऽवतः । देवी । उत्ऽवतः । ज्योतिषा । बाधते । तमः ॥ २ ॥

सायण—अमर्त्या मरणरहिता देवी देवनशीला रात्रिः उरु विस्तीर्णमन्तरिक्षम् आ अप्राः । प्रथमतस्तमसापूरयति ॥ 'प्रा पूरणे' । आदादिकः । लङि व्यत्ययेन मध्यमः ॥ तथा निवत ॥ नीचीनाँल्लतागुल्मादीन् उद्वत. उत्थितान् वृक्षादींश्च स्वकीयेन तेजसावृणोति । तदनन्तरं तत् तम अन्धकारं ज्योतिषा ग्रहनक्षत्रादिरूपेण तेजसा बाधते पीडयति ॥

अनुवाद

अमर देवी ने विस्तृत प्रदेश, निम्न भाग और उच्च स्थानो को आपूर्ण किया है । ज्योति के द्वारा वह अन्धकार को बाधित करती है ।

टिप्पणी

(आ) अप्राः —'प्रा' (पूर्ण करना, भरना) धा० का लुङ् प्र० पु०, ब० व० का रूप है । जो अन्य पु० एक व० के अर्थ मे प्रयुक्त है ।

ज्योतिषा—यहाँ तारागणों की ज्योति का भाव है ।

निरु स्वसारमस्कृतोषसं देव्यायती । अपेदु हासते तमः ॥ ३ ॥

पदपाठ

निः । ऊँ इति । स्वसारम् । अकृत । उषसम् । देवी । आऽयती । अप । इत् । ऊँ इति । हासते । तमः ॥ ३ ॥

सायण—आयती आगच्छन्ती देवी देवनशीला रात्रिः स्वसारम् भगिनीम् उषस निः अकृत निष्करोति । प्रकाशेन संस्करोति । निवर्तयतीत्यर्थः । तस्यामुषसि जातायां नैश तम. अपेत् हासते अपैव गच्छति ॥ 'ओहाङ् गतौ' । लेट्यडागम. । 'सिब्बहुलम्' इति सिप् ॥

अनुवाद

आती हुयी रात्रि देवी ने (अपनी) बहन उषा को निकाल दिया। अन्धकार भी बाहर गमन करता है।

टिप्पणी

(नि.) अकृत—'कृ' धा० का लुङ्, प्र० पु०, ए० व० का रूप है। 'तिङ्ङतिङ.' से सर्वानुदात्त स्वर है।

उषसम्—यहाँ 'उषस्' का भाव सध्याकाल या दिन के प्रकाश से है।

हासते—'हा' (जाना) धा० का लेट्, प्र० पु० ए० व० का आत्मनेपदी रूप है।

सा नो अद्य यस्या वयं नि ते यामन्नविक्ष्महि ।
वृक्षे न वसतिं वयः ॥ ४ ॥

पदपाठ

सा । नः । अद्य । यस्याः । वयम् । नि । ते । यामन् । अविक्ष्महि । वृक्षे । न । वसतिम् । वयः ॥ ४ ॥

सायण—अद्य अस्मिन् काले नः अस्माकं सा रात्रिदेवता प्रसीदतु यस्याः रात्रेः यामन् यामनि प्राप्तौ सत्या वयं नि अविक्ष्महि निविशामहे सुखेन गृह आस्महे ॥ विशेर्लङि 'नेर्विश.' (पा० सू० १, ३, १७) इत्यात्मनेपदम् । छान्दस. शपो लुक् ॥ तत्र दृष्टान्तः । वय. पक्षिण. वृक्षे न यथा वृक्षे नीडाश्रये वसतिं रात्रौ निवासं कुर्वन्ति तथा निवसाम इत्यर्थः ॥

अनुवाद

वह आज हमारे समीप आये, जिस तुम्हारे मार्ग मे हम लोग उसी प्रकार निवास करते है, जैसे पक्षीगण वृक्ष मे अपनी वसति (नीड़) बना कर रहते है।

टिप्पणी

सा—इसके पश्चात् किसी मुख्य क्रिया का आगम होना आवश्यक है।

अविक्ष्महि—'विश्' (निवास करना) धा० का लुङ्, उ० पु०, ब० व०, आत्मने० रूप है।

वयः—'वि' (पक्षी) का प्र० ब० व० का रूप है।

यामन्—सप्त० ए० व० का वैदिक रूप है।

नि ग्रामासो अविक्षत नि पद्वन्तो नि पक्षिणः।
नि श्येनासश्चिदर्थिनः॥ ५॥

पदपाठ

नि। ग्रामासः। अविक्षत। नि। पत्ऽवन्तः। नि। पक्षिणः। नि। श्येनासः। चित्। अर्थिनः॥ ५॥

सायण—ग्रामासः ग्रामाः। अत्र ग्रामशब्दो जनसमूहे वर्तते यथा ग्राम आगत इति। सर्वे जनाः नि अविक्षत। तस्यां रात्रावागतायां निविशन्ते। शेरते॥ नि पूर्वाद्विशतेश्छान्दसे लुङि पूर्ववदात्मनेपदम्। 'शल इगुपधादनिटः क्सः' (पा० सू० ३, १, ४५), 'क्सस्याचि' (पा० सू० ७, ३, ७२) इत्यकारलोपः॥ तथा पद्वन्तः पादयुक्ता गवाश्वादयश्च निविशन्ते। तथा पक्षिणः पक्षोपेताश्च निविशन्ते। अर्थिनः। अर्तेरर्थो गमनम्। शीघ्रगमनयुक्ताः। श्येनासश्चित् श्येना अपि तस्यां रात्र्यां निविशन्ते एषा रात्रिः सर्वाणि भूतजातान्यहनि संचारेण श्रान्तानि स्वयमागत्य सुखयतीत्यर्थः॥

अनुवाद

ग्राम (में रहने वाले), पैर वाले और पक्षीगण—सभी (अपने-अपने निवास स्थान) मे प्रवेश कर गये है। गमन करने वाले श्येन (बाज पक्षी) भी (नीड़ मे) निविष्ट हो गये है।

टिप्पणी

अविक्षत—'विश्' (प्रवेश करना) धा० का लुङ्, प्र० पु०, ब० व० का रूप है।

यावया वृक्यं १ वृकं यवय स्तेनमूर्म्ये।
अथा नः सुतरा भव ॥ ६ ॥

पदपाठ

यवय। वृक्यम्। वृकम्। यवय। स्तेनम्। ऊर्म्ये। अथ। नः। सुऽतरा। भव ॥ ६ ॥

सायण—हे ऊर्म्यें। रात्रिनामैतत्। रात्रे वृक्यं वृकस्य स्त्रियं वृकं चास्मान् हिंसन्तं यवय। अस्मत्तः पृथक्कुरु। अस्मान् बाधितुं यथा न प्राप्नोति तथा। स्तेनं तस्करं च यवय। अस्मत्तो वियोजय। अथ अनन्तर न. अस्माकं सुतरा सुखेन तरणीया क्षेमकरी भव ॥

अनुवाद

हे रात्रि, हिंसापूर्ण कार्य और वृक (भेड़िया) को (हमसे) अलग करो एव चोर को (हमसे) दूर करो। हमारे लिये तुम शोभनतारिणी (पार करने वाली) बनो।

टिप्पणी

यवय—'यु' (अलग करना—'यु मिश्रणामिश्रयो') धा० का लोट्, म०पु०, ए०व० का रूप है। वाक्य के या पाद के प्रारम्भ में होने से उदात्त स्वर है।

वृक्यम्—ऋ० मे यह शब्द केवल यही पर आया है। सा० ने इसे 'वृक की स्त्री अर्थात् वृकी' के अर्थ मे ग्रहण किया है जिसका अनुसरण ग्रिफिथ, गेल्ड०, मैक्डॉ० आदि ने किया है। किन्तु 'वृक' का स्त्रीलिङ्ग 'वृकी' ऋ० में दो बार (१, ११७, १८; १८३, ४) आया है जिससे इसको 'वृकी' मानना सदेहास्पद प्रतीत होता है। इसी के समान दूसरा मंत्राश 'मा वा वृको मा वृकीरा दधर्षीत्' (१, १८३, ४)—(हे अश्विनो तुम्हारी कृपा से वृकी और वृक हमें धर्षित न करे)—है जिसमें वृक-वृकी साथ-साथ आये हैं। अत. वृक्यम्' को 'वृकीम्' के रूप में ग्रहण करना अनुचित होगा।

'वृक्यम्' को 'वृक्' (छीनना—धा० पा० ४, १८) से 'क्यप्' प्रत्यय करके निष्पन्न करेंगे (ऋदुपधाच्चाक्लृपिचृतेः —पा० ३, १, ११०) अर्थात्—वृक् + क्यप् = वृक्यम् (जैसे वृत् + क्यप् = वृत्यम्, वृध् + क्यप् = वृध्यम् इत्यादि) । यहाँ 'अनुदात्तौ सुप्पितौ' (पा० ३, १, ४) से अनुदात्त होना चाहिए, क्योंकि 'क्यप्' में 'प्' का लोप हुआ है; किन्तु अपवाद रूप में नही हुआ । क्योकि 'कित' (क् का लोप) भी है जिससे उदात्त होना चाहिये (कित. —पा० सू० ६, १ १६५) । यहाँ 'वृक्यम्' का अर्थ 'जो छीनने के कार्य मे संलग्न है' होगा ।

उप मा पेपिशत्तमः कृष्णं व्यक्तमस्थित ।

उष ऋणेव यातय ॥ ७ ॥

—पदपाठ

उप । मा । पेपिशत् । तमः । कृष्णम् । विऽअक्तम् । अस्थित । उषः । ऋणाऽइव । यातय ॥ ७ ॥

सायण—पेपिशत् भृशं पिंशत् सर्ववस्तुष्वाश्लिष्ट तम अन्धकार कृष्ण कृष्णवर्णं व्यक्तं विशेषेण स्वभासा सर्वस्याञ्जकं स्पष्टरूपं वा ईदृशं नैशं तमो माम् उप अस्थित उपागच्छत् । संगतकरण आत्मनेपदम् । हे उषः उषोदेवते त्वम् ऋणेव ऋणानीव तत्तमो यातय अपगमय । स्तोतॄणामृणानि यथा धन प्रदानेनापाकरोषि तथा तमोऽप्यपसारयेत्यर्थः ॥

अनुवाद

काले, घने, अधिक रूप से अञ्जित करते हुए अन्धकार ने मुझे घेर लिया है । हे उषस्, ऋण के समान (उसे) मुझसे दूर करो ।

टिप्पणी

पेपिशत्— पिश्' धा० (रगना, अञ्जित करना) का शतृ प्रत्ययान्त रूप है । ऋ० मे यह रूप केवल यही पर आया है ।

(उप) अस्थित—'स्था' धा० का लुङ्, प्र० पु०, ए० व० का आत्मने० रूप है ।

यातय—'यत्' धा० का णिजन्त रूप है ।

उप ते गाइवाकरं वृणीष्व दुहितर्दिवः ।

रात्रि स्तोमं न जिग्युषे ॥ ८ ॥

पदपाठ

उप॑ । ते॒ । गाःऽइ॑व । आ । अ॒क॒र॒म् । वृ॒णी॒ष्व । दु॒हि॒तः॒ । दि॒वः॒ । रात्रि॑ । स्तोम॑म् । न । जि॒ग्युषे॑ ॥ ८ ॥

सायण—हे रात्रि रात्रिदेवते ते त्वां गाइव पयसो दोग्ध्रीर्धेनूरिव उपेत्य आकरं स्तुतिभिरभिमुखी करोमि ॥ करोतेश्छान्दसे लुङि 'कृमृदृरुहिभ्यः०' इति च्लेरङादेश. ॥ दिवः दुहितः द्योतमानस्य सूर्यस्य पुत्रि यद्वा दिवसस्य तनये ॥ परमपि च्छन्दसि' (पा० सू० २, १, २, ६) इति परस्य षष्ठ्यन्तस्य पूर्वामन्त्रिताङ्गवद्भावात् पदद्वयसमुदायस्याष्टमिकं सर्वानुदात्तत्वम् ॥ त्वत्प्रसादात् जिग्युषे शत्रून् जिग्युषो मम स्तोमं न स्तोत्रमिव हविरपि वृणीष्व त्वं भजस्व॥ जयतेर्लिटः क्वसुः । 'सन्लिटोर्जे.' इत्यभ्यासादुत्तरस्य जकारस्य कुत्वम् । 'षष्ठ्यर्थे चतुर्थी वक्तव्या' इति चतुर्थी । 'वसोः सम्प्रसारणम्' इति संप्रसारणम् ॥

अनुवाद

गाय के समान मैने, तुम्हारे लिए स्तुति को उद्‌भूत किया है, हे द्युलोक की पुत्री, इसे वरण करो (स्वीकार करो)। हे रात्रि, विजयो व्यक्ति के यशगान के समान इस स्तुति को स्वीकार करो।

टिप्पणी

गाइव—गाय जिस प्रकार से दूध देती है वैसे ही अन्तःप्रेरणा द्वारा उद्भूत यह स्तुति है।

(उप)अ॒क॒र॒म्—'कृ' धा० का लुङ्, उ० पु०, ए० व० का रूप है। इसकी तुलना ऋ० १, ११४, ९ के 'उप ते स्तोमाँ पशुपा इवाकरम्' (पशुपालक—चरवाहे—के समान मैने तुम्हारे लिये स्तोमो को प्रेरित किया है)।

वृ॒णी॒ष्व—'वृ' (चुनना, वरण करना) धा० का लोट्, म० पु०, ए० व० का आत्मने० रूप है।

जि॒ग्युषे॑—'जि' (जितना) धा० से 'क्वसु' (लिट क्वसुश्च—पा० ३, २, १०७) एवं अभ्यास तथा अभ्यास का कुत्व (सन्लिटोर्जे.—पा० सू० ७, ३, ५७) और गुण भाव एवं यणादेश तथा 'शासिवसिघसीना च' से षत्व होकर 'जिग्युष' शब्द बनेगा, जिसका चतु० ए० व० मे 'जिग्युषे' होगा। प्रत्यय स्वर के कारण उकार पर उदात्त स्वर है।

श्रद्धा १०, १५१

देवता श्रद्धा; ऋषिका श्रद्धा कामायनी; छन्द-अनुष्टुभ्

श्रद्धयाग्निः समिध्यते श्रद्धया हूयते हविः ।
श्रद्धां भगस्य मूर्धनि वचसा वेदयामसि ॥ १ ॥

पदपाठ

श्रद्धया । अग्निः । सम् । इध्यते । श्रद्धया । हूयते । हविः ।
श्रद्धाम् । भगस्य । मूर्धनि । वचसा । आ । वेदयामसि ॥ १ ॥

सायण—पुरुषगतोऽभिलाषविशेष. श्रद्धा । तया श्रद्धया अग्निः गार्हपत्यादिः समिध्यते संदीप्यते । यदा हि पुरुषे श्रद्धाग्निगोचर आदरातिशयो जायते तदैष पुरुषोऽग्नीन् प्रज्वालयति नान्यदा । श्रद्धया एव हवि पुरोडाशादिहविश्च हूयते । आहवनीये प्रक्षिप्यते । यद्वा । अस्य सूक्तस्य द्रष्ट्र्या श्रद्धाख्याग्नि. समिध्यते । श्रद्धाम् उक्तलक्षणाया. श्रद्धाया अभिमानिदेवतां भगस्य भजनीयस्य धनस्य मूर्धनि प्रधानभूते स्थानेऽवस्थितां वचसा वचनेन स्तोत्रेण आ वेदयामसि अभितः प्रख्यापयाम. । इदन्तो मसिः ॥

अनुवाद

श्रद्धा के द्वारा अग्नि प्रज्वलित किया जाता है और श्रद्धा से ही हवि का हवन किया जाता है । भग (यश) की मूर्धा पर स्थित श्रद्धा को हम पूर्णरूपेण प्रख्यापित करते है ।

टिप्पणी

(सम्) इध्यते—'इन्ध्' (जलाना) धा० का लट्, प्र० पु०, ए० व० का रूप है ।

वेदयामसि—विद् (जानना) धा० का णिजन्त रूप है ।

भगस्य—भग यहाँ देवता विशेष अथवा तेज या यश के लिए हो सकता है ।

प्रियं श्रद्धे ददतः प्रियं श्रद्धे दिदासतः ।
प्रियं भोजेषु यज्वस्विदं म उदितं कृधि ॥ २ ॥

पदपाठ

प्रियम् । श्रद्धे । ददतः । प्रियम् । श्रद्धे । दिदासतः । प्रियम् ।
भोजेषु । यज्वऽसु । इदम् । मे । उदितम् । कृधि ॥ २ ॥

सायण—हे श्रद्धे ददतः चरुपुरोडाशादीनि प्रयच्छतो यजमानस्य प्रियम् अभीष्टफलं कुरु। दिदासत दातुमिच्छतश्च हे श्रद्धे प्रियं कुरु। मे मम सम्बन्धिषु भोजेषु भोक्तृषु भोगार्थिषु यज्वसु कृतयज्ञेषु जनेषु च इदम् उदितम् उक्तं प्रियं कृधि कुरु।

अनुवाद

हे श्रद्धादेवि, दान करते हुये व्यक्ति का प्रिय करो और जो दान करने की इच्छा वाला है उसका भी प्रिय (अभीष्ट) करो। मेरे सम्बन्धी जो भोगार्थी एव यज्ञो मे लगे है उनका भी उक्त प्रिय करो।

टिप्पणी

ददतः—'दा' (देना) धा० से अभ्यास (द्वित्व) करके शतृ प्रत्यय होगा, और अभ्यस्त होने के कारण 'नुम्' का प्रतिषेध करके 'ददत्' शब्द बनेगा जिसका प्रथमा बहु वचन मे 'ददत ' रूप होगा। 'अभ्यस्तानामादि.' (पा० ६, १,१८९) से आद्युदात्त स्वर होगा। इसका शाब्दिक अर्थ है—'बार-बार देने वाला'।

दिदासत —ऋ० मे यह रूप केवल यही पर आया है। 'दा' धा० से (देने अर्थ में) सन् प्रत्यय (इच्छाया सन्) एव धा० को द्वित्वभाव तथा हलादि शेष (हलादि शेष —पा० ७,४,६०) सन्यत (पा० सू० ७,४,७९) से 'इत्व होगा जिसमे शतृ प्रत्यय लगेगा (लट शतृ) और 'कर्तरि शप्' एवं 'नुम्' आदि करके 'दिदासत्' और प्र० ब० व० मे 'दिदासत ' रूप बनेगा। पित्त्वादि(शप्-शतृ) होने से अनुदात्त होना चाहिये था, किन्तु 'सन्' प्रत्यय मे 'नित्व' (न् का लोप) होने से 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' (पा० सू० ६,१, १९७) से आद्युदात्त ही शेष रह जायगा।

उदितम्—'उत्' उपसर्ग सहित 'इ' धा० (जाना) से 'क्त' प्रत्यय करके 'उदित' शब्द बनेगा। 'कित' होने से अन्तोदात्त स्वर है ('कितः'—पा० सू० ६,१,१६५)।

यह शब्द ऋ० मे केवल इस और अगले मत्र मे ही आया है।

यथा देवा असुरेषु श्रद्धामुग्रेषु चक्रिरे।
एवं भोजेषु यज्वस्वस्माकमुदितं कृधि॥ ३॥

पदपाठ

यथा। देवाः। असुरेषु। श्रद्धाम्। उग्रेषु। चक्रिरे। एवम्। भोजेषु। यज्वऽसु। अस्माकम्। उदितम्। कृधि॥ ३॥

सायण—देवाः इन्द्रादय असुरेषु उद्गूर्णबलेषु यथा श्रद्धां चक्रिरे अवश्यमिमे हन्तव्या इत्यादरातिशयं कृतवन्त. एवं श्रद्धावत्सु भोजेषु भोक्तृषु भोगार्थिषु यज्वसु यष्टृषु अस्माकम् अस्मत्संबन्धिषु तेषु उदितं तैरुक्तं प्रार्थित फलजातं कृधि कुरु ॥

अनुवाद

जिस प्रकार से देवताओ ने असुरो मे श्रद्धा उत्पन्न की वैसे ही तुम हमारे पोषको एव यजमानो मे (श्रद्धा) उदित करो।

टिप्पणी

थया देवा: —ऋ० १०, १२४ मे इस प्रकार का वर्णन है कि अग्नि ने असुरो को माया रहित करके अपने वश मे किया। उनमे भी देवताओ के प्रति कुछ विश्वास जगा।

श्रद्धां देवा यजमाना वायुगोपा उपासते।
श्रद्धां हृदय्य१याकूत्या श्रद्धया विन्दते वसु ॥ ४ ॥

पदपाठ

श्रद्धाम्। देवाः। यजमानाः। वायुऽगोपाः। उप। आसते। श्रद्धाम् हृदय्यया। आऽकूत्या। श्रद्धया। विन्दते। वसु ॥ ४ ॥

सायण—देवा यजमाना. मनुष्याश्च वायुगोपा वायुर्गोपा रक्षिता येषां ते तादृशा सन्त श्रद्धां देवीम् उपासते प्रार्थयन्ते। हृदय्यया। हृदये भवा हृदय्या। तथाविधया आकूत्या संकल्परूपया क्रियया श्रद्धाम् एव परिचरन्ति सर्वे जना·। कुत इत्यत आह। यत कारणात् श्रद्धया हेतुभूतया वसु धनं विन्दते लभते श्रद्धावाञ्जनः। तत इत्यर्थः ॥

अनुवाद

वायु के द्वारा रक्षित देवता और यजमान लोग श्रद्धा की उपासना करते है। हृदयोत्पन्न संकल्प के द्वारा श्रद्धा को और श्रद्धा के द्वारा धन को (मनुष्य) प्राप्त करता है।

टिप्पणी

वायुगोपाः —यहाँ 'आत्मा' को 'वायु' के साथ सम्बन्धित किया गया है।

श्रद्धां प्रातर्हवामहे श्रद्धां मध्यंदिनं परि।
श्रद्धां सूर्यस्य निम्रुचि श्रद्धे श्रद्धापयेह नः ॥ ५ ॥

पदपाठ

श्रद्धाम्। प्रातः। हवामहे। श्रद्धाम्। मध्यंदिनम्। परि। श्रद्धाम्। सूर्यस्य। निऽम्रुचि। श्रद्धे। श्रत्। धापय। इह। नः ॥ ५ ॥

सायण—श्रद्धां देवी प्रात. पूर्वाह्णे हवामहे। तथा मध्यदिनं परि। लक्षणे परेः कर्मप्रवचनीयत्वम्। मध्यंदिनं परिलक्ष्य। मध्यंदिन इत्यर्थ। मध्याह्नेऽपि तां श्रद्धाम् आह्वयामहे। सूर्यस्य सर्वस्य प्रेरकस्यादित्यस्य निम्रुचि अस्तमयवेलायां सायसमयेऽपि तामेव श्रद्धाम् आह्वयामहे। ईदृग्रूपे हे श्रद्धे नः अस्मान् इह लोके कर्मणि वा श्रद्धापय श्रद्धावत. कुरु ॥

अनुवाद

हम लोग श्रद्धा का आह्वान प्रात काल करते है और मध्य दिन मे भी श्रद्धा (का आह्वान करते है)। सूर्य के अस्त होते समय भी श्रद्धा का आह्वान करते है। हे श्रद्धादेवि, इस लोक मे हममे श्रद्धा की स्थापना करो।

टिप्पणी

निम्रुचि—नि + म्रुच् (लोप होना) धा० से यह शब्द निष्पन्न होगा। 'निम्रुच्' उषाओ के विशेषण रूप मे भी आया है (द्र० ऋ०—१, १५१, ५)। सूर्य के आ जाने पर उषायें चोरो की भाँति छिप जाती हैं। इस मन्त्र मे भी सूर्य के छिपने का भाव है। सूर्य का उदित होना, मध्य दिन मे आना एवं अस्त होना एक अन्य मन्त्र (ऋ० ८, २७, १९) मे आया है—

यदद्य सूर्य उद्यति प्रियक्षत्रा ऋतं दध।
यन्निम्रुचि प्रबुधि विश्ववेदसो यद्वा मध्यंदिने दिव ॥

हे देवताओ, जब आज सूर्य उदित हो तो प्रियक्षत्र वाले, हममें सत्य को निहित करो। जब अस्त हो अथवा मध्यदिन मे सूर्य प्रबुद्ध हो तो भी हे सर्वधन सम्पन्न देवो, हममे सत्य को जागृत करो)।

'निम्रुच्' को 'नि' + म्रुच् (गमन करना) से भी निष्पन्न कर सकते हैं, जिसका अर्थ 'नितरा गमने साय काले' होगा।

वायु १०, १६८

देवता वात या वायु; ऋषि अनिल; छन्द त्रिष्टुभ्

वातस्य नु महिमानं रथस्य रुजन्नेति स्तनयन्नस्य घोषः ।
दिविस्पृग्यात्यरुणानि कृण्वन्नुतो एति पृथिव्या रेणुमस्यन् ॥ १ ॥

पदपाठ

वातस्य । नु । महिमानम् । रथस्य । रुजन् । एति । स्तनयन् । अस्य । घोषः । दिविऽस्पृक् । याति । अरुणानि । कृण्वन् । उतो इति । एति । पृथिव्या । रेणुम् । अस्यन् ॥ १ ॥

सायण—वातस्य वायोः रथस्य रहणशीलस्य महिमानं माहात्म्यं नु क्षिप्रं प्रब्रवीमि । अस्य वायोः घोषः शब्दः स्तनयन् गिरिगह्वरादिषु विविधं शब्दमुत्पादयन् रुजन् सर्वं स्थावरजङ्गमजातं भञ्जन् एति गच्छति । स च वायुः दिविस्पृक् दिवमाकाशं स्पृशन् व्याप्नुवन् अरुणानि अरुणवर्णानि विकृतरूपाणि दिगन्तराणि कृण्वन् कुर्वन् याति प्राप्नोति । उतो अपि च पृथिव्या भूमेः रेणुं पांसुम् अस्यन् गृहीत्वा सर्वत्र विक्षिपन् एति गच्छति । अतएव अरुणानि कृण्वन् इत्युक्तम् ॥

अनुवाद

अब (मै) वायु की महिमा को (कहूँगा) । इसके (वायु के) रथ का घोष गरजते हुये एवं सबको कष्ट पहुँचाते हुये (या तोड़ते हुये) जाता है । वायु आकाश का स्पर्श करते हुए, सबको अरुण रग वाला बनाते हुये और पृथिवी के साथ धूल बिखेरते हुये गमन करता है ।

टिप्पणी

रुजन्—'रुज्' धा० ('रुजो भङ्गे'—धा० पा० २८,१२३) से शतृ प्रत्ययान्त रूप है । 'आद्युदात्तश्च' (पा० सू० ३,१,३) से प्रत्यय स्वर है । यहाँ वृक्षादि को तोडने या सभी को कष्ट पहुँचाने का भाव है । वायु के समान ही मरुतो को भी गरजते और तोड-फोड़ करते हुये कहा गया है (द्रष्टव्य—ऋ० ५,५२,९, १,२३,११) । इससे ऐसा प्रतीत होता है कि ऋग्वेद के परवर्ती काल मे मरुतो को ही वायु के रूप मे मान लिया गया था ।

अस्यन्—'असु क्षेपणे' (फेंकना, बिखेरना) धा० का शतृ प्रत्ययान्त रूप है। अदादि होने से शतृ के पूर्व 'शप्' प्रत्यय लगेगा ('अदि प्रभृतिभ्य शप'—पा० सू० २,४,७२) और 'नुम्' का आगम होने से ('शपश्यनोर्नित्यम्'—पा० सू० ७,१,८१) 'नित्व' के कारण इसमे आद्युदात्त स्वर होगा (ञ्नित्यादिर्नित्यम्)। यही कारण है कि 'अस्यन्' मे रुजन्, स्तनयन्, कृण्वन् आदि के समान प्रत्यय पर उदात्त स्वर न होकर धातु पर ही है।

सं प्रेरते अनु वातस्य विष्ठा ऐनं गच्छन्ति समनं न योषाः।

ताभिः सयुक्सरथं देव ईयतेऽस्य विश्वस्य भुवनस्य राजा ॥ २ ॥

पदपाठ

सम्। प्र। ईरते। अनु। वातस्य। विऽस्थाः। आ। एनम्। गच्छन्ति। समनम्। न। योषाः। ताभिः। सऽयुक्। सऽरथम्। देवः। ईयते। अस्य। विश्वस्य। भुवनस्य। राजा ॥ २ ॥

सायण—विष्ठाः विशेषेणावस्थिताः पर्वताद्याः वातस्य वायोरनुगुण स प्रेरते सम्प्रगच्छन्ति। यदभिमुखो वायुर्वर्तते तदभिमुखा प्रकम्पन्त इत्यर्थः। समन न सग्राममिव एन वायु योषा अश्वयोषितो वडवाः आ गच्छन्ति। ताभिः वडवाभि स्वयुक् स्वयमेव युज्यमानं सरथ समानमेकं रथमारुह्य देवः दीप्यमान वायुः ईयते गच्छति। 'ईङ् गतौ'। अस्य विश्वस्य सर्वस्य भुवनस्य द्वितीय विकारभाजो भूतजातस्य राजा स्वामी भवति। यद्वा। समनं धृष्ट पुरुषं योषाः कामिन्य इव एवं वायुं तरुगुल्मादिरूपा स्त्रियोऽभिगच्छन्ति। ताभिः सरथं सहरथं देव ईयते इति ॥

अनुवाद

वायु देवता का समूह उसके (वायु के) पीछे ऐसे अनुसरण करता है जैसे कि किसी उत्सव मे नारियाँ गमन करती है। इस समस्त सृष्टि का स्वामी वायु देवता उनके साथ-साथ एक ही रथ पर गमन करता है।

टिप्पणी

समनं न योषा :—सा० ने इसका अर्थ 'सग्राम मे जाती हुयी घोडियो के समान' किया है। किन्तु यहाँ 'योषा' शब्द 'नारियो' के लिये आया है और 'समने' शब्द से 'उत्सव' या 'यज्ञ' अभिप्रेत है, जैसा कि 'होतेव याति समनेषु

रेभन्' (यज्ञो मे 'होता' के समान शब्द करता हुआ जाता है) से स्पष्ट है (ऋ० ९,९७,४७) 'समन' का अर्थ है 'कोई उत्सव-सभा' जिसमें नारियाँ अपने को सजा कर जाती है, जैसा कि ऋ० १,१२४,८ में 'अङ्क्ते समनगाइव व्रा.' 'उत्सव में जाती हुयी' नारियो के समूह के समान अञ्जित करती है) से स्पष्ट होगा।

संप्रेरते—सम्प्र + ईर् (जाना) + लट्, प्र०पु०, ब०व०, आत्मनेपद रूप है।

विष्ठाः—'वि' + स्था (स्थित होना) से निष्पन्न इस रूप का अर्थ संदिग्ध है। सा० ने 'पर्वतादि' (जो विशेष रूप से स्थिर है) अर्थ किया है। यह शब्द ऋ० मे केवल यही पर आया है। इसकी तुलना 'विष्ठित' (ऋ० २, ३८, ६), विष्ठितम् (६, ४७, २९, १०, २५, ६, ११४, ८) से कर सकते है। एक स्थान पर ओषधियो के लिये 'विष्ठिता' कहा गया है (ऋ० १०, ९७, १९), जिससे यहाँ पर 'विष्ठा' का अर्थ 'वृक्ष गुल्मादि' किया जा सकता है।

यह मन्त्र त्रिष्टुभ् छन्द में है (प्रत्येक पाद मे ग्यारह अक्षर है), किन्तु इसका तृतीय पाद यहाँ 'जगती' (बारह अक्षर) मे है।

अन्तरिक्षे पथिभिरीयमानो न नि विशते कतमच्चनाहः।
अपां सखा प्रथमजा ऋतावा क्व स्विज्जातः कुत आ बभूव ॥ ३ ॥

पदपाठ

अन्तरिक्षे। पथिऽभिः। ईयमानः। न। नि। विशते। कतमत्। चन। अहरिति। अपाम्। सखा। प्रथमऽजाः। ऋतऽवा। क्व। स्वित्। जातः। कुतः। आ। बभूव ॥ ३ ॥

सायण—अन्तरिक्षे नभसि विद्यमानैः पथिभिः मार्गैः ईयमान. गच्छन् वायु. कतमच्चनाह एकमपि दिनं न निविशते नोपविशति। किन्तु सर्वदैव गच्छति। 'नेर्विश.' (पा० सू० १,३,१७) इत्यात्मनेपदम्। अपि च अपाम् उदकानां सखा। 'वायुर्वै वृष्टया ईशे' (तै० सं० २,४,९,१) इति श्रुतेः। प्रथमजा सर्वेभ्य प्राणिभ्य पूर्वोत्पन्न एव ऋतावा सत्यवान् यज्ञवान् वा एवंभूतो वायुः क्वस्वित् कुत्र खलु देशे जात. उत्पन्न कुतः कस्माच्च देशान्निष्क्रम्य आ बभूव इदं सर्वं जगद् व्याप्नोत्। सर्वदा सर्वत्र वर्तमानत्वादस्योत्पत्तिर्व्याप्तिप्रकारश्च न केनापि ज्ञातु शक्यत इत्यर्थः ॥

अनुवाद

अन्तरिक्ष मे अपने मार्ग पर (सदैव) चलते हुए वह (वायु) कभी भी बैठता नही है। जल का मित्र, प्रथमोत्पन्न सत्यगामी वायु कहाँ से उत्पन्न हुआ और कहाँ से आया (कोई नही जानता)।

टिप्पणी

ईर्यमान. —'ईड् गतौ' (जाना) धा० का 'शानच्' प्रत्ययान्त रूप है। 'ई' के साथ 'शप्' ('कर्तरि शप्'—३, १, ६८) और फिर उसका लोप (पा० सू० २, ४, ७२), नुम् का आगम, 'श्यन्' प्रत्यय (शपश्यनोर्नित्यम्—पा० ७, १, ८१) और फिर 'शानच्' होने से ईयमान' बनेगा। इसमें 'श्यन्' प्रत्यय के कारण 'नित्व' ('न्' का लोप) होने से 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' (पा० सू० ६, १, १९७) से आद्युदात्त स्वर का विधान है।

क्वं—इसका पाठ 'कुअ' के रूप मे होता है। इसमें सदैव स्वतन्त्र स्वरित रहता है।

कुत आ बभूव—इसकी तुलना ऋ० १०, १२९, ६ के 'अथा को वेद यत आ बभूव' (कौन जानता है कि वह कहाँ से उत्पन्न हुआ) से कर सकते है।

आत्मा दे॒वानां॒ भुव॑नस्य॒ गर्भो॑ यथाव॒शं च॑रति दे॒व ए॒षः।
घोषा॒ इद॑स्य शृण्विरे॒ न रू॒पं तस्मै॒ वाता॑य ह॒विषा॑ विधेम॥ ४॥

पदपाठ

आत्मा। दे॒वाना॑म्। भुव॑नस्य। गर्भः॑। य॒था॒ऽव॒शम्। च॒र॒ति॒। दे॒वः। ए॒षः। घोषाः॑। इत्। अ॒स्य॒। शृ॒ण्वि॒रे॒। न। रू॒पम्। तस्मै॑। वाता॑य। ह॒विषा॑। वि॒धे॒म॥ ४॥

सायण—अय वायु देवानाम् इन्द्रादीनामपि आत्मा जीवरूपेण तेष्ववस्थानात् भुवनस्य अपि भूतजातस्य गर्भः गर्भवत् प्राणरूपेणान्तर्वर्तमानः एषः ईदृश देवः यथावश यथाकामं यथेच्छं चरति वर्तते। अनिवारितगतिः सन् क्वचिच्छीघ्रं गच्छति क्वचिच्छनैर्गच्छति कुतश्चिच्छरीरान्निष्क्रामति अन्यच्च शरीरं प्रविशतीत्येव यथेच्छं वर्तत इत्यर्थः। अस्य वायोरागच्छतः घोषा इत् शब्दा एव शृण्विरे श्रूयन्ते। रूप स्वरूपं तु न दृश्यते नीरूपत्वात्। अदृग्विषयत्वेन शब्देनैवानुमीयत इत्यर्थः। तस्मै वाताय वायवे हविषा चरुपुरोडाशादिलक्षणेन विधेम परिचरेम॥

अनुवाद

समस्त देवताओ का आत्मस्वरूप और समस्त लोको का गर्भस्वरूप यह देवता* (वात) अपनी इच्छानुसार संचरण करता है। इसका घोष सुनाई देता है किन्तु इसका रूप नही (दिखलायी देता)। ऐसे उस वायु देवता के लिए हम हवि के द्वारा परिचरण करें।

टिप्पणी

आत्मा—ऋ० १०, ९०, १३, मे वायु को 'पुरुष' (परमात्मा) के प्राण से उत्पन्न होते कहा गया है (प्राणाद्वायुरजायत)। अत वही सभी के प्राणरूप मे विद्यमान है। ऋ० १०, १६, ३ मे 'आत्मा' और वायु का तादात्म्य है—'सूर्यं चक्षुर्गच्छतु वातमात्मा'।

शृण्विरे—'श्रु' (सुनाई पडना) धा० का प्र० पु०, ब० व० का लट् का आत्मनेपद रूप है।

संज्ञान १०, १९१

देवता अग्नि (१), संज्ञान (२-४); ऋषि संवनन; छन्द त्रिष्टुप् (१); अनुष्टुभ्।

संसमिद्युवसे वृषन्नग्ने विश्वान्यर्य आ।
इळस्पदे समिध्यसे स नो वसून्या भर॥ १॥

पदपाठ

सम्ऽसम्। इत्। युवसे। वृषन्। अग्ने। विश्वानि। अर्यः। आ।
इळः। पदे। सम्। इध्यसे। सः। नः। वसूनि। आ। भर॥ १॥

सायण—हे वृषन् कामानां वर्षितः अग्ने अर्य. ईश्वरस्त्वम्। 'अर्यः स्वामिवैश्ययो.' (पा० सू० ३,१,१०३) इति यत्प्रत्ययान्तो निपातित.। 'अर्यः स्वाम्याख्यायाम्' (फिट् सू० १,१८) इत्यन्तोदात्तत्वम्। स त्वम् विश्वानि सर्वाणि भूतजातानि ससम्। 'प्रसमुपोद: पादपूरणे' (पा० सू० ८,१,६) इति समो द्विर्वचनम्। इच्छब्दोऽवधारणे। आ समन्तात् संयुवसे मिश्रयसि। देवेषु मध्ये त्वमेव सर्वाणि भूतजातानि वैश्वानरात्मना व्याप्नोषि। नान्य इत्यर्थः। किंच इळः इडायाः पृथिव्याः पदे स्थाने उत्तरवेदिलक्षणे। 'एतद्वा इळायास्पदं यदुत्तरवेदीनाभिः' (ऐ० ब्रा० १,२८) इति ब्राह्मणम्। तत्र त्वं समिध्यसे

ऋत्विग्भिः सन्दीप्यसे। सः तादृशस्त्वम् नः अस्माकं वसूनि धनानि आ भर आहर ॥

अनुवाद

हे शक्तिशाली अग्नि! (सबके) स्वामी रूप तुम समस्त प्राणियों को सम्यक् प्रकार से संगठित करते हो। पृथिवी के स्थान (वेदि) में जो तुम प्रज्वलित हो रहे हो वह (तुम) हमारे लिये चारों ओर से धन का आहरण करो (हमें धन प्रदान करो)।

टिप्पणी

(आ) युवसे—'यु मिश्रणामिश्रणयोः' (मिश्रित करना या पृथक् करना) धा० का लट्, म० पु० ए० व० का रूप है। यहाँ 'मिश्रित' करने का तात्पर्य 'संगठित करने' या 'एक साथ समन्वित' करने से है, क्योंकि प्रस्तुत सूक्त का मुख्य विषय 'संगठन', 'सहभाव' 'समिति', समान मनस्कता', 'सहगमन' आदि ही है।

सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।

देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते ॥ २ ॥

पदपाठ

सम्। गच्छध्वम्। सम्। वदध्वम्। सम्। वः। मनांसि। जानताम्। देवाः। भागम्। यथा। पूर्वे। सम्ऽजानानाः। उपऽआसते ॥ २ ॥

सायण—हे स्तोतारः यूयं सं गच्छध्वम्। संगताः संभूताः भवत ॥ 'समो गम्यृच्छि०' इत्यादिना गमेरात्मनेपदम् ॥ तथा सं वदध्वम् सह वदत। परस्परं विरोधं परित्यज्यैकविधमेव वाक्यं ब्रूतेति यावत्। 'व्यक्तवाचां समुच्चारणे' (पा० सू० १,३,४८) इति वदेरात्मनेपदम्। वः युष्माकं मनांसि सं जानताम्। समानमेकमरूपमेवार्थमवगच्छन्तु ॥ 'सम्प्रतिभ्यामनाध्याने' (पा० सू० १,३, ४६) इति जानातेरात्मनेपदम् ॥ यथा पूर्वे पुरातनाः देवाः संजानानाः ऐकमत्यं प्राप्ता हविर्भागं उपासते यथास्वं स्वीकुर्वन्ति तथा यूयमपि वैमत्यं परित्यज्य धनं स्वीकुरुतेति शेषः ॥

अनुवाद

तुम लोग एक साथ संगमन करो, एक साथ बोलो और तुम्हारा मन एक साथ ज्ञान प्राप्त करे (एक मन वाले बनो), जैसे कि पूर्वकाल में देवताओं

ने ऐकमत्य से अपना-अपना भाग स्वीकार किया वैसे ही तुम लोग एकमन होकर अपना-अपना भाग स्वीकार करो।

टिप्पणी

संजानानाः —'सम्' उपसर्ग पूर्वक 'ज्ञा' (जानना) धातु से निष्पन्न यह पद ऋ० मे एक बार अन्यत्र (१, ७२, ५) भी आया है।

समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम्।
समानं मन्त्रमभि मन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि ॥ ३ ॥

पदपाठ

समानः। मन्त्रः। समऽइतिः। समानी। समानम्। मनः। सह। चित्तम्। एषाम्। समानम्। मन्त्रम्। अभि। मन्त्रये। वः। समानेन। वः। हविषा। जुहोमि॥ ३ ॥

सायण—पूर्वोऽर्धर्चः परोक्षकृतः उत्तरः प्रत्यक्षकृतः। एषाम् एकस्मिन् कर्मणि सह प्रवृत्तानामृत्विजां स्तोतॄणां वा मन्त्रः स्तुति शस्त्राद्यात्मका गुप्तभाषणं वा समान एकविधोऽस्तु। तथा समितिः प्राप्तिरपि समानी एकरूपास्तु ॥ 'केवलमामक०' इत्यादिना समानशब्दान् ङीप्। उदात्तनिवृत्तिस्वरेण ङीप् उदात्तत्वम्। तथा मनः मननसाधनमन्तःकरणं चैषां समानम् एकविधमप्यस्तु। चित्तं विचारजं ज्ञानं तथा सह सहितं परस्परस्यैकार्थैनैकीभूतमस्तु। अह च वः युष्माक समानं एकविध मन्त्रं अभि मन्त्रये। ऐकविध्याय संस्करोमि। तथा वः युष्माकं स्वभूतेन समानेन साधारणेन हविषा चरुपुरोडाशादिना अहं जुहोमि ॥ 'तृतीया च होश्छन्दसि' (पा० सू० २,३,३) इति कर्मणि कारके तृतीया ॥ वषट्कारेण हविः प्रक्षेपयामीत्यर्थं ॥

अनुवाद

इनका (ऋत्विको का) मंत्र समान हो, समिति (सभा) समान (मन वाली) हो, मन समान हो और (इनका) चित्त (विचार) समान हो। तुम्हारे समक्ष मै समान मंत्र की अभिमन्त्रणा करता हूँ और एक समान हवि के द्वारा हवन करता हूँ।

टिप्पणी

समिति —सा० ने इसका अर्थ 'प्राप्ति' (उपलब्धि) किया है, किन्तु निष्पत्ति और प्रयोग की दृष्टि से इसका अर्थ संगमन, सभा, समिति आदि ही

उचित प्रतीत होता है। गेल्डनर ने इसके दो अर्थ—'समिति' (Versammlung—'Congregation) और 'सलाह' (Beratung) किये है (द्रष्टव्य—डेर ऋ०. तृ० भाग, पृ० ४०४)।

इसकी निष्पत्ति सम् + इ (जाना) + क्तिन् से कर सकते हैं।

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ॥ ४ ॥

पदपाठ

समानी। वः। आऽकूतिः। समाना। हृदयानि। वः। समानम्। अस्तु। वः। मनः। यथा। वः। सुऽसह। असति ॥ ४ ॥

सायण—हे ऋत्विग्यजमानाः वः युष्माकम् आकूतिः सकल्पोऽध्यसायः समानी एकविधोऽस्तु। तथा वः युष्माक हृदयानि समाना समानान्येकविधानि सन्तु। तथा वः युष्माकं मनः अन्तःकरणम्। प्रत्येकापेक्षयैकवचनम्। तदपि समानमस्तु। यथा वः युष्माक सुसह शोभन साहित्यम् असति भवति तथा समानमस्त्वित्यन्वयः ॥ अस्तेर्लेटि 'बहुल छन्दसि' इति शपो लुगभावः ॥

अनुवाद

तुम्हारे सकल्प समान हो और तुम्हारे हृदय भी (भावनाये भी) समान हो। तुम्हारा मन (वैसे ही) समान हो जैसा कि तुम्हारा सुन्दर सहभाव होता है।

टिप्पणी

आकूतिः—इस शब्द की निष्पत्ति 'आङ्' उपसर्ग पूर्वक 'कू' धा० (कुवने—इरादा करना, इच्छा करना, उद्देश्य होना) से क्तिन्' प्रत्यय (पा० सू० ३,३,९४) करके होगी। इसमें 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' (पा० सू० ६,१,१९७) से आद्युदात्त स्वर होगा। अथर्व ६,१०३,२ मे इसका मानवीयकरण किया गया है। ऋ० १०,१५१,४ मे इसे 'हृदय' से सम्बन्धित मानकर श्रद्धा के साथ समन्वित किया गया है। 'हृदय्यया आकूत्या' से स्पष्ट होता है कि 'आकूति' का सम्बन्ध 'भावना' या 'अनुभूति' से है। ऋ० १०,१२८,४ में इसे 'मन' से सम्बन्धित किया गया है (आकूतिः सत्या मनसो मे अस्तु—मेरे मन की आकूति (कल्पना, सकल्प) सत्य होवे) जिससे इसका 'सकल्प' अर्थ उचित जान पड़ता है।

सुसह—यह शब्द ऋ० में केवल यही पर आया है। यहाँ इससे 'सहभाव' ही स्पष्ट होता है जिसे सा० ने 'साहित्य' अर्थ मे ग्रहण किया है। गेल्ड० द्वारा किया गया इसका अर्थ—'Schoenes Zusamuenhalten' (सुसयोग, सुसमानता, एकता, सुन्दर सम्बन्ध आदि) अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। (द्रष्टव्य—डेर ऋग्वेद ३,४०४)।

असति—यह अस् (होना) धा० का लट्, प्र० पु० ए० व० का वैदिक रूप है।

तन्मे मनः शिवसकल्पमस्तु

(शुक्लयजुर्वेद अध्याय ३४)

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति।
दूरंगमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥ १ ॥

'जो प्रकाशवान् मन जाग्रत पुरुष से दूर गमन करता है तथा सोते हुये के समीप उसी प्रकार आगमन करता है, और जो दूरगामी मन सभी ज्योतियो (इन्द्रियो) का एकमात्र प्रकाशक है, मेरा वह मन कल्याणकारी सकल्प वाला हो, अर्थात् सदैव धर्म का चिन्तन करे, पाप का नही।'

येन कर्माण्यपसो मनीषिणो यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीराः।
यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानां तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥ २ ॥

'कर्मशील धीर मनीषीगण यज्ञ एवं यज्ञसम्बन्धी स्थानो मे जिस मन के द्वारा कर्म करते है तथा जो अपूर्व एव पूज्य मन प्राणियो के अन्तः भाग मे निहित है, मेरा वह मन कल्याणकारी सकल्प वाला हो।'

यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु।
यस्मान्न ऋते किंचन कर्म क्रियते तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥ ३ ॥

'जो (मन) प्रज्ञान, चेतस् और धृति है एव प्राणियो मे जो अमृत ज्योति है, जिसके बिना कोई कर्म नही किया जाता, मेरा वह मन कल्याणकारी सकल्प वाला हो।'

येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत्परिगृहीतममृतेन सर्वम्।
येन यज्ञस्तायते सप्तहोता तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥ ४ ॥

'जिस शाश्वत मन के द्वारा यह समस्त भूत, वर्तमान और भविष्यत् सम्यक् प्रकार से जाना जाता है, सप्त होतृगणो (होता, अध्वर्यु, मैत्रावरुण, अच्छावाक्,

ग्रावस्तुत इत्यादि) से युक्त अग्निष्टोम यज्ञ जिसके द्वारा अभिप्रणीत किया जाता है, मेरा वह मन कल्याणकारी सकल्प वाला हो।'

यस्मि॒न्नृच॒: साम॒ यजूं॑षि॒ यस्मि॒न्प्रति॑ष्ठिता रथना॒भावि॑वा॒राः ।
यस्मिं॑श्चि॒त्तं सर्व॒मोतं॑ प्र॒जानां॒ तन्मे॒ मनः॑ शि॒वसं॑कल्पमस्तु ॥ ५ ॥

'जिसके अन्तर्गत रथ की नाभि मे आरो के समान ऋक्, यजुष् और साम प्रतिष्ठित है, तथा प्राणियो का चित्त जिसमे ओत-प्रोत है, मेरा वह मन कल्याण-कारी संकल्प वाला हो'।

सु॒षा॒र॒थिरश्वा॑निव॒ यन्म॑नु॒ष्या॒न्नेनी॒यते॒ऽभीशु॑भिर्वा॒जिन॑ इव ।
हृ॒त्प्रति॑ष्ठं॒ यद॑जि॒रं जवि॑ष्ठं॒ तन्मे॒ मनः॑ शि॒वसं॑कल्पमस्तु ॥ ६ ॥

'जिस प्रकार कुशल सारथी रश्मियों के द्वारा वेगवान् अश्वो का नयन करता है वैसे ही मन मनुष्यो का नियत्रण करता है। जो जरा रहित और अत्यन्त वेगवान् मन हृदय मे प्रतिष्ठित है, मेरा वह मन कल्याणकारी संकल्प वाला हो'।

ॐ शान्ति. शान्ति. शान्तिः



सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

(क) मूलग्रन्थ

१. ऋग्वेद संहिता—(चार भाग, सायण भाष्य सहित), वैदिक सशोधन मंडल, पूना, १९३३–४१ ।

२ ऋग्वेद संहिता--पंचम भाग (पदसूची), वै० सं० मं०, पूना ।

३ ऋग्वेद संहिता ४ भाग—वेंकट माधव की ऋगर्थ दीपिका सहित—डॉ० लक्ष्मण सरूप द्वारा सम्पादित, लाहौर, १९३९–५५ ।

४. ऋग्वेद संहिता—७ भाग, विश्वबन्धु द्वारा सम्पादित, वि० वै० शो० संस्थान, होशियारपुर, १९६३–६४ ।

५. ऋग्वेद भाष्य—(उद्गीथाचार्य-भाष्य सहित), लाहौर १९३५ ।

६. ऋग्वेद भाष्य —(स्कन्दस्वामिन्-भाष्य) मद्रास, १९३५ ।

७ ऋग्वेद व्याख्या—(माधव कृत), मद्रास, १९३९ ।

८ शुक्ल यजुर्वेद—उवट महीधर भाष्य सहित ।

९ कृष्ण यजुर्वेद—(तैत्तिरोय संहिता), स्वाध्याय मण्डल, पारडी, १९५७ ।

१० मैत्रायणीय संहिता—स्वाध्याय मण्डल, पारडी, १९४२ ।

११ सामवेद—दिल्ली, १९६३ ।

१२ अथर्ववेद—गवर्नमेंट सेंट्रल बुक डिपो, बम्बई, १८९५–९८ ।

१३ ऐतरेय ब्राह्मण—आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली, १९३० ।

१४ शतपथ ब्राह्मण—श्रीकृष्णदास, कल्याण, बम्बई, १९३९–४० ।

१५ तैत्तिरीय ब्राह्मण—महादेव शास्त्री द्वारा संपादित, मैसूर, १९०८ ।

१६ ताण्ड्य महाब्राह्मण—कलकत्ता, १८७० ।

१७ षड्विश ब्राह्मण – जीवानन्द विद्यासागर, कलकत्ता, १८८१ ।

१८ गोपथ ब्राह्मण—लाइडेन, १९१९ ।

१९ ऋग्वेद प्रातिशाख्य—(२ भाग), डॉ० मंगलदेव शास्त्री, इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद, १९३१ ।

२०. निरुक्तम्—(दुर्गाचार्य-भाष्य सहित), श्री वेंकटेश्वर मुद्रणालय, बम्बई, १९६९ ।

(ख) अंग्रेजी, जर्मन, फ्रेंच अनुवाद

21. **Rigveda**—(English Translation with notes) 7 Vols. H. H Wilson, Bangalore, 1925-28,
22. **Vedic Hymns**—Part I, Sacred Books of the East, Vol 32, Max Mueller, Motilal Banarsidass, Delhi, 1964.
23. **Vedic Hymns**—Part II, SBE, Vol 46, Herman Oldenberg, Delhi, 1964
24 **The Hymns of the Rigveda**—2 Vols. R. T H. Griffith, Second Edition, Benaras, 1896.
55. **Vedic Reader**—A. A. Macdonell, Oxford, 1917
26. **Rigveda Mandala VII**—H D. Velankar, Bombay, 1963
27. **Soma Hymns, 3 Parts**—S S Bhave, Baroda, 1957-62
28. **Der Rigveda**—K F Geldner, Harvard Oriental Series, Vols 33-35, Leipzig, 1951
29. **Der Rigveda**—Kommentar und Uebersetzung, Vols 1-3, A Ludwig, Prag, 1876
30 **Rigveda Text Kritische und Exegetische Noten**—H Oldenberg, Berlin, 1909.
31. **Vedische Studien**—2 Parts, Pischel R. und Geldner, Stuttgart, 1888
32. **Etude Vedique et Panininen**—L Renou, Paris.

(ग) सहायक ग्रन्थ

33 **The Rigveda**—Kaegi (Arrowsmith's Eng Trans) Boston, 1902
34. **The Etymologies of Yask**—Siddheshwar Varma, Hoshiarpur, 1953
35 **Nighantu and Nirukta**—L. Sarup, Delhi, 1962
36 **Noun Inflection in the Veda**—C. R. Lanman, New Haven, 1880.
37. **Vedic Studies**—A Venkatasubbiah, Mysore, 1932
38 **Avesta Grammar**—A M. Williams Jackson, Stuttgart, 1892.
39. **Avesta-Haoma Yasta**—Hoshangji Dastur, Bombay, 1970.